नीति-शास्त्र

लालजीराम शुक्ल

नीति-शास्त्र

लेखक—

लालजीराम शुक्ल एम. ए. बी. टी.

अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज,

काशी विश्वविद्यालय

(सरल मनोविज्ञान, बाल शिक्षण, बाल मनोविकास, शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षाविज्ञान, मानसिक चिकित्सा और मानसिक आरोग्य के प्रणेता)

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स

चौक, बनारस

द्वितीय संस्करण] १९५६ [मूल्य ५)

G. No
1053

मुद्रक—
श्रीभोला यंत्रालय
८।१७७, खजुरी, बनारस कैण्ट

१७०
हि ऽ ४ ६ ६

वक्तव्य

नीति-शास्त्र दर्शन का एक प्रमुख अंग है। हरएक सभ्य देश में इसका अध्ययन होता रहा है। मनुष्य चाहे जैसी अवस्था में रहे, चाहे जिस देश में रहे, उसे कर्तव्याकर्तव्य का विचार आता ही है। यह विचार मनुष्य की चिन्तन की योग्यता का स्वाभाविक परिणाम है। मनुष्य के विचार का विकास भी कर्तव्याकर्तव्य के ऊपर विचार करने से सबसे अधिक होता है। अतएव नीति-शास्त्र का अध्ययन हमारे विचार के विकास का साधन भी है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पाश्चात्य नीति-शास्त्र की विचार शैली पर प्रकाश डालना है। भारतवर्ष में नीति-शास्त्र के विषयों पर पर्याप्त विचार किया गया है। इसे पुराने समय में आचार-दर्शन कहते थे। पर हमारा नीति-शास्त्र-संबंधी विचार हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग है, अतएव यहाँ का यह विचार अपने ढंग का है। इसी प्रकार पाश्चात्य नीति-शास्त्र की विचार-परिपाटी में कुछ निरालापन है। इसे जानने के लिये हमें पाश्चात्य विद्वानों के मतों को उन्हीं के ढंग से जानना होगा। लेखक ने इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों को भारतीय जनता के समक्ष इस प्रकार रखने की चेष्टा की है कि वे सरलता से बुद्धिगम्य हो जावें। अतएव सिद्धान्तों को समझाने के लिये उपयुक्त उदाहरण दिये गये हैं और कहीं-कहीं पर पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना भारतीय विचारों से कर दी गई है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पश्चात्य विद्वानों के विचारों का संग्रह करना मात्र नहीं है। लेखक का पुस्तक लिखने का उद्देश्य अपने आप स्वतंत्र चिन्तन करके कुछ कर्तव्य-सम्बन्धी मौलिक निष्कर्षों पर आना है। हम अपने आप यदि किसी विषय को भली प्रकार ठीक से समझना चाहते हैं तो इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम उसे किसी कक्षा को पढ़ाने लगें अथवा उस विषय पर कोई पुस्तक लिखें। लेखक ने अपने कर्तव्य-सम्बन्धी विचारों को

सुलझाने और स्पष्ट बनाने के लिये उक्त दोनों प्रकार के साधनों का उपयोग किया है। उसने काशी विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को दस वर्ष के लगभग नीति-शास्त्र का विषय पढ़ाया। पर नीति-शास्त्र के जटिल प्रश्न वैसे ही उसके मन में आते रहे जैसे कि वे उसके विद्यार्थीकाल में आते थे। इन प्रश्नों के हल करने की चेष्टा लेखक ने अब इस पुस्तक के रूप में की है।

लेखक मानव कर्तव्य के विषय में जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है वह इस पुस्तक में कई स्थलों पर प्रकट हो जाता है। मनुष्य को अपने कर्तव्य के निश्चय करने में दो प्रकार के अतिक्रमों को छोड़कर बीच का मार्ग ग्रहण करना चाहिये—ये अतिक्रम विषयलोलुपता के और घोर तप के हैं। इन दोनों प्रकार के अतिक्रमों से दुःखों की सृष्टि होती और मनुष्य को स्थायी शान्ति नहीं मिलती। दोनों प्रकार के अतिक्रम मनुष्य की वहिर्मुखी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो वह आध्यात्मिक शान्ति जिस प्रकार से सुलभ हो वही काम करता है। नैतिक जीवन का अन्तिम ध्येय मनुष्य को आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करना है और यह तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य अपनी बहिर्मुखता को बिलकुल त्याग कर अपने जीवन का ध्येय आन्तिरिक शान्ति प्राप्त करना बना लेता है।

उक्त विचार को लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसी दृष्टिकोण से नीति-शास्त्र-सम्बन्धी अन्य मत-मतान्तरों की आलोचना की गई है। लेखक ने सुखवाद की आलोचना उसी प्रकार की है जिस प्रकार आदर्शवादी नीतिशास्त्र के विद्वान करते हैं, पर यदि आदर्शवाद हमें तप के अतिक्रम की ओर ले जाय तो वह भी आध्यात्मिक शान्ति प्रदान नहीं करता। अतएव लेखक आदर्शवाद का वहीं तक समर्थन करता है जहाँ तक आदर्शवाद हमें सुखवाद के दलदल से निकालता है। यदि आदर्शवाद व्यवहारिक बनता है तो वह स्वभावतः समत्ववाद का रूप ले लेता है।

अभीतक हिन्दी भाषा में नीति-शास्त्र पर हमारे विश्वविद्यालयों की बी० ए० की परीक्षा के विद्यार्थियों के अध्ययन योग्य ग्रन्थ का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। अतएव इस ग्रन्थ में उन सभी

मत-मतान्तरों का उल्लेख किया गया है जिन्हें डिगरी परीक्षा के विद्यार्थियों को जानना आवश्यक है।

सइ पुस्तक को लिखते समय मैकेन्जी की "मेनुअल आफ एथिक्स", म्योरहेड की "दी एलीमेन्ट्स आफ एथिक्स", ग्रीन की "प्रोलेगेमोना टू एथिक्स", व्हीलराइट की "ए क्रिटकल इन्ट्रोडक्सन टू एथिक्स" से विशेष प्रकार से सहायता ली गई है। हम इन महानुभावों के आभारी हैं। इस पुस्तक को अंग्रेजी में लिखने का विचार मेरे गुरु डा० शिशिरकुमार मित्रा, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग, काशी विश्वविद्यालय से मिला। मैंने अंग्रेजी में कुछ सामग्री भी जोड़ी थी पर इस कार्य में मुझे विशेष उत्साह नहीं आया। श्री बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन से मुझे हिन्दी में ही दार्शनिक ग्रन्थ लिखने का प्रोत्साहन मिला, अतएव मैंने मातृभाषा में अपने विचारों को अपने देश के समक्ष रखने की चेष्टा की है। मैं इन सभी महानुभावों का अपने अपने सुझाव के लिये आभारी हूँ।

मुझे आशा है कि जिस प्रकार मेरे मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों को देश के दर्शन-प्रेमी विद्वानों ने अपनाया है, उसी प्रकार वे इस ग्रन्थ को भी अपनावेंगे।

टीचर्सट्रेनिंग कालेज
काशी विश्वविद्यालय
माघ शुक्ल वसंत पंचमी सं० २००५
३ फरवरी १९४९

लालजीराम शुक्ल

द्वितीय संस्करण की भूमिका

जब से इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ, तब से हमारे देश में अनेक राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए और इसके कारण जन-साधारण के नैतिक विचारों में भी पर्याप्त उथल-पुथल हुई है। एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्त नैतिकता के नए मूल्यों को हमारे सामने रखता है और दूसरी ओर गाँधीवाद ने भी भारतीय जनता के नैतिक विचारों में पर्याप्त चिंतन की सामग्री उपस्थित कर दी है। इनके अतिरिक्त हमारे देश में पश्चिमी मनोविज्ञान का भी प्रदेश हो रहा है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के विद्वान् नैतिक मूल्यों के प्रति उदासीन हो गए। मनोविज्ञान का सामान्य परिणाम नैतिकता में श्रद्धा की कमी होना होता है।

इन सब परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए इस संस्करण में हम आवश्यक परिवर्त्तन किए हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों की न तो अवहेलना की जा सकती है और न नैतिकता के प्रति हम उदासीन ही हो सकते। इस संस्करण में हमने यह बताने की चेष्टा की है कि मनोविज्ञान केवल नैतिकता के ढोंग की व्यर्थता को ही सिद्ध करता है। सच्ची नैतिकता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतनी ही आवश्यक है, जितनी वह समाज-कल्याण अथवा तत्त्वदर्शन की दृष्टि से।

—लेखक

विषय-सूची

पहला प्रकरण

पृष्ठ

विषय प्रवेश १

नीतिशास्त्र का विषय—नीतिशास्त्र की विधि

दूसरा प्रकरण

नीतिशास्त्र और अन्य विद्याएँ १६

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान—नीतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र—नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र—नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र—नीतिशास्त्र और तत्वविज्ञान—नीतिशास्त्र और धर्म—नीतिशास्त्र और राजनीति का सम्बन्ध—नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र—नीतिशास्त्र और अर्थ-शास्त्र—नीतिशास्त्र और शिक्षा

तीसरा प्रकरण

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या ४६

मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता—मनुष्य की क्रियाओं का विश्लेषण—इच्छित क्रिया—नियतिवाद और स्वतन्त्रतावाद—स्वतंत्र इच्छाशक्ति और चरित्र—इच्छा, हेतु और संकल्प—आचरण में वातावरण और चरित्र का महत्व

चौथा प्रकरण

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु ७३

दो विरोधी विचार—मनोवैज्ञानिक सुखवाद—विवेकवाद का सिद्धान्त—मार्टीनो महाशय का सिद्धान्त

पाँचवाँ प्रकरण

पृष्ठ

नैतिक उत्तरदायित्व ८६

नैतिक उत्तरदायित्व का आधार—ईश्वरवादी विचार की कठिनाई—समाजवादी विचार की व ाई

छठ प्रक

नैतिक आचरण और विचार का वि ९१

आचरण की विभिन्न अवस्थाए—रीति-पथ प्रदर्शन—नियम पथ प्रदर्शन—विचारपथ प्रदर्शन—आचरण और विचार—नैतिक विचार और नैतिकता के विचार—नैतिक विचार की विधि का विकास

सातवाँ प्रकरण

नैतिक विचार का विषय ९८

विचार का विषय इच्छित कार्य—हेतु और संकल्प (ईप्सा) का स्थान—अन्तः अनुभूतिवादियों का सिद्धान्त—सुखवादियों का सिद्धान्त—आदर्शवादी सिद्धान्त—कानूनी और नैतिक दृष्टिकोण में भेद—साधन की पवित्रता का स्थान

आठवाँ प्रकरण

नैतिकता के मापदण्ड १०८

मनुष्य का नैतिक स्वत्व—नैतिकता के मापदण्डों का वर्गीकरण—वाह्यनियमवाद—आन्तरिक नियमवाद—अन्तः अनुभूतिव ाद की कठिनाइयाँ—लक्ष्यवाद

नवाँ प्रकरण

अन्तः अनुभूतिवाद १२३

अन्तःअनुभूतिवाद की आवश्यकता—अन्तः अनुभूति क्या है—अन्तर्ध्वनि का स्वरूप—अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार—नैतिक प्रज्ञावाद—

पृष्ठ

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के मुख्य तत्त्व—वालस्टेन का मत—वालस्टेन के मत की आलोचना—न्यूमेन का मत—उक्त मत की आलोचना—मार्टीनो महाशय का अन्तःअनुभूतिवाद—मार्टीनों महाशय के सिद्धान्तों की समालोचना—

दसवाँ प्रकरण

विवेकवाद १४२

विवेकवाद की विशेषता—विवेकवाद के लक्षण—विवेक के सिद्धान्त के प्रकार—सिनिसिजम—डयजोनीज का सिद्धान्त—स्टोइसिज्म (स्टोइकवाद)—कान्ट का आध्यात्मवाद—कान्ट के दार्शनिक विचार की विशेषता

ग्यारहवाँ प्रकरण

इमेनुअलकान्ट का अध्यात्मवाद १५१

कान्ट के दार्शनिक विचार को विशेषता—नैतिकता का आधार—नैतिक विचार में हेतु की प्रधानता—कान्ट के नैतिकता का ध्येय—कान्ट का नैतिक नियम—कान्ट महाशय के नैतिक नियम की समालोचना—कान्ट के विचारों की मौलिकता

बारहवाँ प्रकरण

सुखवाद १७४

सुखवाद क्या है—स्वार्थ सुखवाद—परार्थ सुखवाद—परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार—सुखवाद की आलोचना—अतःअनुभूतिवादी सुखवाद—व्यावहारिक विवेक का कार्य—सिजविक के सिद्धान्त की आलोचना

तेरहवाँ प्रकरण

प्रकृतिवाद १९५

प्रकृतिवाद का सिद्धान्त—प्रकृतिवाद की आवश्यकता—कृतिवाद के प्रकार—दैविक प्रकृतिवाद—जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार—

पृष्ठ

मानव-समाज के विकास का प्राकृतिक क्रम—स्पेन्सर महाशय का प्रकृतिवाद—प्रकृतिवाद की आलोचना—निट्शे का शक्तिवाद—शक्तिवाद की समालोचना

चौदहवाँ प्रकरण

आदर्शवाद २१८

प्लेटो का आदर्शवाद—प्लेटो के विचारों की पृष्ठभूमि—भलाई का स्वरूप—भलाई की एकता—सद्गुणों का आधार—पदार्थों का तात्विक रूप—सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता—आधुनिक आदर्शवाद—आदर्शवाद का लक्ष्य—आदर्शवाद का आधार—आदर्शवाद का मापदण्ड—नैतिक आदर्श के दो लक्षण—पूर्णता की कल्पना—आदर्शवाद में व्यक्ति और समाज—आदर्शवाद में अनिवार्य आज्ञा का स्थान—आदर्शवाद की प्रगतिशीलता।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

समत्ववाद २३५

यूरोपीय समत्ववाद के प्रवर्त्तक—समत्ववाद की विशेषतायें—नैतिक आचरण का लक्ष्य—मध्यममार्ग का सिद्धान्त—समतावाद और आदर्शवाद—प्रगतिशील समत्व—समतावाद की देन

सोलहवाँ प्रकरण

मूल्यवाद २४५

मूल्य के मापदंड की विशेषता—मूल्य का अर्थ—अन्तिम भलाई और नैतिक भलाई—नैतिक भलाई और सामान्य भलाई—भलाई और उचित में भेद—वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य—व्यक्तिगत और वास्तविक औचित्य—भलाई और बुराई के परे की स्थिति

सत्रहवाँ प्रकरण

नैतिक संस्थाएँ २६१

नैतिक संस्थाओं की उपयोगिता—नैतिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं में मुख्य भेद—सामाजिक संस्थाओं की

पृष्ठ

नैतिकता—समाज में न्याय—कानून और लोकमत—मनुष्य के अधिकार—जीवन का अधिकार—स्वतंत्रता का अधिकार—सम्पत्ति का अधिकार—समझौते का आधार—शिक्षा का अधिकार—अधिकार और कर्तव्य की एकता—सामाजिक संस्थाओं की नैतिक उपयोगिता—कुटुम्ब—कारखाने—नागरिक संघ—धर्म-संस्थाएँ—राज्य

अठारहवाँ प्रकरण

मनुष्य के ऋण और कर्तव्य २८२

कर्तव्य का स्वरूप—मनुष्य के सामान्य कर्त्तव्य—जीवन का आदर—स्वतंत्रता का आदर—चरित्र का आदर—सम्पत्ति का आदर—सामाजिक व्यवस्था के लिए आदर—सत्य के प्रति आदर—प्रगति के लिए आदर—कर्तव्य वार्तिका—सर्वोच्च सिद्धान्त—शिष्टाचार के नियमों का नैतिकता में स्थान—आवश्यक कर्त्तव्य और मनोनति कर्त्तव्य—मनुष्य के विशेष कर्त्तव्य—नैतिक आचरण के नियम

उन्नीसवाँ प्रकरण

नैतिकता की सत्ता ३०४

नैतिकता की सत्ता का प्रश्न—विभिन्न प्रकार की सत्ताओं के प्रकार—नैतिक सत्ता के तीन प्रकार—नैतिक आचरण के प्रेरक—अन्तर्प्रेरक की सत्ता—विवेक की सत्ता—नैतिक आदर्श की सर्वोत्कृष्टता

बीसवाँ प्रकरण

सद्गुण और उनका उपार्जन ३१४

सद्गुण की व्याख्या—सद्गुण में देश-काल का स्थान—सद्गुणों में व्यक्तिगत भेद—स्वार्थ-सद्गुण और परार्थ-सद्गुण—प्रधान सद्गुण—सद्गुणों की एकता—निर्देश और उदाहरण का प्रभाव—व्यापक उद्देश्य की उपस्थिति—अभ्यास की महत्ता—तप और त्याग—आत्म-निरीक्षण—आत्म-संयम—सरलता

इक्कीसवाँ प्रकरण

पृष्ठ

व्यक्ति का नैतिक विकास ३३२

नैतिक विकास का अर्थ—वैयक्तिक और सामाजिक विचारों का साम्य—सत्संग का प्रभाव—किसी विशेष घटना का प्रभाव—जागरूकता—आत्म-परीक्षा—आदर्श की उपस्थिति—एकान्त का सेवन—तपस्या करना—आदर्श जीवन के लक्षण—चिन्तनशीलता—क्रियाशीलता—मध्यम मार्ग का अनुसरण—आदर्श व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध

इक्कीसवाँ प्रकरण (क)

नैतिक रोग और उनके उपचार ३४९

नैतिक रोग का स्वरूप—नैतिक बुराई का कारण—चरित्र के दोष—पाप और अपराध—दण्डविधान—क्षमा की उपयोगिता—नैतिक सुधार—नैतिक जिम्मेदारी—सामाजिक बुराइयाँ

बाइसवाँ प्रकरण

नैतिक प्रगति ३७८

नैतिक प्रगति की वास्तविकता—नैतिक प्रगति के कारण—नैतिक प्रगति के लक्षण—नैतिक प्रगति में बाह्य और आन्तरिक उपकरणों की महत्ता—नैतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य

तेइसवाँ प्रकरण

नैतिकता के नए मूल्य ३८७

नैतिकता और आध्यात्म—नैतिक मूल्यों का पारमूल्यीकरण—नैतिकता की अनिवार्यता

———

नीति-शास्त्र

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

नीति-शास्त्र[1] का विषय

नीति-शास्त्र क्या है ?—नीति-शास्त्र वह शास्त्र है जिसमें मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार किया जाता है। नीति-शास्त्र नैतिकता[2] के माप-दण्ड का निर्धारण करता है। हम अपना कर्तव्य, आचरण के कुछ विशेष नियमों को मानकर निश्चित करते हैं। यह शास्त्र इन नियमों की मौलिकता की परख करता है। समाज में अनेक प्रकार के आचार-व्यवहार के नियम प्रचलित हैं। ये नियम समाज की परम्परागत रुढ़ियों[3] के द्वारा एक पीढ़ी से अन्य पीढ़ी तक जाते हैं। जब मनुष्य किसी समाज में जन्म लेता है, तो वह इन आचरण के नियमों को अनायास मानने लगता है। मनुष्य समाज के नैतिक नियमों पर विचार करने के पूर्व ही अपने आचरण[4] में नैतिकता ले आता है। नैतिक आचरण करने की शक्ति मनुष्य-समाज में पहले आती है। पीछे उसमें नैतिक नियमों पर दार्शनिक विचार करने की शक्ति आती है। नीति-शास्त्र यह निर्णय करता है कि समाज में प्रचलित नैतिक नियम कहाँ तक मनुष्य के जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। पर, किसी नियम का औचित्य अथवा अनौचित्य तब तक निश्चित नहीं किया जा सकता, जब तक मनुष्य को उस कसौटी[5] का भी ज्ञान न हो, जिसके अनुसार नियम की मौलिकता की परख की जाती है। यह शास्त्र उस माप-दण्ड की खोज करता है, जिसके द्वारा आचरण के नियमों की ही परख की जाती है। साधारणतः हम समाज में किसी विशेष प्रकार के प्रचलित

---

1. Ethics. 2. Morality. 3. Hereditary traditions. 4. Conduct. 5. Standard.

नियम को मानना अपना धर्म मान लेते हैं, और उसके विरुद्ध आचरण करना अधर्म समझते हैं। किन्तु जब हमें किसी नियम की नैतिकता में ही सन्देह हो जाय, तो अपना कर्तव्य निर्धारित करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब दो नैतिक नियमों में आपस में संघर्ष होता है, तो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मान लीजिए, हम समाज-सुधार के किसी काम में लगे हैं। हम अछूतोद्धार चाहते हैं, और हमारे सयाने लोग इस प्रथा को मिटाना नहीं चाहते। वे अपना धर्म समझते हैं कि अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश न करने दिया जाय। अब हम उनका विरोध किये बिना आगे नहीं बढ़ सकते। समाज में प्रचलित साधारण नैतिकता का नियम कहता है कि हमें बड़ों की आज्ञा माननी चाहिए। उनका हमें सदा आदर करना चाहिए। फिर, यदि हम समाज के इस प्राचीन नैतिक नियम को मानते हैं, तो आगे कैसे बढ़ सकते हैं। जब तक हम यह निश्चित नहीं कर लेते कि कर्तव्य और अकर्तव्य की वास्तविक कसौटी क्या है, तब तक यह निश्चित होना असम्भव है कि हम बड़ों की बात मानें अथवा अछूतोद्धार करें। भारत के पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन में कितने ही बालकों ने अपने माता-पिता की इच्छा के प्रतिकूल उसमें भाग लिया था। उनका यह काम उचित था या अनुचित? माता-पिता की आज्ञा मानना बालकों का कर्तव्य है, और अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए काम करना भी उनका कर्तव्य है। इन दो प्रकार के कर्तव्यों में जब संघर्ष होता है, तो कर्तव्याकर्तव्य की अन्तिम कसौटी की खोज की आवश्यकता होती है। जब तक इस कसौटी का निरूपण नहीं हो जाता, तब तक कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय होना असम्भव है। समाज के साधारण लोगों में धर्म-संकट[1] की स्थिति बहुत कम आती है। यह स्थिति समाज के विशेष व्यक्ति के मन में ही आती है। समाज के साधारण लोगों को नैतिकता के अन्तिम माप-दण्ड के विषय में विचार करने की फुरसत ही नहीं रहती। वे मान लेते हैं कि समाज में प्रचलित जो नैतिक नियम हैं, वे ठीक हैं; और उनके अनुसार आचरण करना ही उनका धर्म है। समाज के विशेष व्यक्ति ही यह सोचते हैं कि वास्तविक धर्माधर्म क्या है।

---

1. Moral situation.

विषय-प्रवेश

कर्तव्याकर्तव्य के विचार मनुष्य के मन में आने के लिए दो प्रकार की बातों की आवश्यकता है। पहली, मनुष्य में विचार करने की शक्ति[1] की वृद्धि और दूसरी, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का संघर्ष[2]। ये दोनों प्रकार की बातें एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। जब मनुष्य में विचार करनेकी शक्ति होती है, तभी वह विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के गुण-दोषों को समझता है। जबतक विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का एक दूसरे से मेल और संघर्ष नहीं होता, तबतक नैतिकता के माप-दण्ड की खोज की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्येक संस्कृति में कुछ बातें भली होती हैं और कुछ बुरी। प्रत्येक संस्कृति का मानने वाला साधारण व्यक्ति अपनी संस्कृति की सभी बातों को उत्तम और दूसरी संस्कृतियों की सभी बातों को निकृष्ट मानता है। जब एक देश दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो स्थिति ठीक उलट जाती है। फिर, साधारणतः राजनीतिक दासता के साथ-साथ विजित देश में सांस्कृतिक दासता भी आ जाती है। विजयी लोग अपनी संस्कृति का प्रचार विजित जाति में तो करते ही हैं, स्वयं विजित जाति भी अपने-आप विजयी लोगोंकी संस्कृति को श्रेष्ठ मानने लगती है। ऐसी स्थिति में समाज के विचारवान् व्यक्ति समझ-बूझ से काम लेते हैं। जिन लोगों को जीवन के सर्वोच्चादर्श का ज्ञान है, वे न तो अपने देश की ही रूढ़िवादिता में पड़ते हैं; और न दूसरे देश का अन्धानुकरण करते हैं। वे अपनी संस्कृति की उन्हीं बातों का त्याग करते हैं, जो वास्तव में त्याज्य हैं, अर्थात् जो नैतिकता के विचारों के प्रतिकूल हैं, और वे दूसरे देश की उन्हीं बातों को ग्रहण करते हैं, जो भली हैं। संस्कृतियों का संघर्ष इस भाँति भले और बुरे के विचार को बढ़ाता है और समाज के श्रेष्ठ लोगों को नैतिकता का माप-दण्ड खोजने के लिये बाध्य करता है। भारतवर्ष में वर्तमान काल में कई संस्कृतियों का संघर्ष हो रहा है। एक ओर धार्मिक संस्कृतियाँ हैं, और दूसरी ओर वैज्ञानिक समाजवादी। फिर धार्मिक संस्कृतियों में भी आपस में संघर्ष चल रहा है। अतएव वर्तमान समय में भारतवर्ष में नैतिक विचारों के प्रति बड़ी उथल-पुथल मची हुई है। किसी भी परिस्थिति में यह स्पष्ट नहीं होता कि मनुष्य को क्या करना चाहिये।

---

1. Power of reflection. 2. Conflict of cultures.

वर्तमान समय में नैतिकता के माप-दण्ड के खोजने की जैसी आवश्यकता है, वैसी कभी न थी। हमारे पुराने नीतिशास्त्र (धर्म-शास्त्र) जाति-पाँति की व्यवस्था को सनातन व्यवस्था मानते हैं। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन वे अधर्म मानते हैं। पर, आधुनिक काल की वैज्ञानिक विचार-धारा जाति-पाँति के विचार के ठीक प्रतिकूल है; उनके कथनानुसार जाति-पाँति को मानना मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद करना है। इस प्रकार का विचार अनैतिक विचार है। अतएव इस भेद को मिटा देना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। फिर, जिन बातों को हिन्दू धर्म-शास्त्रियों ने धर्म कहा है, ठीक उनके विरुद्ध विचार मुस्लिम-संस्कृति में पाये जाते हैं। मुस्लिम और हिन्दू नैतिक विचारों में भेद अवश्य है। हमें यह देखना पड़ता है कि दोनों संस्कृतियों में कौनसा विचार वास्तव में नैतिक है, और कौन सा अनैतिक। इसके लिए नैतिकता का उचित माप-दण्ड निर्धारित करना होता है। इसी माप-दण्ड को निर्धारित करना नीति-शास्त्र का ध्येय है।

नीति-शास्त्र विज्ञान[1] है—नीति-शास्त्र के विद्वानों ने इसे एक विशेष प्रकार का विज्ञान माना है। अब प्रश्न आता है कि नीति-शास्त्र को विज्ञान किस अर्थ में कह सकते हैं? विज्ञान का आधार अनुभव[2] है। विज्ञान में मनुष्य निरीक्षण[3] और प्रयोगों[4] के आधार पर विशेष प्रकार के नियम निश्चित करता है। सभी भौतिक विज्ञानों की विधि एक सी ही होती है। इन भौतिक विज्ञानों की विधि के निम्नाङ्कित पाँच अंग हैं—प्रदत्तों का इकट्ठा करना[5], उनका वर्गीकरण[6] करना, कल्पना की सृष्टि[7], प्रयोगों-द्वारा कल्पना की सत्यता स्थापित करना[8] और नियम का स्थिर[9] करना। विज्ञान में साधारणतः उचितानुचित का ध्यान नहीं रहता और न उपयोगिता और अनुपयोगिता का ही रहता है। यदि हम इस दृष्टि से देखें तो नीति-शास्त्र को विज्ञान नहीं मानेंगे। यह शास्त्र उचितानुचित के विषय में विचार करता है। वह किस प्रकार का आचरण मनुष्य करता है, उसके विषय में उतना अध्ययन नहीं करता,

---

1. Soience. 2. Experience. 3. Observation. 4. Experiment 5. Collection of data. 6. Classification. 7. Framing a hypothesis. 8. Discovery of law. 9. Verification.

वरन् उसे किस तरह का आचरण करना चाहिये, इस बात का अध्ययन करता है। इस भाँति नीति-शास्त्र एक विशेष प्रकार का विज्ञान है। इसे नियामक (विधि निषेधात्मक) विज्ञान[1] कह सकते हैं।

विज्ञान शब्द का वृहदर्थ किसी विशेष प्रकार के अनुभव को सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करना है, अर्थात् इसमें सिद्धान्त[2] और दृष्टान्त[3] दोनों का समुचित सम्बन्ध दर्शाया जाता है। विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं विद्याओं का समावेश नहीं होता जिनका आधार निरीक्षण और प्रयोग है; वरन् उन विद्याओं का भी समावेश होता है, जिनका ध्येय किसी अन्तिम विचार पर पहुँचना होता है, और जिनका आधार अनुभव न होकर विश्लेषणात्मक विचार[4] होता है। यदि इस अर्थ में हम विज्ञान शब्द को लें, तो नीति-शास्त्र एक विज्ञान है। नीति-शास्त्र भौतिक विज्ञान[5] के समान विज्ञान नहीं है, किन्तु यह न्याय-शास्त्र[6] और सौन्दर्य-शास्त्र[7] के समान विज्ञान है।

कितने ही लोगों का कथन है कि नीति-शास्त्र को विज्ञान इसलिये नहीं मानना चाहिये, क्योंकि नीति-शास्त्र का विस्तार जीवन के विशेष पहलू का अध्ययन नहीं, वरन् सम्पूर्ण अनुभव का अध्ययन है। विज्ञान अनुभव के किसी विशेष पहलू का अध्ययन करता है; सम्पूर्ण जीवन की समस्याओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र दर्शन-शास्त्र[8] कहलाता है। अतएव नीतिशास्त्र को विज्ञान न कह कर दर्शन ही कहना चाहिए। यह युक्ति नीति-शास्त्र के बहुत से पंडितों को मान्य है।

भारतवर्ष में "शास्त्र" शब्द विज्ञान, और दर्शन दोनों के लिये आता है। शास्त्र का सामान्य अर्थ नियामक विद्या[9] है। नीति-शास्त्र इस दृष्टि से नैतिकता का नियामक है। इसमें साधारणतः हम नैतिकता के कुछ नियमों की चर्चा की आशा करते हैं। पुराने समय के नीति-शास्त्र में इस प्रकार की चर्चा रहती भी थी। पर वर्तमान समय में नीति-शास्त्र में नैतिकता के नियमों की

---

1. Normative Science. 2. Principle. 3. Example. 4. Analytic thought. 5. Natural science. 6. Logic. 7. Æsthetics. 8. Philosophy. 9. Normative Science.

चर्चा उतनी नहीं रहती, जितनी कि नियमों के औचित्य पर विचार होता है। नीति-शास्त्र में जीवन के अन्तिम आदर्श पर विचार किया जाता है, और इस आदर्श को ध्यान में रखकर आचरण के नियम बनाये जाते हैं। नीति-शास्त्र का ध्येय विभिन्न प्रकार के जीवन के आदर्शों पर विचार करना है। जीवन के अन्तिम आदर्शों को निश्चित करने का काम दर्शन का है। दर्शन मनुष्य को सत्य के दर्शन मात्र कराता है। वह विधि-निषेधात्मक प्रश्नों में नहीं जाता। वर्तमान नीति-शास्त्र भी यही काम करता है।

नीति-शास्त्र की उपयोगिता—नीति-शास्त्र की उपयोगिता के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। कितने ही लोगों का कथन है, कि नीति-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण का सुधार नहीं होता; अतएव उसका अध्ययन करना व्यर्थ है। नीति-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नीति की बातें जानकर भी मनुष्य अनैतिक आचरण करते हैं, और जिन्हें नीति-शास्त्र का ज्ञान नहीं, वे भी नैतिक आचरण करते हैं। आचरण करने के लिए नैतिकता पर विचार करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना नैतिक आचरण के अभ्यास की आवश्यकता है। मनुष्य जो काम करता है, उसमें उसी काम की शक्ति आती है। विचार करने के अभ्यास से मनुष्य में विचार करने की शक्ति बढ़ती है, और आचरण करने के अभ्यास से आचरण करने की शक्ति बढ़ती है। अतएव विचार करने में कुशल व्यक्ति नैतिक आचरण में कुशल होगा, यह आवश्यक नहीं। बहुत से दर्शन के विद्वानों का आचरण साधारण मनुष्यों के आचरण से निम्नकोटि का होता है। उनमें स्वार्थी भाव और काम तथा क्रोध के आवेश कभी-कभी साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है, कि शास्त्र का काम मार्ग बताना है, मार्ग पर चलना शास्त्र नहीं सिखाता। उचित और अनुचित का ज्ञान होने से ही मनुष्य उचित अथवा अनुचित कार्य नहीं करने लगता। उचित आचरण करने के लिए विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों की आवश्यकता होती है। मनुष्य स्वभावतः अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति में लगा रहता है; उन पर नियंत्रण प्राप्त करना अभ्यास के द्वारा आता है। मनुष्य की जन्मजात

प्रवृत्तियाँ[1] उसे पाशविक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करती हैं। वह अपने अभ्यास के द्वारा ही अपने-आप में परिवर्तन करता है, अर्थात् नई प्रवृत्तियों को बनाता है। समाज उसे इन प्रवृत्तियों को बनाने में सहायता देता है। बालकों की शिक्षा का ध्येय यही है, कि उनकी जन्मजात प्रवृत्तियों में परिवर्तन करके नई प्रवृत्तियों का निर्माण करें।

जिस प्रकार दूसरे लोग हमें शिक्षा देते रहते हैं, उसी प्रकार हम स्वयं भी अपने को शिक्षा देते रहते हैं। कान्ट महाशय ने मनुष्य को स्वनिर्मित प्राणी[2] कहा है। वास्तव में मनुष्य मनुष्यत्व को तब प्राप्त करता है, जब वह अपने प्राकृतिक स्वभाव पर विजय प्राप्त करके अपना नव-निर्माण करता है। इस नव-निर्माण के लिये मनुष्य को न केवल दूसरे भले कहे जाने वाले लोगों के समान आचरण करना पड़ता है; वरन् "भला" और "बुरा" किस को कहा जाय, इसे भी जानना पड़ता है। सुकरात महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि ज्ञान ही सद्गुण[3] है। यदि किसी मनुष्य को भलाई का ठीक-ठीक ज्ञान है, तो भलाई की ओर उसका प्रवृत्त होना स्वाभाविक है। ज्ञान में क्रियाशीलता रहती है। जो मनुष्य सदा भले-बुरे विचारों के विवेचना में अपना समय व्यतीत करता है, और जीवन के आदर्शों के बारे में चिन्तन करता रहता है; उसका साधारण अज्ञानी मनुष्यों की अपेक्षा सदाचारी बनना अधिक स्वाभाविक है।

उपर्युक्त कथन में मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। मनुष्य उसी बात के विषय में अपनी जानकारी बढ़ाने की चेष्टा करता है, जिसके विषय में उसकी रुचि[4] होती है। जब मनुष्य की किसी बात में रुचि नहीं होती, तो वह उसके विषय में जानकारी बढ़ाने की परवाह भी नहीं करता। फिर जानकारी बढ़ने से रुचि भी उत्पन्न होती है। जिस ओर मनुष्य की रुचि होती है, उसी ओर उसका आचरण भी होता है। इस प्रकार किसी तरह का ज्ञान न केवल रुचि का द्योतक है, वरन् वह रुचि को पैदा करने वाला भी है; और वह विशेष प्रकार के आचरण का प्रेरक होता है। अमेरिका के नीति-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् ह्वील राइट महाशय के

---

1. Inborn tendencies.
2. Self-created animal.
3. Knowledge is virtue.
4. Interest.

निम्नलिखित कथन में मौलिक सत्य है, कि उचित और अनुचित के विषय में विचार करना केवल बुद्धि के लिए खेल[1] मात्र नहीं है। यदि हम किसी प्रकार के आचरण को भला अथवा बुरा (उचित अथवा अनुचित) कहते हैं और यदि हम समझ-बूझ कर इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारे आचरण पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। नीति-शास्त्र केवल बुद्धि का खेल मात्र नहीं है। नैतिक सिद्धान्त नैतिक आचरण की आवश्यकता रखता है और नीति-शास्त्र के अर्थ को हम तभी समझते हैं जब हम उसका सार ग्रहण करके आचरण के कुछ ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं जो हमें जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हों।*

नीति-शास्त्र की उपयोगिता की तुलना हम शिक्षा-मनोविज्ञान[2] की उपयोगिता से कर सकते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान का ज्ञान मात्र किसी शिक्षक को कुशल शिक्षक नहीं बना देता, शिक्षण में कुशलता अभ्यास से आती है। पर शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान से शिक्षा के कार्य में सुधार अवश्य होता है। कई एक शिक्षक शिक्षा-मनोविज्ञान की पोथियाँ नहीं पढ़े रहते हैं पर वे शिक्षा का कार्य कुशलता से करते हैं। उनके कार्यों को देख कर कभी-कभी यह सोच लिया जाता है कि शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन की शिक्षा में आवश्यकता नहीं है।

---

1. Pastime for understanding.

* "Right and wrong, then, are not hollow sounds, nor is discussion about them an idle game. If we mean what we say in designating an action right or wrong, if we are doing more than mouthing a convenient formula, our judgment will in some manner affect our subsequent conduct. **Ethics is not a pastime for the understanding alone.** Ethical theory calls for moral practice, and the full meaning of ethics becomes intelligible only as we translate theories into moral principles that can be made effective forcee in the struggle towards ideal ends"—Whealwright. **A Coitical Introduction to Ethics. P. 22.**

2. Educational Psychology.

पर, हम यहाँ भूल जाते हैं कि कुशल शिक्षकों को शिक्षा के कुछ व्यावहारिक नियम जो शिक्षा-मनोविज्ञान के ऊपर आश्रित हैं ज्ञात हैं और वे इन नियमों को अपने कार्य में प्रयोग करते हैं! पर कभी-कभी पूर्ण शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अवसर पर शिक्षा-मनोविज्ञान के पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार साधारण नैतिक आचरण के लिये नीति-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती, पर जब किसी मनुष्य को दो विरोधी धर्मों के बीच निर्णय करना पड़ता है अथवा जब उसके मन में अपने आचरण की नैतिकता के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है तो नीति-शास्त्र की आवश्यकता पड़ जाती है। ऐसे अवसरों की चर्चा पहले की जा चुकी है।

कुछ लोग नीति-शास्त्र का ज्ञान रख कर भी नैतिक आचरण नहीं करते। इसका कारण नीति-शास्त्र का दोष नहीं, वरन् उनके मन में वास्तव में नीति-शास्त्र के प्रति श्रद्धा की कमी मात्र है। जिस प्रकार डाक्टरी का ज्ञान रख के भी मनुष्य अकुशल डाक्टर हो सकता है, और कानून का ज्ञान रख के भी वकील बुद्धू हो सकता है, इसी प्रकार नैतिक बातों का ज्ञान रखकर भी मनुष्य अपने आचरण में नैतिकता का अभाव दर्शा सकता है। पोथी-पंडित किसी प्रकार के ज्ञान में वास्तविक रुचि नहीं रखता। वह केवल दिखावा मात्र चाहता है। दूसरों के विचारों का ज्ञान कर लेने से मनुष्य में उन विचारों के अनुसार आचरण करने की क्षमता नहीं आ जाती है। जब तक दूसरों के विचार को हम स्वयं अपना विचार नहीं बना लेते वे हमारे आचरण को प्रभावित नहीं करते। ऐसे विचार निकम्मे विचार बने रहते हैं। अधिक पुस्तकों के पढ़ने से मनुष्य को उनमें दिये हुए विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों पर चिन्तन करने का पर्याप्त समय नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी बुद्धि को लद्दू टट्टू के समान भार ढोने भर का साधन मात्र बनाता है। पुस्तकों के विचारों पर मनन करने से मनुष्य एक निश्चित मत पर आता है। जब कोई व्यक्ति किसी निश्चित मत पर आ जाता है तो यह स्वाभाविक है कि वह उस मत का प्रकाशन अपने आचरण में करे।

यदि नीति-शास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता न होती तो संसार के प्रमुख सभ्य देशों में इसकी चर्चा भी न होती। जब कभी देश के अग्रगण्य नेताओं में कर्तव्याकर्तव्य के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ है तब नये नैतिक विचारों का

निर्माण हुआ है। गीता का निर्माण ऐसी ही परिस्थिति में हुआ, जिसने पुराने रुढ़िवादी विचार का खण्डन करके नये विचार का प्रवर्तन किया।

क्या नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान[1] है ?—नीति-शास्त्र की मानव-जीवन में उपयोगिता को जानकर स्वभावतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह व्यावहारिक विज्ञान है। पर इस शास्त्र के प्रमुख विद्वान् इसे व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानते। नीतिशास्त्र प्रधानतः सैद्धान्तिक विज्ञान[2] है। इसके अध्ययन का पहला लक्ष्य सिद्धान्तों का पता चलाना है, न कि उनपर व्यवहार करना सिखाना। आचरण के सिद्धान्तों को व्यवहार में रखना शिक्षा-शास्त्र[3] सिखाता है। नीति-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र[4] अथवा इन्जीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। चिकित्सा-शास्त्र का मुख्य ध्येय किसी सिद्धान्त का निपरूण नहीं, वरन् मनुष्य को चिकित्सा के कार्य में योग्य बनाना है; इसी प्रकार इन्जीनियरिंग सीखने का हेतु मकान, पुल आदि बनाने की योग्यता प्राप्त करना है। पर नीति-शास्त्र के अध्ययन का हेतु नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करना मात्र है। उनको व्यवहार में लाने के लिये एक दूसरे ही विज्ञान की आवश्यकता होती है, इसे शिक्षा-विज्ञान अथवा शिक्षा-शास्त्र कहा जाता है।

नीति-शास्त्र की तुलना हम तर्क-शास्त्र[5] अथवा सौन्दर्य-शास्त्र[6] से कर सकते हैं। तर्क-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को तर्क और विचार में प्रवीणता प्रदान करना नहीं, वरन् तर्क के सिद्धान्तों का निरूपण करना है। जब मनुष्य तर्क करता है तो न केवल तर्क के सिद्धान्तों का उसे ज्ञान होने की आवश्यकता होती है, वरन् वह जिस विषय में तर्क करता है उसके ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। एक वकील कानूनी तर्क में कुशलता दिखाता है और एक व्यापारी व्यापार के क्षेत्र में। अपने क्षेत्र में ही सभी लोग ठीक से तर्क कर लेते हैं। यह तर्क करना उन्हें अभ्यास से आता है। तर्क-शास्त्र का ज्ञाता उतनी कुशलता से कानूनी तर्क की भूलों को नहीं पकड़ सकता जितनी कुशलता से वकील पकड़ सकता है। इसी प्रकार कोई कवि अथवा कलाकार अपने कार्य में प्रवीणता के

---

1. Practical Science. 2. Speculative science. 3. Science of Education. 4. Science of Medicine. 5. Logic. 6. Æsthetics.

लिये सौन्दर्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं करता वह अपने सामान्य अनुभव से ही सुन्दर और असुन्दर का विचार कर लेता है और बिना सौन्दर्य-शास्त्र के ज्ञान के अपने कामों में सुन्दरता दिखाता है। पर तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का अध्ययन फिर भी उपयोगी माना जाता है। तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का ज्ञान मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि प्रदान करता है। जब कभी किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है तब हमें शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्र किसी भी बात के ठीक अथवा गलत होने के लिये युक्तियाँ उपस्थित करता है। वह बताता है कि अमुक विचार युक्तिसंगत है और अमुक नहीं है।

जिस प्रकार तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं हैं, इसी प्रकार नीति-शास्त्र भी व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। इन तीनों विज्ञानों का हेतु अपने-अपने क्षेत्र में सिद्धान्तों का निरूपण है। पर सिद्धान्तों का निरूपण परोक्ष रूप से मनुष्य के विचारों को तथा व्यवहार को प्रभावित करता है। अतएव नीति-शास्त्र का अध्ययन भी मनुष्य के व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। वास्तव में कोई भी सैद्धान्तिक विद्या अध्ययन करने वाले के मन पर बिना विशेष प्रकार का प्रभाव डाले नहीं रहती और इसका प्रभाव मनुष्य के आचरण में अवश्य होता है।

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान[1] है—आधुनिक दार्शनिक दो प्रकार के विज्ञान मानते हैं—यथार्थ-विज्ञान[2] और नियामक विज्ञान। यथार्थ विज्ञान वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है। यथार्थ विज्ञान किसी पदार्थ के भले और बुरे पर विचार नहीं करता। भले-बुरे पर विचार करने वाले विज्ञान नियामक विज्ञान कहलाते हैं। ये विज्ञान किसी भी वस्तु का विचार लक्ष्य को ध्यान में रखकर करते हैं। नीति-शस्त्र मनुष्य के आचरण के लक्ष्य के विषय में विचार करता है और यह निश्चित करने की चेष्टा करता है कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है।

नीति-शास्त्र की विशेषता मनोविज्ञान से तुलना करने से स्पष्ट हो जाती है।

---

1. Normative Science. 2. Positive Science.

मनोविज्ञान मनुष्य के विचारों, भावों और आचरणों का अध्ययन करता है, ये चाहे बुरे हों अथवा भले। पागल अथवा दुराचारी मनुष्य के विचार और आचरण एक मनोवैज्ञानिक के लिये उतने ही महत्व के हैं जितने महत्व के विचार और आचरण सामान्य और सदाचारी मनुष्य के हैं। पर नीति-शास्त्र में हमें सदाचार की कसौटी अथवा माप-दण्ड निश्चित करना है, अतएव हमारा मुख्य प्रयोजन भले मनुष्यों के आचरण से ही रहता है।

क्या नीति-शास्त्र कला[1] है ?—नीति-शास्त्र के पंडितों में प्रायः यह विवाद होता रहता है कि नीति-शास्त्र विज्ञान है अथवा कला। वर्तमान कला के प्रमुख पंडित इसे कला नहीं मानते। वे इसे या तो विज्ञान मानते हैं या दर्शन। कला और विज्ञान में एक मौलिक भेद है। कला मनुष्य को काम करना सिखाती है और विज्ञान मनुष्य को चिन्तन करने की योग्यता प्रदान करता है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही सत्य की खोज करते हैं। विज्ञान अधिकतर वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता है और दर्शन अन्तर्जगत् से। ज्ञात सत्य को व्यवहार में लाना यह कला का काम है। कला सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करती, वह या तो सिद्धान्तों को काम में लाती है अथवा नये सिद्धान्तों के लिए प्रदत्त[2] उपस्थित करती है। कला क्रिया-प्रधान है और विज्ञान विचार-प्रधान। कला में सफलता बाहरी फल से मापी जाती है, विज्ञान में सफलता सोचने की प्रक्रिया से मापी जाती है। मनुष्य कला का जो कुछ चिन्तन करता है उसे वह अपनी क्रिया में प्रकाशित करता है और क्रिया में प्रकाशन करने के हेतु ही वह चिन्तन करता है। दर्शन और विज्ञान के विषय में यह बात सत्य नहीं है। इनमें जो चिन्तन होता है उसका ध्येय किसी सत्य का अन्वेषण होता है। दार्शनिक चिन्तन में अपने विचारों को सुगठित बनाना ही ध्येय रहता है।

नीति-शास्त्र का ध्येय कर्तव्याकर्तव्य के माप-दण्ड की खोज करना है। वह यह जानने की चेष्टा नहीं करता कि इस माप-दण्ड को प्रमाण मानकर संसार के लोग अपना आचरण बनाते हैं अथवा नहीं। उचित आचरण क्या है, इस बात को निश्चित करना नीति-शास्त्र का ध्येय है। मनुष्य से उचित आचरण कैसे

---

1. Art. 2. Data.

कराया जाय और उसके चरित्र के सुधार के लिए उपाय निकालना तथा बालकों का चरित्र-निर्माण करना—यह काम नीति-शास्त्र का नहीं है वरन् शिक्षा का है। शिक्षा को हम किसी अंश तक कला कह सकते हैं। नीति-शास्त्र को कला नहीं कह सकते।

नीति-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण में सुधार होना सम्भव है। परन्तु यह सुधार तब तक नहीं होता जब तक इस शास्त्र के बताये हुये पथ पर मनुष्य अग्रसर नहीं होता और आत्म-सुधार के लिए प्रयत्न नहीं करता। आचरण में सुधार अभ्यास का फल है। शिक्षा इस अभ्यास को कराती है। यदि नीति-शास्त्र का मुख्य ध्येय मनुष्य का आचरण सुधारना होता तो उसे कला समझना उचित होता। किन्तु उसका ध्येय अपने आचरण के सर्वोच्चादर्श को स्थिर करना है। अतएव उसे विज्ञान अथवा दर्शन की कोटि ही में माना जा सकता है। नीति-शास्त्र के ध्येय की तुलना तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के ध्येय से की जा सकती है। न तर्कशास्त्र और न सौन्दर्य शास्त्र को ही कला माना गया है। इसी प्रकार नीति-शास्त्र को भी कला नहीं माना जा सकता।

नीति-शास्त्र की विधि

वैज्ञानिक और दार्शनिक विधि—भिन्न-भिन्न प्रकार के शास्त्रों के अध्ययन की विधियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। नीति-शास्त्र एक विज्ञान है। अतएव हम साधारणतः आशा करते हैं कि इसके अध्ययन की विधि साधारण पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन की विधि होगी। पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन की विधि के पाँच अंग हैं—प्रदत्तों का इकट्ठा करना, उनका वर्गीकरण करना[1], कल्पना की सृष्टि[2], कल्पना की सत्यता की नये प्रदत्तों के द्वारा परख करना[3] और एक निश्चित नियम[4] का स्थापन। संक्षेप में यह विधि प्रदत्तों के आधार पर नियमों को स्थिर करने की विधि है। इस विधि को अन्वेषण विधि[5] कहते हैं। इस विधि के अनुसार जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है उनका आधार हमारे सामान्य अनुभव में आनेवाले प्रदत्त होते हैं। यदि कोई प्रदत्त ऐसा आ जाय जिससे कि प्राचीन नियम को विरोध होता है तो हमें उस

1. Classification. 2. Framing the hypothesis. 3. Verification. 4. Law. 5. Inductive Method.

नियम को ही बदल देना पड़ता है। इस प्रकार नये-नये नियमों का आविष्कार होता रहता है। मनोविज्ञान के अध्ययन का आधार यही विधि है। इस विधि से भिन्न दार्शनिक विधि है। इस विधि को विवेचनात्मक विधि[1] कहा जाता है। इस विधि में पुराने प्रदत्तों को इकट्ठा करने और नये प्रदत्तों को जानने की इतनी चेष्टा नहीं की जाती, जितनी कि अपने सामने दिये हुए प्रदत्तों का अर्थ समझने की चेष्टा की जाती है। दार्शनिक सिद्धान्त का अधिक लाभ नये प्रदत्तों के प्राप्त करने से नहीं होता, वरन् दिये हुए प्रदत्तों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से होता है। सामान्य विज्ञान का आधार उदाहरण है, परन्तु नीति-शास्त्र का, जो कि दर्शन की ही शाखा है, आधार गम्भीर विचार है। दो चार उदाहरण भी नैतिकता के सिद्धान्त के ऊपर विचार करने के लिए पर्याप्त होते हैं। ये सिद्धान्त मनुष्य के लौकिक अनुभव की बुद्धि के ऊपर निर्भर नहीं करते, किन्तु उसकी अपने आपके भीतर डूबने की शक्ति के ऊपर निर्भर करते हैं। विज्ञान के सिद्धान्त बाह्य संसार से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव जो व्यक्ति बाह्य संसार को जितना ही अधिक जानता है उसके किसी विज्ञान के सिद्धान्त उतने ही प्रौढ़ होंगे। किन्तु दर्शन के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। दर्शन में जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेचनात्मक चिन्तन करने की क्षमता रखता है वह उतना ही मौलिक सत्य को प्राप्त करेगा।

पदार्थ-विज्ञान का सत्य बाहरी विषयों से सम्बन्ध रखता है और दार्शनिक सत्य अपने-आप से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतएव सांसारिक घटनाओं का अधिक ज्ञान न रखनेवाला व्यक्ति भी इस सत्य को प्राप्त कर लेता है। नीति-शास्त्र के अधिक विद्वानों ने दार्शनिक विधि का ही प्रयोग किया है। जिन लोगों ने इसका सफल प्रयोग किया है, उनमें प्रमुख नाम प्लेटो, कान्ट और ग्रीन महाशय के हैं। इन तीनों विद्वानों ने संसार को बड़ा ही मूल्यवान् नैतिक विचार दिया है। ये सभी आदर्शवादी[2] दार्शनिक थे। इन लोगों की विचार-परम्परा को जिन नीति-शास्त्र के विद्वानों ने अपनाया है उन्होंने लौकिक अनुभव पर विशेष जोर नहीं दिया है। वे मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करके उसके आदर्श को निश्चित

---

1. Critical Method. 2. Idealist.

करने की चेष्टा किये हैं। इनकी विधि को कभी-कभी मनोवैज्ञानिक विधि[1] भी कहा जाता है। परन्तु वास्तव में इनकी विधि मनोवैज्ञानिक नहीं है। मनुष्य के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दार्शनिक विश्लेषण से बहुत ही भिन्न वस्तु है। मनुष्य के स्वभाव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर नीति-शास्त्र के सिद्धान्त को स्थिर करने वाले कुछ विद्वान् अवश्य हुये हैं। इन्हें हम सुखवादी[2] अथवा अन्तः अनुभूतिवादी नीति-शास्त्री कहते हैं। सुखवाद,[3] अन्तः अनुभूति-वाद[4] और आदर्शवाद[5] इन सभी की नैतिकता के अध्ययन की विधि एकसी ही है। इस विधि को दार्शनिक विधि अथवा मनोवैज्ञानिक विधि भी कहा जाता है। परन्तु हमें यहाँ मनोवैज्ञानिक विधि का एक विशेष अर्थ मानना पड़ेगा। मनो-वैज्ञानिक विधि का सामान्य अर्थ दार्शनिक विधि नहीं वरन् वैज्ञानिक विधि है, अर्थात् मनोविज्ञान प्रदत्तों के आधार पर ही सिद्धान्तों का निरूपण करता है। हम दार्शनिक विधि को विश्लेषणात्मक[6] अथवा आलोचनात्मक[7] विधि कह सकते हैं।

नीति-शास्त्र के अध्ययन में शुद्ध वैज्ञानिक विधि का प्रयोग प्रकृतिवादी[8] नीति-शास्त्र के विद्वानों ने और विशेषकर हरबर्ट स्पेंसर महाशय ने किया है। उन्होंने अपनी 'डेटा आफ एथिक्स' (नीति शास्त्र के प्रदत्त) नामक पुस्तक में इस विधि को भली प्रकार से प्रदर्शित किया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न काल में प्रचलित समाज के नैतिक नियमों की खोज करने की चेष्टा की है और इन प्रदत्तों के आधार पर नैतिकता के मापदण्ड को स्थिर करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि समाज की प्रारम्भिक अवस्था में नैतिक नियमों का अभाव पाया जाता है। समाज में नैतिकता का विकास धीरे-धीरे, मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष करने के साथ-साथ हुआ है। जैसे-जैसे मनुष्य को इस संघर्ष में सफलता मिलती गई वैसे वैसे उसके जीवन के नैतिक नियमों में परिवर्तन होता गया। हम नैतिकता का आदर्श तब तक स्थिर नहीं कर सकते जब तक हम मनुष्य का प्रकृति

---

1. Psychological Method. 2. Hedonist. 3. Hedonism. 4. Intuitionism. 5. Idealism. 6. Analytic. 7. Critical. 8. Naturalistic.

के साथ संघर्ष और उसकी विजय के कारणों को नहीं जानते। इसके लिए मानव-समाज के इतिहास को जानना आवश्यक है। किसी नैतिक सिद्धान्त की उपयोगिता की कसौटी मनुष्य को अपने जीवन में सफलता देना है। किस नैतिक नियम के अनुसार चलने से मनुष्य को उसके जीवन में कहाँ तक सफलता मिली, इसे जानने के लिए समाज के विकास का अध्ययन करना आवश्यक है। नीति-शास्त्र की इस अध्ययन-विधि को हम आरम्भवादी विधि[1] कह सकते हैं।

उक्त आरम्भवादी अथवा शुद्ध वैज्ञानिक विधि की त्रुटि को आधुनिक काल के कई प्रमुख नीति-शास्त्रज्ञों ने बताया है, इस विधि के अनुसरण से हम ऐसे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते, जिसके आधार पर नियामक[2] विज्ञान खड़ा किया जा सके। नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है। मनुष्य के कर्तव्य का निर्णय ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर करना एक बड़ी भूल है। इसके लिए उसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक विश्लेषण करना ही आवश्यक है। मनुष्य क्या है और उसके जीवन में सर्वोत्तम तत्त्व क्या है इसको जानकर ही उसके आचरण के लक्ष्य का निरूपण किया जा सकता है। अरस्तू महाशय ने मनुष्य को "विवेकशील प्राणी" कहा है। मनुष्य की इस परिभाषा के आधार पर ही उन्होंने उसके जीवन के लक्ष्य तथा कर्तव्य का निरूपण किया है। मनुष्य की दूसरे प्राणियों से विशेषता उसके विवेक अथवा विचार में है। अतएव मनुष्य का स्वभाव हो यह दर्शाता है कि उसका कर्तव्य ऐसे कामों के करने में है जिससे उसके विचार की शक्ति का अधिकाधिक विकास हो और वह सदा ज्ञान विज्ञान में निमग्न रह सके। भारतवर्ष के धर्म-शास्त्र अर्थात् नीति-शास्त्र के पण्डितों ने भी मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य का माप-दण्ड स्थिर करने के लिए मानव-स्वभाव के दार्शनिक विश्लेषण की रीति को अपनाया है। उनके निष्कर्ष उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के निष्कर्ष प्राचीन यूनानियों के थे।

कितने ही नीति-शास्त्रज्ञों ने नीति-शास्त्र की विधियों का वर्गीकरण उन विधियोंकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किया है। परन्तु यह एक भ्रमात्मक कार्य है। विधि और सिद्धान्त

---

1. Genetic. 2. Normative.

में मौलिक भेद है। सिद्धान्त किसी विधि के अनुसार विचार करने का परिणाम होता है। सिजविग महाशय ने अपनी पुस्तक 'मेथड्स आफ एथिक्स' (नीति शास्त्र की विधियाँ) में यह भूल की है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया है, परन्तु उसे नैतिक सिद्धान्त की विभिन्न रीतियों का नाम दे दिया है। मार्टिनो ने अपनी 'टाइप्स आफ एथिकल थ्योरी' नामक पुस्तक में बताया है, कि भिन्न-भिन्न सिद्धान्त को स्थिर करने वाले भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी विधि को काम में लाये हैं। इस तरह जितने नैतिक सिद्धान्त हैं, उतनी ही उनकी विधियाँ हैं। किन्तु हम विधियों का इस प्रकार से वर्गीकरण करना उचित नहीं समझते हैं। हमने जो वर्गीकरण किया है, वह बहुत कुछ अमेरिका के वर्तमान काल के प्रसिद्ध विद्वान् ह्वीलराइट महाशय के अनुसार है।

प्रश्न

१. नीतिशास्त्र का विषय क्या है? इस शास्त्र में किन विषयों पर विचार किया जाता है?

२. नीतिशास्त्र के पढ़े बिना ही यदि मनुष्य नैतिक आचरण की सामर्थ्य रखता हो, तो नीतिशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता क्या है? क्या नीतिशास्त्र के पढ़ने से मनुष्य का आचरण अधिक नैतिक हो जाता है?

३. नीतिशास्त्र में "शास्त्र" शब्द का क्या अर्थ है? क्या नीतिशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है?

४. "नीतिशास्त्र का अध्ययन केवल बौद्धिक मनोरञ्जन की वस्तु ही है"—इस कथन की विवेचना कीजिये और नीतिशास्त्र के अध्ययन से जीवन में मौलिकता दर्शाइये।

५. किसी भी नैतिक संकट (धर्म संकट) की स्थिति का विश्लेषण करके नैतिक विचार की आवश्यकता को दर्शाइये।

६. सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञानों में भेद क्या है? नीतिशास्त्र को क्या व्यावहारिक विज्ञान कहा जा सकता है?

७. नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान है—इस कथन का क्या अर्थ है? इस विज्ञान की तुलना मनोविज्ञान और प्राणीशास्त्र से कीजिये।

८. नीति-शास्त्र को कला क्यों नहीं कहा जा सकता? कला और विज्ञान के भेद को पूरी तरह स्पष्ट कीजिये।

९. वैज्ञानिक और दार्शनिक विधि के भेद को दर्शाइये। नीतिशास्त्र को विज्ञान क्यों कहा गया है?

१०. मानव-समाज में नैतिक विचार की वृद्धि किस परिस्थिति में होती है? उदाहरण देकर समझाइये।

———

दूसरा प्रकरण

नीति-शास्त्र और अन्य विद्यायें

दूसरी विद्याओं से सम्बन्ध जानने की आवश्यकता—नीति-शास्त्र के अध्ययन के लिए अनेक दूसरी विद्याओं का ज्ञान होना आवश्यक है। कुछ विद्याएँ नीति-शास्त्र का आधार हैं, और कुछ नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हैं, अथवा उन सिद्धान्तों को व्यवहृत करती हैं। जिन विद्याओं का सम्बन्ध नीति से बड़ा ही घनिष्ठ है, वे निम्नलिखित हैं– तत्त्व-विज्ञान[1], मनोविज्ञान[2], तर्कशास्त्र[3], सौन्दर्य-शास्त्र[4] और प्राणिशास्त्र[5]। इनके अतिरिक्त नीति-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीति-शास्त्र,[6] समाजशास्त्र और अर्थ-शास्त्र[8] से भी है। नीति-शास्त्र और धर्म[9] का भी बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु वर्तमान काल में धर्म के स्वरूप को निश्चित करना बड़ा कठिन हो गया है। अतः वैज्ञानिक ढंग से धर्म और नीति-शास्त्र की चर्चा करना भी बड़ा कठिन है। तत्त्व-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि नीति-शास्त्र के आधार-स्तम्भों को स्थिर करने में सहायक होते हैं, और राजनीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि उसकी उपयोगिता दर्शाते हैं।

नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान—नीति-शास्त्र का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। कर्तव्याकर्तव्य का विचार एक विशेष प्रकार की मानसिक परिस्थिति में उत्पन्न होता है। कर्तव्य का विचार उत्पन्न होने के लिए मानसिक विकास की आवश्यकता होती है। पशुओं और छोटे बच्चों में कर्तव्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं। जब तक मनुष्य में आगे-पीछे सोचने की शक्ति नहीं

---

1. Metaphysics, 2. Psychology, 3. Logic, 4. Æsthetics, 5. Biology, 6. Politics, 7. Sociology, 8. Economics, 9. Religion.

रहती, तब तक उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। मनोविज्ञान यह दर्शाता है, कि मनुष्य के मानसिक विकास की किस अवस्था में उसे नैतिकता[1] का ज्ञान होना सम्भव है। फिर, भिन्न-भिन्न प्रकार के माप-दण्ड भिन्न-भिन्न मानसिक विकास की अवस्था के परिचायक हैं। नैतिकता के किस माप-दण्ड को ऊँचा माना जाय और किसको नीचा, इसके लिए मनुष्य के मानसिक विकास को जानना भी आवश्यक होगा।

अपने कर्तव्य का निर्णय करने के पूर्व मनुष्य के मन में मानसिक उथल-पुथल होती है। इस उथल-पुथल का क्या स्वरूप है, इसे मनोविज्ञान से जाना जाता है। कर्तव्य-शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य आचरण से उतना नहीं है, जितना कि उसकी मानसिक परिस्थिति से है। किसी प्रकार के आचरण की मौलिकता मनुष्य के मन में होने वाले संकल्प-विकल्पों के ऊपर निर्भर करती है। उसको प्रकाशित क्रियाओं का महत्त्व उसके संकल्प-विकल्प पर ही निर्भर करता है। नीति-शास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, कि मनुष्य के कार्य की नैतिकता को जानने के लिए उसके तत्सम्बन्धी क्रियाओं के वास्तविक हेतु[2] अथवा मन्तव्य[3] को हमें जानना चाहिए। अब मनुष्य की क्रियाओं के वास्तविक प्रेरक क्या हैं, स्वयं मनुष्य इन प्रेरकों का ज्ञान कहाँ तक प्राप्त कर सकता है, यह बताना मनोविज्ञान का काम है। कभी-कभी स्वयं किसी काम के करने वाले को अपने ही कामों के वास्तविक हेतुओं का ज्ञान नहीं रहता। वह जिस हेतु को हेतु समझता है, वह झूठा ठहरता है। इस प्रकार जब मनुष्य अपने कार्य के हेतुओं को बहुत ऊँचा समझता रहता है, तभी उसका वास्तविक हेतु स्वार्थमय अथवा निकृष्ट भी बना रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह दर्शा रहा है, कि मनुष्य कहाँ तक अपने कार्य की नैतिकता के विषय में अपने-आप को धोखा देता है। वह झूठे हेतु को अपने कार्य का वास्तविक हेतु समझ बैठता है। अस्तु, किसी कार्य की नैतिकता जानने के लिए न केवल उस कार्य के प्रकाशित हेतु को हमें जानना चाहिए, वरन् उसके गुप्त प्रेरकों का अध्ययन भी करना चाहिए। इन गुप्त प्रेरकों का निश्चय मनोविज्ञान की सहायता से होता है।

---

1. Morality, 2. Motive, 3. Intention.

नीति-शास्त्र में मनुष्य की भूख[1], चाह[2], इच्छा[3], स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति[4], उद्वेग[5] और चरित्र[6] आदि विषयों की चर्चा की जाती है। ये सभी तत्त्व मनुष्य की क्रियाओं के प्रेरक होते हैं। नैतिक आचरण[7] वह आचरण है, जिसमें मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अधिक-से-अधिक कार्य करती है, और दूसरे तत्त्वों से कम-से-कम प्रभावित होती है। पर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति क्या है और कहाँ तक यह मनुष्य के कार्य की प्रेरक बनती है, इसका निश्चय करना तथा दूसरे तत्त्वों के स्वरूप, उनकी शक्ति तथा आपस के सम्बन्ध को बताना मनोविज्ञान का कार्य है। नीति-शास्त्र के प्रमुख पंडितों का कथन है, कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के प्रभाव में नैतिक आचरण संभव नहीं। जहाँ स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं, वहाँ कर्तव्य नहीं। परन्तु आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अभ्यासजन्य एक धारणा मात्र है। यदि इन मनोवैज्ञानिकों का यह कथन सत्य मान लिया जाय, तो नीति-शास्त्र का मुख्य आधार-स्तम्भ[8] ही नष्ट हो जाय। अतएव हमें मनोविज्ञान के गम्भीर-अध्ययन से यह निश्चित करना पड़ता है, कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कोई तात्त्विक वस्तु है, अथवा नहीं। यदि यह निश्चय करने में हम असमर्थ रहे, तो नीति-शास्त्र का विचार ही व्यर्थ हो जायगा।

मनुष्य का आचरण उसके आदर्श और उसके विशेष प्रकार की मानसिक परिस्थिति के सम्बन्ध का परिणाम है। नीति-शास्त्र के बहुत से पण्डितों का कथन है कि जब तक मनुष्य के स्वभाव के विषय में भली प्रकार से ज्ञान नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तब तक उसके नैतिक आदर्श का निश्चय करना भी सम्भव नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपना नैतिक आदर्श ऐसा बना ले जिसके अनुसार चलना किसी मनुष्य के लिए सम्भव ही न हो, तो वह आदर्श झूठा आदर्श होगा। मनुष्य के जीवन का अन्तिम आदर्श दर्शन-शास्त्र निश्चित करना है, परन्तु उसके जीवन का व्यावहारिक आदर्श मनुष्य की मानसिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के बाद हीं निश्चित किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता नीति-शास्त्र के विद्वानों को कहाँ तक है।

---

1. Appetite, 2. Want, 3. Desire, 4. Freewill, 5. Emotion, 6. Character, 7. Conduct, 8. Basis.

पर हमें नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र न मान लेनी चाहिए। नीति-शास्त्र एक नियामक शास्त्र[1] है और मनोविज्ञान वस्तुविज्ञान[2] है। नीति-शास्त्र के अध्ययन का ध्येय विधि-निषेध की बातों को निश्चित करना है। इसके प्रतिकूल मनोविज्ञान सभी प्रकार के आचरण और विचारों का अध्ययन करता है। एक मनोवैज्ञानिक के लिए बुरे आदमी के आचरण का अध्ययन उतना ही उपयोगी है, जितना एक भले आदमी के आचरण का अध्ययन। वह जितनी रुचि सामान्य लोगों के मन के अध्ययन में दिखाता है, उतनी ही रुचि वह पागलों के मन के अध्ययन में दिखाता है। नीति-शास्त्र का ध्येय सभी प्रकार के आचरणों का अध्ययन करना है, और यह अध्ययन भी इस लिए किया जाता है, जिससे नैतिकता की कसौटी निश्चित की जा सके।

कितने ही नीति-शास्त्रज्ञ मनोविज्ञान को ही नीति-शास्त्र का एक मात्र आधार बना लेते हैं। सुखवादियों[3] ने ऐसा ही किया है। उनके मतानुसार मनुष्य के सभी कार्यों का प्रेरक सुख की इच्छा रहती है। अतएव सुख ही जीवन की सर्वोत्तम वस्तु है, और मनुष्य का कल्याण इसी बात में है कि वह अधिक सुख प्राप्त करने के हेतु आचरण करे। जिस कार्य से सुख की वृद्धि और दुःख की कमी होती है, वही कार्य भला है। पर मनोविज्ञान के ऊपर नीति-शास्त्र को इस प्रकार आधारित करना एक बड़ी भूल है। इससे हम नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र बना देते हैं; और उसके विधि-निषेधात्मक स्वरूप को लुप्त कर देते हैं। केवल वस्तु-स्थिति के आधार पर आदर्श का निश्चय नहीं किया जा सकता। जहाँ पर आदर्श का विचार होता है, वहाँ मनुष्य को वस्तु-स्थिति के स्तर से ऊँचा उठना पड़ता है। अतएव केवल मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के नैतिक आचरण का माप-दण्ड निश्चित करना अनुचित है। कर्तव्य-शास्त्र में प्रधान बात यह नहीं है कि मनुष्य क्या करना चाहता है, वरन् प्रधान बात यह है कि उसे क्या करना चाहिए। मनुष्य में सुख की चाह अवश्य है; परन्तु उसमें इस चाह को नियन्त्रित करने की योग्यता भी है। वह अपने विवेक के द्वारा सुख की चाह को नियन्त्रित कर सकता है। मनुष्य का आदर्श उसके विवेक के द्वारा

1, Normative Science, 2. Positive Science, 3. Hedonists.

निश्चित होता है। मनोविज्ञान अधिकतर उसके सुख की चाह पर जोर डालता है; आदर्श की चर्चा करना दर्शन का विषय माना जाता है। अतएव मनोविज्ञान के आधार पर कर्तव्य का निश्चय नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति-शास्त्र में मनोविज्ञान की बड़ी उपयोगिता है; परन्तु मनोविज्ञान ही नीति-शास्त्र का आधार नहीं बन सकता।

नीति-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र[1]—नीति-शास्त्र के कुछ विद्वानों ने नैतिकता का माप-दण्ड प्राणियों के आचरण और उनकी उन्नति के नियमों पर आधारित किया है। उनका कथन है कि प्राणि-शास्त्र का भली प्रकार अध्ययन किये बिना नैतिकता के सिद्धान्तों को निश्चित करना सम्भव नहीं। मनुष्य के जीवन में इतनी कृत्रिमता आ गई है, कि उसके वर्तमान आचरण को देखकर अथवा उसके नैतिकता के वर्तमान विचारों को जानकर नैतिकता का माप-दण्ड स्थिर करना सम्भव नहीं। इसके लिए हमें मनुष्य से भिन्न प्राणि-जीवन का अध्ययन करना चाहिए। जो दूसरे प्राणियों के जीवन के नियम हैं, उन्हीं के अनुसार मनुष्य को आचरण करना चाहिए।

उक्त सिद्धान्त को मानकर इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसर महाशय ने नैतिक आचरण के कुछ सिद्धान्तों को निश्चित किया है। उनके अनुसार नैतिक आचरण वह आचरण है, जो वातावरण के अनुकूल हो। बाह्य वातावरण से संघर्ष उत्पन्न होने पर, और प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त न होने पर प्राणी का विनाश हो जाता है। अतएव ऐसा आचरण अनैतिक आचरण है। इस प्रकार की विचारधारा में नीति-शास्त्र का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। दूसरे प्राणियों के आचरण को देखकर मनुष्य को अपने आचरण का आदर्श निश्चित करना बड़ी भूल है। इससे नैतिकता की आदर्शवादिता ही नष्ट हो जाती है। दूसरे प्राणियों में न विवेक होता है, और न धर्माधर्म का विचार। उनमें अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को रोकने की शक्ति नहीं रहती, अर्थात् उनमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं होती। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, और उसमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। वह अपनी जीवन-धारा जिस ओर चाहे मोड़ सकता है। पशु के लिए ऐसा

1. Biology.

करना संभव नहीं। अतएव मानव-जीवन का आदर्श पशु-जीवन के ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता। पशु के लिए जिस आचरण को हम भला आचरण समझते हैं, वही आचरण मनुष्य के लिए बुरा हो सकता है। पशु के लिए प्राकृतिक आचरण भला आचरण है। यह बात मनुष्य के आचरण के विषय में सत्य नहीं है।

प्राणी-शास्त्र वास्तविकतावादी विज्ञान[1] है, और नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान[2] है। प्राणी-शास्त्र जैसी वस्तु-स्थिति है उसे अध्ययन करता है, अर्थात् वह प्राणियों के सामान्य आचरण को जानने की चेष्टा करता है; परन्तु नीति-शास्त्र आचरण कैसा होना चाहिए, इसे जानने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से भी दोनों विद्याओं में बड़ा अन्तर है।

नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र—नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य में तार्किक शक्ति का विकास होने के पूर्व उसमें किसी भी प्रकार के दार्शनिक विचार की क्षमता नहीं आती। वह जीवन का आदर्श क्या है, और नैतिक जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए; इसका निर्णय नहीं कर सकता। किसी प्रकार के आचरण का औचित्य दर्शाते समय मनुष्य कभी-कभी विशेष प्रकार की तार्किक भूलें करता है। वह अपने आचरण की नैतिकता सिद्ध करने के लिए बहानेबाजी भी करता है। अपने विचारों की ऐसी भूलों को समझने के लिए तर्क-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता है।

नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र दोनों ही नियामक[3] विज्ञान हैं। अतएव एक का स्वरूप समझने के लिए दूसरे का स्वरूप समझना आवश्यक होता है। कुछ नीति-शास्त्र के विद्वानों ने तर्क-शास्त्र को ही नीति-शास्त्र का आधार मान लिया है। उनके कथनानुसार जिस प्रकार दो पारस्परिक विरोधी विचार सही नहीं हो सकते, उसी प्रकार पारस्परिक विरोधी आचरण सही नहीं होता। सही आचरण वह है, जिसमें स्वगत विरोध का अभाव पाया जाता है। नीति-शास्त्र की परिभाषा करते समय कुछ विद्वानों ने इसे आचरण का न्याय कहा है।*

---

1. Positive Science, 2. Normative Science,
3. Normative. * Ethics in the logic of conduct.

परन्तु, हमें नीति-शास्त्र को इस प्रकार तर्क-शास्त्र के ऊपर पूर्णतः निर्भर न मान लेना चाहिए। दोनों विद्याओं में समता अवश्य है, और एक के समझने से दूसरे के समझने में सहायता मिलती है। किन्तु दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। (तर्क-शास्त्र का क्षेत्र विचार का क्षेत्र है, और नीति-शास्त्र का क्षेत्र आचरण का क्षेत्र है। तर्क-शास्त्र सही विचार के माप-दण्ड को निश्चित करता है, और नीति-शास्त्र सही आचरण के माप-दण्ड को निश्चित करता है)। विचारों में स्वगत विरोध होना अक्षम्य है। स्वगत विरोध होने पर मनुष्य किसी सत्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता, किन्तु आचरण में स्वगत विरोध उतना बुरा नहीं जितना कि अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण करना बुरा है। कभी-कभी ऊपर से पारस्परिक विरोधी दिखाई देने वाला आचरण भी नैतिक आचरण होता है। मनुष्य सभी परिस्थितियों में एक सा आचरण नहीं कर सकता; और सभी परिस्थितियों में एक-सा आचरण करना नैतिकता की दृष्टि से उचित भी नहीं है। परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के आचरण में भेद होता रहता है। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि मनुष्य अपने लक्ष्य को न भूले।

(फिर, विचार की भूल को हम उतना बुरा नहीं मानते, जितना कि आचरण की भूल को बुरा मानते हैं। विचार में भूल करने वाले व्यक्ति को हम कभी-कभी भोला-भाला अथवा कभी उसे मूर्ख कहते हैं। परन्तु आचरण में भूलें करने वाले व्यक्ति को हम अपराधी, दुराचारी अथवा पापी कहते हैं। विचार की भूल क्षम्य होती है, पर आचरण की भूल अक्षम्य होती है। विचार की भूलों की वैसी निन्दा नहीं की जा सकती, जैसी आचरण की भूलों की की जाती है। विचार की अत्यधिक भूल करने वाला व्यक्ति पागल समझा जाता है। पागल को दण्ड देने का विचार कोई नहीं लाता। आचरण की भूल करने वाले व्यक्ति को अपराधी माना जाता है, और उसके लिए उसे दण्ड देना उसके और समाज के कल्याण के लिए आवश्यक होता है।)

विचार के दोष और आचरण के दोष के दो भिन्न-भिन्न स्तर हैं। विचार में दोष विचार की अपरिपक्वता से होता है, और आचरण का दोष हृदय की अपवित्रता के कारण होता है। जब किसी मनुष्य के कार्य का हेतु बुरा होता है, तभी हम उसके आचरण को बुरा कहते हैं। जो व्यक्ति केवल विचार की भूल के

कारण कोई अनुचित कार्य करता है, उसे हम बुरा व्यक्ति नहीं मानते। बुरा व्यक्ति वह है, जिसका चरित्र ही बुरा है, जिसके मन में सदा स्वार्थी विचार आते रहते हैं; और जिसकी बुद्धि परोपकार की ओर नहीं जाती। ऐसा व्यक्ति कुशल चिन्तक हो सकता है; परन्तु उसके विचार की कुशलता उसके आचरण को नैतिक दृष्टि से ऊँचा नहीं बनाती।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है, कि नीति-शास्त्र का क्षेत्र तर्क-शास्त्र के क्षेत्र से भिन्न है। दोनों प्रकार की विद्याओं में समता होते हुये भी वे एक दूसरे से भिन्न हैं; और नीति-शास्त्र को तर्क-शास्त्र की एक शाखा मात्र नहीं माना जा सकता।

नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र[1]—जिस प्रकार नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी प्रकार नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का लक्ष्य किसी विशेष प्रकार के माप-दण्ड का अन्वेषण करना है। सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य के माप-दण्ड का अन्वेषण करता है, और नीति-शास्त्र आचरण के माप-दण्ड अर्थात् नैतिकता के माप-दण्ड का। नीति-शास्त्र के कुछ विद्वानों ने नैतिक आचरण को सुन्दर आचरण कहा है। उनके कथनानुसार सौन्दर्य्य के माप-दण्ड का ज्ञान होने पर नैतिकता के माप-दण्ड का भी ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार कला में सौन्दर्य्य के नियमों को भङ्ग करने से उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आचरण में सुन्दरता के नियमों की अवहेलना करने से आचरण बुरा हो जाता है। इन पण्डितों के अनुसार असुन्दर और बीभत्स आचरण ही अनैतिक आचरण है। अतएव जिस व्यक्ति को सुन्दरता का ज्ञान नहीं, और जिसे सुन्दरता की परख करने की उचित शिक्षा नहीं मिली है; वह कभी भी नैतिक-आचरण करने की योग्यता नहीं रखता। जिसके रहन-सहन में, चाल-ढाल में असुन्दरता है; उसके आचरण में सुन्दरता होना कठिन है।

पश्चिम में प्राचीन काल के यूनानी सुन्दरता के परम उपासक थे। वे सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों, संगीतों और नाटकों का निर्माण करते थे। उनके रहन-सहन में और बोलने के ढंग में सुन्दरता थी। वे अपने शरीर को भी अनेक प्रकार से

---

1. Æsthetics.

सुन्दर बनाने की चेष्टा करते थे। वे सुन्दरता की वृद्धि के सभी कार्यों को बड़े मनोयोग के साथ इसलिए भी करते थे, क्योंकि वे समझते थे कि सुन्दरता की वृद्धि करना मानव-जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करता है, वह उतना ही अधिक अपने आचरण को ऊँचा बनाता है। इन सुन्दरता के उपासकों में पीछे यह भी विचार आ गया था, कि जिस व्यक्ति का रूप-रंग और आकार सुन्दर है; उसकी आत्मा भी अवश्य सुन्दर होगी, और जो व्यक्ति कुरूप है, उसकी वैसी ही आत्मा भी अवश्य होगी।

सुन्दरता और नैतिकता[1] में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु सुन्दरता को ही नैतिकता नहीं कहा जा सकता। अपने जीवन में सुन्दरता न रखने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की बात कोई नहीं सोचता, किन्तु आचरण में अनैतिकता प्रदर्शित करने वाले को दण्ड दिया जाता है। सुन्दरता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति समाज में वैसा निन्दनीय नहीं माना जाता, जैसा कि नैतिकता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति माना जाता है। फिर कितने ही प्रकार का नैतिक आचरण ऐसा होता है, जो देखने में असुन्दर होता है। भंगी का काम सुन्दरता की दृष्टि से नीचा भले ही दिखाई दे, पर नैतिकता की दृष्टि से उसी कोटि का हो सकता है; जिस कोटि का एक कवि का अथवा कलाकार का कार्य होता है। रोगियों की सेवा करते समय मनुष्य को अनेक प्रकार की गन्दगी में रहना पड़ता है। सुन्दरता का उपासक कलाकार प्रायः ऐसी गन्दगी में रहना पसन्द न करेगा। परन्तु नैतिकता की दृष्टि से रोगियों की सेवा करना, उनके घावों को धोना और मलहम पट्टी करना, उनका पाखाना फेंकना बड़े ऊँचे काम हैं। फिर यह कहना भी भूल है, कि शरीर से सुन्दर व्यक्ति का आचरण भी सुन्दर होता है और अपने शरीर को आकर्षक बनाना नैतिकता की दृष्टि से ऊँचा काम है। इस भूल में पड़कर महात्मा सुकरात को यूनान के सुन्दरता के उपासक जहर देने में इसलिए नहीं हिचके, कि उसका बदन सुन्दर नहीं था और वह एक फक़ीर के समान फटे पुराने कपड़े पहन कर अपना जीवन व्यतीत करता था। शरीर का सौन्दर्य और

---

1. Morality.

आचरण का सौन्दर्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, और जिस माप-दण्ड से कला की सुन्दरता मापी जाती है, उससे आचरण की सुन्दरता नहीं मापी जा सकती।

सुन्दरता के माप-दण्ड और नैतिकता के माप-दण्ड में एक और मौलिक भेद है। सुन्दरता का माप-दण्ड निर्मित पदार्थ की कीमत करता है, और नैतिकता का माप-दण्ड उस क्रिया की कीमत करता है, जिसके द्वारा किसी पदार्थ का निर्माण होता है। हम किसी कलाकार को सुन्दर कलाकार कह सकते हैं, यदि उसने पहले कभी सुन्दर कला का निर्माण किया हो। वर्तमान समय में वह कला निर्माण कर रहा है अथवा नहीं, यह बात उसके सुन्दर कलाकार होने में बाधक नहीं होती। परन्तु हम किसी व्यक्ति को भला व्यक्ति तब तक नहीं कहते, जब तक वह हर समय भला आचरण नहीं करता। अरस्तू महाशय का कथन है कि, "भलाई करने के लिए कोई भी दिन छुट्टी का दिन नहीं।"* मनुष्य जब तक जीता है, उसे भला काम करते ही रहना चाहिये, जब वह निष्क्रिय हो जाता है, तो वह भला नहीं रहता।

सुन्दरता का माप-दण्ड एक बाहरी वस्तु से सम्बन्ध रखता है, और नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक भावों से। अच्छे भाव रखने वाले व्यक्ति की कला को हम सुन्दर कला नहीं कहते। सुन्दर कला उस कला को कहा जाता है, जो ऊपर से सुन्दर दिखाई देती है। हम कला की सुन्दरता की कीमत आँकते समय कलाकार के हेतुओं पर विचार नहीं करते, परन्तु नैतिकता में आचरण की श्रेष्ठता जानने के लिए मनुष्य के कार्य के हेतुओं को जानना अति आवश्यक है। मनुष्य का कोई काम सुन्दर हो अथवा असुन्दर, समाजोपयोगी हो अथवा निकम्मा, उसकी मौलिकता उसके हेतु के ऊपर निर्भर है, अर्थात् नैतिकता में मनुष्य के हृदय को जानने की चेष्टा की जाती है, और उसकी आन्तरिक भावनाओं के ऊपर ही भले और बुरे का विचार किया जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य-शास्त्र और नीति-शास्त्र में बहुत कुछ समानता होते हुए भी दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं, और वे भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों की कीमत आँकते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र का विशेष मतलब निर्मित वस्तु से

---

* There is no holiday for virtue.

रहता है, और नीति-शास्त्र का विशेष सम्बन्ध क्रिया तथा उसके हेतु से रहता है। इन दोनों शास्त्रों में मुख्य भेद यही है।

नीति-शास्त्र और-तत्त्वविज्ञान[1]—तत्त्वविज्ञान शब्द कभी-कभी दर्शन[2] के सभी विभागों के लिए आता है, और कभी-कभी यह शब्द उस विद्या के लिए काम में आता है; जिसमें संसार के आन्तिम तत्त्वों की चर्चा की जाती है। इसे अँग्रेजी में "मेटाफिजिक्स" कहते हैं। पाश्चात्य-विचारधारा के अनुसार दर्शन अर्थात् फिलासफी के निम्न लिखित पाँच अंग माने गये हैं—तर्क-शास्त्र[3], सौन्दर्य-शास्त्र,[4] नीति-शास्त्र,[5] मनोविज्ञान[6] और तत्त्व-विज्ञान। इन पाँचों अंगों का सम्पूर्ण ज्ञान दार्शनिक ज्ञान कहलाता है। तत्त्व-विज्ञान दूसरे चार प्रकार की विद्याओं के ऊपर का ज्ञान है। प्रत्येक शास्त्र कुछ बातें मानकर चलता है। ये बातें उस शास्त्र की पूर्व-मान्यताएँ[7] कहलाती हैं। वह उन पूर्व-मान्यताओं की तात्त्विक वास्तविकताओं को सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। मनोविज्ञान मन की उपस्थिति को मानकर चलता है। पर मन का तात्त्विक रूप क्या है, इसे जानने के लिए हमें तत्त्व-विज्ञान का अध्ययन करना पड़ता है। इसी प्रकार न्याय-शास्त्र, सौन्दर्य्य-शास्त्र और नीति-शास्त्र की कुछ पूर्व-मान्यताएँ हैं। इन पूर्व-मान्यताओं का अध्ययन तत्त्व-विज्ञान में होता है। नीति-शास्त्र की निम्नलिखित पूर्व-मान्यतायें हैं—

(१) निःश्रेय अथवा सर्वोत्तम[8] पदार्थ की उपस्थिति,
(२) मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[9],
(३) सृष्टि का भलाई की ओर जाना[10],
(४) आत्मा का अमरत्व[11], और
(५) ईश्वर का अस्तित्व और उसकी पूर्णता[12]।

इन पाँचों बातों पर प्रकाश तत्त्व-विज्ञान डालता है। नीति-शास्त्र के कुछ

---

1. Metaphysics, 2. Philosophy, 3. Logic, 4. Æsthetics, 5. Ethics, 6. Psychology, 7. Postulates, 8. Summum bonum, 9. Freedom of will, 10. Movement towards progress, 11. The immortality of soul, 12. Perfection of God.

विद्वान पिछली दो बातों में विश्वास करना, नीति-शास्त्र के माप-दण्ड के निरूपण के लिए आवश्यक नहीं समझते। जड़वादी[1] नीति-शास्त्र के विद्वान् न आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, और न ईश्वर में। वे नीति-शास्त्र का प्रधान आधार मानव-समाज की आवश्यकता में ही ढूँढ़ते हैं।

पिछली दो पूर्वमान्यताओं को छोड़ कर यदि हम शेष तीन पूर्व-मान्यताओं पर विचार करें, तो देखेंगे कि नीति-शास्त्र के लिए उन्हें मानना अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य निराशावादी[2] है और सांसारिक घटनाओं के अन्तिम प्रयोजन को शुभ नहीं मानता, तो उसके लिए नैतिक आचरण करना अत्यन्त कठिन होता है। मनुष्य तभी नैतिक आचरण करता है, जब वह समझता है कि अन्तिम शुभ पदार्थ[3] कोई है। यह अन्तिम शुभ पदार्थ क्या है, इसके ऊपर तत्त्व-विज्ञान प्रकाश डालता है।

नीति-शास्त्र की दूसरी पूर्वमान्यता स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अभाव में नैतिक आचरण सम्भव नहीं है। यह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति क्या है, इसके ऊपर तत्त्व-विज्ञान प्रकाश डालता है। हम देखते हैं कि मनुष्य एक ओर परिस्थितियों का दास है, और दूसरी ओर वह परिस्थितियों के ऊपर विजय-प्राप्ति की चेष्टा भी करता रहता है। परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने वाला तत्त्व ही नैतिकता का आधार है। पर यह तत्त्व क्या है, इसका ज्ञान नीति-शास्त्र को नहीं है; इसके लिए तत्त्व-विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता होती है।

जिस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा शक्ति में विश्वास, नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सांसारिक घटनाओं के नियन्त्रण करने वाले नियम की भलाई में विश्वास भी नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है। यदि संसार की घटनाएँ किसी न्याययुक्त नियम के द्वारा घटित नहीं होती हैं, तो किसी व्यक्ति में नैतिक आचरण के लिये उत्साह ही न रहेगा। मनुष्य अपने आचरण को इस लिये ही न्याययुक्त बनाने की चेष्टा करता है, क्योंकि वह जानता है कि सारी सृष्टि एक नैतिक नियम के द्वारा संचालित हो रही है। भले कार्य का

---

1. Materialist, 2. Pessimist. 3. Highest Good summum bonum.

फल भला होता है, और बुरे का बुरा। भले तथा बुरे काम और उनके फल की उपस्थिति में समय का अन्तर कितना ही पड़े, परन्तु ऐसा होना असम्भव है कि भले काम का परिणाम बुरा हो, और बुरे काम का परिणाम भला। जन-साधारण की किंवदन्ती 'रोपै पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय' में तात्त्विक सत्य है। यह सत्य ही मनुष्य को नैतिक आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। जो लोग संसार की घटनाओं में किसी भले नियम को कार्यान्वित होते हुये नहीं देखते, उनका हृदय से सदाचारी होना बड़ा कठिन है। ऐसे लोग प्रायः क्रूर-कर्मा अथवा विक्षिप्त होते हैं। उन्हें नैतिक आचरण की उपयोगिता समझना असम्भव है। ऐसे लोगों को नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि विद्याओं के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या है? इन लोगों के जीवन का सिद्धांत 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वे साधुओं और पागलों के जीवन में कुछ भी भेद नहीं रखते।

इमेनुअल कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिक जीवन का आधार आत्मा के अमरत्व और परमात्मा की पूर्णता में विश्वास भी है। जो मनुष्य आत्मा के अमरत्व में विश्वास नहीं करता, उसके लिए यह मानना कठिन होता है कि सभी भले कार्यों का परिणाम भला होता है। हम समान्यतः देखते हैं कि बहुत से सदाचारी लोग जीवन भर कष्ट सहते रहते हैं। वे अपने भले कामों का पुरस्कार इस जीवन काल में नहीं पाते। इसके प्रतिकूल बहुत से दुराचारी, कपटी, धूर्त लोग संसार में खूब फलते-फूलते दिखाई देते हैं। यदि कोई मनुष्य आत्मा के अमरत्व अथवा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता, तो उसे अपना आचरण भला बनाने के लिए कोई आन्तरिक प्रेरणा होना कठिन है। वह अपने आचरण को उतनी ही दूर तक भला बनाने की चेष्टा करेगा, जहाँ तक वह इस भले आचरण से कुछ लौकिक लाभ उठा सकता है। ऐसा व्यक्ति किसी ऐसे बुरे काम के करने से भी अपने-आप को न रोकेगा, जिसे वह संसार की आँखों से छिपा सकता है। आत्मा के अमरत्व में विश्वास करने वाला व्यक्ति स्वर्ग-नरक की अथवा पुनर्जन्म की कल्पना करता है। उसकी ये कल्पनायें एक ओर उसे भले कामों में प्रोत्साहित करती हैं, और दूसरी ओर बुरे कामों से उसे रोकती हैं। जिस व्यक्ति को यह पूर्ण विश्वास रहता है कि भले या बुरे काम का

फल इस जीवन में नहीं मिलता, उसका फल किसी-न-किसी प्रकार इस जीवन के बाद मिलता है, उसकी अनैतिक आचरण करने की सम्भावना कम रहती है। वह कर्मफल के प्रति उदासीन होकर भी शुभ कर्म को करता ही जायगा। उसकी बुद्धि में प्रत्येक शुभ कर्म का करना किसी साखवाली बैंक में रुपया जमा करने के समान होता है। मनुष्य बैंक के हिसाब से उतना ही रुपया ले सकता है, जितना उसने जमा किया है। यदि कोई बैंक उसके चेक के भुगतान में देर करती है, तो वह उसके जमा किये हुये रुपये का ब्याज उतना ही अधिक देती है। इसी प्रकार यदि किसी भले काम का फल हमें तुरन्त नहीं मिलता और फल के मिलने में अधिक देर लगती है, तो हमारा मूलधन तो कम होता ही नहीं, उसका ब्याज दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। आत्मा के अमरत्व और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास उक्त मनोवृत्ति को उत्पन्न करते हैं। पर ईश्वर और आत्मा क्या वस्तु हैं, इनका ज्ञान नीति-शास्त्र नहीं कराता; इसके लिए तत्त्वविज्ञान की आवश्यकता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जड़वादी दार्शनिक अथवा नीति-शास्त्र के विद्वान् आत्मा के अमरत्व तथा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इनके लिए नैतिक आचरण करने में जो कठिनाई होगी, वह कठिनाई इन तत्त्वों को मानने वाले व्यक्तियों में होने की कम सम्भावना है। कुछ धार्मिक लोग, जो आत्मा के अमरत्व और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, दुराचारी भी होते हैं। इसका कारण यह है कि वे सच्चे हृदय से धार्मिक नहीं हैं। वे प्रायः समाज के भय से अथवा रुढ़िवादिता के कारण धार्मिक बने रहते हैं। वे स्वार्थवादी होते हैं, और धर्म को भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाते हैं। ऐसे लोगों में से जिनकी तीव्र बुद्धि होती है, वे संशयवादी होते हैं। सच्चे धार्मिक व्यक्ति का नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करना यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

बौद्ध दार्शनिक आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, तिस पर भी वे उच्च कोटि के नैतिक आदर्श मनुष्य के सामने रखते हैं। परन्तु हमें इनके विषय में यह न भूल जाना चाहिए कि वे पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं; और वे यह भी मानते हैं कि भले काम का फल भला होना और बुरे काम का फल बुरा

होना अनिवार्य है। बौद्ध दर्शन जड़वादी नहीं वरन् आध्यात्मवादी है। जीव का सांसारिक दृष्टि से पुनर्जन्म होना और तात्विक रूप से उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना सम्भव है। बौद्ध दर्शन में जिस आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह किया गया, वह संस्कार सम्पन्न जीव ही है।

नीति-शास्त्र और धर्म[1]—नीति-शास्त्र और धर्म का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि भारतवर्ष में नीति-शास्त्र को धर्मशास्त्र ही कहा गया है। ऊपर हमने तत्त्व-विज्ञान और नीति-शास्त्र के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे इन दोनों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। शोपनहावर महाशय का कथन है कि धर्म ही सामान्य जनता का तत्त्व-विज्ञान है*। अतएव तत्त्व-विज्ञान का सम्बन्ध नीति-शास्त्र से बताते हुए यह बहुत दूर तक बताया जा चुका है कि नैतिक आचरण के लिए धर्म की कहाँ तक आवश्यकता है।

सामान्य जनता को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान विभिन्न मतों के धर्म-गुरु ही कराते हैं। यदि हम संसार के प्रमुख धर्मों को देखें, तो उनमें पर्याप्त नैतिक शिक्षा पावेंगे। सामान्य मनुष्य धर्म में बताई बातों से प्रभावित होता है। धर्म पुनर्जन्म अथवा आत्मा के अमरत्व में विश्वास पैदा कराता है। इसमें स्वर्ग-नरक की कल्पना भी रहती है। अतएव मनुष्य को सदाचारी बनने के लिए वह अनेक प्रकार से प्रेरित करता है।

भारतवर्ष में नीति-शास्त्र और धर्म-शास्त्र में प्रायः एकता पाई जाती है। परन्तु दूसरे देशों में धर्म-शास्त्र को "थेओलाजी" के नाम से पुकारा जाता है। थेओलाजी में ईश्वर, आत्मा आदि बातों की चर्चा रहती है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और उसके नियमों पर भी विचार रहता है। इस प्रकार का विचार पुराने समय में नैतिकता का आधार माना जाता था। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर की भलाई और न्याय-प्रियता में विश्वास एक ओर धर्म का आधार है; और दूसरी ओर नैतिकता का। इस तरह धर्म नैतिकता का आधार होता है, और नैतिकता भी

---

1. Religion.

* Religion is the metaphysics of the masses.— Selected Essays.

धर्म से सदा सम्बन्ध रखती है। (डेकार्ट और लॉक महाशय इस विचार के प्रवर्तक थे, कि धर्म ही नैतिकता का मूल स्रोत है। ईश्वर में विश्वास करने के कारण ही मनुष्य नैतिक आचरण करता है। संसार की धर्म-पुस्तकों में बतलाई हुई ईश्वरीय आज्ञा का पालन करना ही नैतिकता है।)

उक्त विचार से भिन्न मार्टिनो और कान्ट महाशय के विचार हैं। इन विद्वानों के विचारानुसार नैतिकता ही धर्म का आधार है। (महात्मा गाँधी का भी यही विचार था। उनका कथन था कि जब मनुष्य नैतिकता को छोड़ देता है, तो वह धर्म से भी विमुख हो जाता है*)। मार्टिनों महाशय का कथन है, कि मनुष्य की अन्तरात्मा की आवाज[1] उसे उचितानुचित का ज्ञान कराती है, और साथ-ही-साथ उसे उचित काम करने के लिए प्रेरणा देती है; तथा अनुचित काम करने से रोकती है। मनुष्य अपनी अन्तरात्मा से नैतिक आचरण के लिए जो प्रेरणा पाता है; वही इस बात को सिद्ध करता है कि संसार का एक महाप्रभु है, और हमारा उसके प्रति उत्तरदायित्व है। उस महाप्रभु के बारे में हम फिर कल्पना करते हैं; कि वह अवश्य सर्वशक्तिमान, सर्वदर्शी, और पूर्णतया न्याय प्रिय होगा; वह न केवल हमारे प्रकाशित कार्यों को जानता है, वरन् हमारे मन के भीतर रहने वाले हेतुओं और मन्तव्यों को भी जानता है। उसकी शक्ति असीम है, और वह स्वभावतः ही धार्मिक पुरुषों को प्रसन्न करता है, तथा दुष्टों को दण्ड देता है। ऐसे न्याय-प्रिय ईश्वर में विश्वास करना ही धर्म है। इससे यह स्पष्ट है, कि धर्म का आधार मनुष्य की नैतिक भावनाएँ हैं।

कान्ट महाशय का कथन है, कि हम अपनी नैतिक अनुभूति[2] के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि भलाई के साथ सुख, और बुराई के साथ दुःख का अनिवार्य सम्बन्ध है। किन्तु हम अपने लौकिक अनुभव में इस बात को नहीं पाते। हम संसार में देखते हैं कि साधु लोग प्रायः कष्ट पाते हैं; और दुष्ट लोग मौज उड़ाते हैं। अब इस अन्तः अनुभूति और लौकिक अनुभव की विषमता को मिटाने के लिए हमें एक ऐसे परमात्मा को मानना पड़ता है; जो सर्वदर्शी, सर्व

---

* When a man ceases to be moral, he ceases to be religious.

1. Conscience. 2. Moral intuition.

शक्तिमान और न्याय-प्रिय है। वह अन्त में साधुओं को सुखी बनाता है और दुष्टों को दण्ड देता है। इस प्रकार हमारी अन्तः अनुभूति ही ईश्वर के अस्तित्व और उसकी पूर्णता का आधार है। इस दृष्टि से नैतिकता धर्म का आधार है।

संसार में कई प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। कुछ धर्मों में बाह्य क्रिया—यज्ञ, होम, तप, पूजा-पाठ आदि की प्रधानता रहती है, और कुछ में आचरण और मानसिक शुद्धि पर जोर दिया जाता है। जिस धर्म में जितना ही बाहरी बातों को महत्त्व दिया जाता है; और आचरण और विचार की शुद्धि अर्थात् नैतिक बातों को कम महत्व दिया जाता है, वह उतना ही निम्नकोटि का है। कितने ही धर्म ऐसे हैं, जिनमें नैतिकता के प्रतिकूल बातों को क्षम्य मान लिया जाता है, अथवा उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार के धर्म वास्तव में धर्म नहीं हैं। वे मनुष्य को अविकसित मानसिक अवस्था के परिचायक हैं। जब धर्म के मानने वाले लोगों का आचरण नैतिकता की दृष्टि से निम्नकोटि का हो जाता है, तो संसार के विचारवान् लोग धर्म की निन्दा करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में विद्वान् पुरुष, ईश्वर को जनता को धोखा देने वाली कोरी कल्पना मात्र मानने लगते हैं। मानव समाज धर्म के बिना चल सकता है; परन्तु नैतिकता के बिना नहीं चल सकता। आधुनिक काल में संसार के बहुत से वैज्ञानिक मनोवृत्ति के समाज-सुधारक धर्म को पुरोहितों का कोरा ढोंग-ढकोसला मानने लगे हैं। उनका विचार है कि धर्म धनियों के द्वारा गरीब जनता का शोषण कराता है; और समाज के ठग लोगों को शरण देता है। धर्म की आड़ में अनेक प्रकार के अनैतिक कार्य होते हैं। अतएव धर्म के न रहने पर ही मनुष्य में सच्ची नैतिकता आ सकती है; और ऐसी अवस्था में ही समाज का सच्चा कल्याण हो सकता है। वर्तमान समय में धर्म के प्रति विद्रोह का भाव, वास्तव में धर्म के विकृत रूप के प्रति विद्रोह का भाव है। यदि हम धर्म के सच्चे रूप पर विचार करें, तो हम उसे मानव-समाज का महान कल्याणकर्त्ता पावेंगे। धर्म न केवल नैतिकता का आधार है, वरन् मनुष्य को स्थायी शान्ति देने का एक मात्र साधन है। इसे हमारे पुराने ऋषियों ने मानव-जीवन का सार भाग माना है। इसके बिना मानव-जीवन पशु-जीवन के समान है।

नीति-शास्त्र और राज-नीति[1] का सम्बन्ध—नीति-शास्त्र और राज-नीति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीति किसी देश की सरकार को चलाने के सिद्धान्त और राष्ट्र के विभिन्न अंगों के आपस के सम्बन्ध और उनके उत्तरदायित्व को बताती है। यह नीति-शास्त्र के समान नियामक[2] अर्थात् विधिनिषेधात्मक विज्ञान है। राजनीति ऐसे नियमों को बताती है, जिनसे समाज की संस्थाएँ सुसंगठित रह सकें और समाज के व्यक्ति उसकी भलाई के लिए काम करें। इसके लिए सरकार की स्थापना की जाती है। किसी राष्ट्र की सरकार समाज की भलाई के लिए अनेक नियम बनाती है; और इन नियमों के तोड़ने वालों के लिए दण्ड-विधान बनाती है। राजनीति का उद्देश्य समाज की भलाई करना है; और नीति-शास्त्र का उद्देश्य यह निश्चित करना है, कि प्रत्येक व्यक्ति की भलाई किस बात में है, अर्थात् उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है? व्यक्ति के सुख और पूर्णता पर समाज का सुख और उसकी पूर्णता निर्भर है। इसी तरह समाज के सुख और उन्नति पर व्यक्ति के सुख और उन्नति निर्भर हैं, अतएव राजनीति और नीति-शास्त्र में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीति के नियमों का आधार समाज के नैतिक नियम रहते हैं; और नैतिकता के विकास के लिए समाज का सुसंगठित होना अत्यावश्यक है। मनुष्य समाज की सेवा करके अपने नैतिक जीवन को पूर्ण बनाता है, परन्तु मनुष्य में समाज की सेवा के भाव उत्पन्न करने और उसे समाज की सेवा का अवसर सुलभ करने के लिए सुगठित राज्य की आवश्यकता होती है।

संसार के कुछ विद्वानों ने नीति-शास्त्र को राजनीति की एक शाखा माना है; और कुछ ने राजनीति को नीति-शास्त्र की शाखा माना है। हाब्ज़ महाशय का कथन है कि मनुष्य में नैतिक विचार तभी उत्पन्न हो सकते हैं, जब समाज में अच्छा संगठन हो और राज्य भली प्रकार से चल रहा हो। ऐसी स्थिति में मनुष्य काम का बटवारा करता है, और अपने अधिकारों और कर्तव्यों का निश्चय करता है। मनुष्य स्वभावतः ही स्वार्थी प्राणी है; और यदि उसे किसी सत्ता का

---

1. Politics. 2. Positive.

भय न हो, तो वह अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने में कुछ भी न हिचकेगा। राजनैतिक नियम ही पहले-पहल मनुष्य को दूसरे के अधिकार छीनने से रोकते हैं; और उसे आत्म संयम की शिक्षा देते हैं। यही शिक्षा आगे चलकर मनुष्य में नैतिक भावनायें उत्पन्न कर देती है। बाहर के दण्ड का भय पीछे अभ्यासवश अन्तरात्मा-द्वारा दिये जाने वाले भय में परिणत हो जाता है।

प्लेटो, अरस्तू, हीगल, ग्रीन आदि महाशय के विचार हाब्ज़ महाशय के उक्त विचारों के प्रतिकूल हैं। इनके कथनानुसार राजनीति नीति-शास्त्र की शाखा मात्र है। मनुष्य के नैतिक आचरण का आधार केवल बाहरी सत्ता का भय नहीं है। मनुष्य में नैतिक आचरण करने की स्वतः ही प्रवृत्ति रहती है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप की पूर्णता चाहता है। जैसे-जैसे उसका विचार विकसित होता है, तैसे-तैसे वह जानने लगता है कि यह पूर्णता व्यक्तिगत वस्तु नहीं अपितु सामाजिक वस्तु है। जब तक मनुष्य दूसरों को प्रसन्न और पूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करता, तब तक वह स्वयं भी प्रसन्न और पूर्ण नहीं होता। अवएव समाज-सेवा के भाव से ही समाज में स्थायी संगठन रह सकता है। जब तक मनुष्य में सामाजिक भावों की वृद्धि रहती है, अर्थात् जब तक वह स्वार्थ-त्याग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है, तब तक ही समाज सुसंगठित रहता है। जब मनुष्य सामाजिक संगठन में केवल दूसरों से लाभ उठाने के लिए आता है; और जब वह भय के कारण ही दूसरों की क्षति करने से अपने-आप को रोकता है; तब समाज का संगठन शिथिल हो जाता है। समाज में ऐसी अवस्था में ठग, धूर्त्त और चालबाज लोग ही अधिकारी बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में समाज से नैतिकता उठ जाती है, और थोड़े ही काल में ऐसा समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

प्लेटो महाशय ने अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में उक्त सिद्धान्त का खंडन किया है, जिसका प्रवर्तन हाब्ज़ महाशय ने किया है। हाब्ज़ महाशय प्लेटो के दो हजार वर्ष बाद हुए, परन्तु उनके सिद्धान्त के समान सिद्धान्त उस समय भी प्रचलित था। अतएव इसे पूर्व पक्ष बनाकर इसका भली प्रकार से खण्डन और आत्मा की भलाई के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो महाशय ने अपनी पुस्तक में किया है। यदि हम नैतिकता को राजनैतिक व्यवस्था पर आधारित मान लें, तो हमें उसे एक बाहर से लादी हुई वस्तु मानना पड़ेगा। किन्तु

इस प्रकार की धारणा नैतिकता के मूल भाव के ही प्रतिकूल है। जो व्यक्ति भय-वश नैतिक आचरण करता है, वह वास्तव में भला व्यक्ति नहीं है; क्योंकि वह भय के हट जाने पर बुराई में ही लग जायगा। नैतिकता का सच्चा आधार मनुष्य की अन्तरात्मा की भलाई ही है। जो व्यक्ति नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है, वह राज्य के प्रति अपराध करे अथवा नहीं, समाज को हानि पहुँचावे अथवा न पहुँचावे, परन्तु वह अपने-आप को हानि अवश्य पहुँचाता है, और वह अपने ही प्रति अपराध करता है।

कभी-कभी मनुष्य के राजनैतिक कर्तव्यों और नैतिक कर्तव्यों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उस समय उसका कर्तव्य है कि वह जिसे नैतिक दृष्टि से उचित समझे उसे करे, न कि जिसे राज्याधिकारी भला मानते हैं उसे करे। राज्याधिकारी ऐसे व्यक्ति को दण्ड अवश्य देंगे, परन्तु जो कर्तव्य-परायण व्यक्ति है, वह ऐसे दण्ड को प्रसन्नता से सहता है। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति समाज का सुधार करते हैं, और राजनैतिक क्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं। समाज में अथवा राज्य में जब कभी क्रान्तियाँ होती हैं, तो उनका आधार नैतिक ही रहता है। नैतिकता के प्रतिकूल बनी हुई किसी सामाजिक रूढ़ि को अथवा राजनैतिक संस्था को तोड़ना प्रत्येक विवेकशील, कर्तव्य-परायण व्यक्ति का कर्तव्य होता है।

नैतिकता व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है; राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है। ग्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है, वह समाज का सच्चा कल्याण अपने आप ही कर देता है। वही समाज भला समाज है, जिसमें व्यक्ति को अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। जहाँ व्यक्तिगत आचरण की स्वतन्त्रता में राज्य अत्यधिक हस्तक्षेप करने लगता है, वहाँ मनुष्यों का नैतिक विकास न होकर उनका पतन ही होता है। अतएव सर्वोत्तम राज्य वह है, जो इस सिद्धान्त को ध्यान में रखता है कि मनुष्य के आचरण के लिए कम-से-कम बंधन हो, और अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता हो, अर्थात् जो

राज्य मनुष्य की नैतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपना नियम बनाता है, वही सर्वोत्तम राज्य है।

हमने ऊपर राजनीति और नीति-शास्त्र का सम्बन्ध बताया है; परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु राजनीति का आधार समाज के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्पण है। नीति-शास्त्र का ध्येय मनुष्य को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है, और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीतिज्ञ की दृष्टि बहिर्मुखी[1] होती है; और नीति-शास्त्रज्ञ की दृष्टि अन्तर्मुखी[2]। राजनीति में मनुष्य के बाहरी कामों और उनके फलों पर विचार किया जाता है, पर नीति-शास्त्र में मनुष्य के कार्यों के प्रेरक हेतुओं और संकल्पों पर विचार किया जाता है। राजनैतिक नियमों का आधार पुरस्कार का प्रलोभन और दण्ड का भय होता है, किन्तु नैतिक नियमों का आधार स्वतन्त्र इच्छा और आत्मप्रेरणा होती है। राजनीति में परिस्थितियों के अनुसार अपने आचरण को बनाना और किसी प्रकार अपने कामों में सफलता प्राप्त करना स्तुत्य माना जाता है; किन्तु नीति-शास्त्र ने अवसरवादिता को निन्द्य माना है। उसका ध्येय आन्तरिक पूर्णता की प्राप्ति है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजनीति की अपेक्षा नीति-शास्त्र का स्थान कहीं ऊँचा है। किसी भी राजनैतिक सत्ता का आधार जब तक नैतिक नहीं होता, तब तक वह सत्ता भली नहीं समझी जाती। आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्र अपनी राजनीति में मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अधिक-से-अधिक सुविधायें देते हैं; अर्थात् वे चेष्टा करते हैं, कि राज्य व्यक्ति को अपने आत्म-विकास के लिए अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता दे। आधुनिक जनतन्त्रवादी आन्दोलन का यही लक्ष्य है।

नीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र[3]—समाज-शास्त्र मानव समाज के विकास का अध्ययन करता है। समाज-शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि

---

1. Extraverted. 2. Introverted. 3. Sociology.

मानव समाज अपनी बर्बर अवस्था से वर्तमान सभ्य अवस्था में कैसे आया। आज हम सभ्य समाज में जो भी परम्पराएँ[1], रीति-रिवाज[2] और संस्थाएँ[3] देखते हैं, उनका विकास बर्बर अवस्था से हुआ है। समाज-शास्त्र इस विकास की क्रिया और उसके नियमों को दर्शाने की चेष्टा करता है। यह शास्त्र व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और वह सुसंगठित समाज में एक दूसरे की सहानुभूति और सहायता से रहता है। यदि मनुष्य समाज से अलग रहे तो उसका जीना ही असम्भव हो जाय।

समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाज, रहने के ढंग और संस्थाएँ, प्रचलित रहे हैं। ये रीति-रिवाज, ढंग और संस्थाएँ नीति-शास्त्र के लिए विचार की सामग्री उपस्थित करते हैं। जब हम भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न देशों के रीति-रिवाज और संस्थाओं से परिचित होते हैं, तो हमें यह जानने की चेष्टा करनी पड़ती है कि उनमें से कौन श्रेष्ठ है, और कौन निकृष्ट। जब हम इस तरह सामाजिक संस्थाओं अथवा परम्पराओं के ऊपर विचार करते रहते हैं, तो हमारे सामने नीति-शास्त्र की आवश्यकता आती है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष की छूआछूत की प्रथा और अमेरिका की निग्रो-जाति का श्वेत जाति द्वारा सामाजिक बहिष्कार की प्रथा को लीजिए। यह एक सामाजिक वस्तु है। हम इस प्रकार की व्यवस्था कहीं देखते हैं, और कहीं नहीं देखते। हमें ऐसी प्रथाओं अर्थात् संस्थाओं को देखकर यह सोचना पड़ता है; कि ये उचित हैं, अथवा अनुचित। समाज-शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है, कि ये प्रथायें समाज में कहाँ से आईं; और किन भावों के ऊपर स्थिर हैं। इन बातों को जानकर हम नैतिकता की दृष्टि से उनका मूल्य भली प्रकार से आँक सकते हैं।

नीति-शास्त्र व्यक्ति के आचरण के आदर्श को निश्चित करता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहता है और उसका आचरण समाज के दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में होता है। वह अपने आचरण से समाज का कल्याण करता है

---

1. Traditions. 2. Customs. 3. Institutions.

अथवा अकल्याण, उसे प्रगतिशील बनाता है या उसकी प्रगति में बाधा डालता है, समाज की प्रगति कैसे होती है, आदि बातों का ज्ञान होना समाज की प्रगति चाहनेवाले व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतएव किसी व्यक्ति के आचरण का लक्ष्य निर्धारित करने के लिए, अथवा उसके आचरण का मूल्य आँकने के लिए समाज के संगठन का ज्ञान अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति-शास्त्र बहुत कुछ समाज-शास्त्र के ऊपर निर्भर है। किन्तु इससे हमें यह न समझना चाहिए, कि नीति-शास्त्र समाज-शास्त्र की केवल एक शाखा मात्र है। इस प्रकार की भूल समाज-शास्त्र के सर्वमान्य पण्डित हरबर्ट स्पेंसर ने की थी; और इसी प्रकार की भूल लेस्ली स्टीफन महाशय ने की है। उनके कथनानुसार नैतिकता का विकास समाज के संगठन के ऊपर निर्भर है। जो रीति-रिवाज या संस्थाएँ जाति के अनुभव में उपयोगी पाई गई हैं, वे ही रीति-रिवाज और संस्थाएँ इन विद्वानों के कथनानुसार ठीक हैं; और उन्हीं के आधार पर मनुष्य के कर्तव्य को निश्चित करना चाहिए। इन विद्वानों का कथन है, कि नैतिकता की कसौटी समाज में उसकी सफलता है।

आदर्शवादी नीति-शास्त्रज्ञों के मतानुसार उक्त विचार ठीक नहीं हैं। नीति-शास्त्र विधिनिषेधात्मक अर्थात् नियामक[1] विज्ञान है, और समाज-शास्त्र यथार्थवादी[2] विज्ञान है। एक आदर्श को निश्चित करता है, और दूसरा समाज में विभिन्न आदर्शों की वृद्धि के नियम को समझाता है। नीति-शास्त्र का लक्ष्य समाज में नैतिकता के विकास की क्रिया को समझाना नहीं है, वरन् नैतिकता के अर्थ को स्पष्ट करना है। मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है; और उसे किस ध्येय से समाज में आचरण करना चाहिए, इस बात को नीति-शास्त्र बताने की चेष्टा करता है। समाज-शास्त्र यह दर्शाने की चेष्टा करता है, कि वर्तमान में भले समझे जानेवाले रीति-रिवाज और संस्थाएँ कैसे बनीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति-शास्त्र समाज-शास्त्र का अंग मात्र नहीं है।

सम्भव है कि कोई रीति-रिवाज, जिसे हम आज बुरा समझते हैं, आज से

1. Normative. 2. Positive.

Acc. No. 4053

दो हजार वर्ष पहले भला समझा जाता हो, अथवा कोई रीति जो वास्तव में बुरी है, वर्तमान समय में सभी सभ्य देशों में प्रचलित हो। इन बातों के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि अमुक रीति-रिवाज ठीक है। कितने ही नीति-शास्त्र के विद्वान् नैतिकता के माप-दण्ड को परिस्थितियों पर निर्भर मानते हैं। उनके विचारानुसार जिस प्रकार अन्तिम सत्य को जानना असम्भव है, उसी प्रकार नैतिकता के अन्तिम माप-दण्ड का निश्चय करना भी असम्भव है। अतएव नैतिकता देश और काल पर निर्भर करनेवाली वस्तु है। जो बात एक देश और काल में अच्छी मानी जाती है, वही दूसरे देश और काल में बुरी मानी जाती है। इस सिद्धान्त के प्रमाण में वे विभिन्न समय के तथा विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों को बतलाते हैं। परन्तु यह एक भ्रमात्मक सिद्धान्त है। नैतिकता को समाज की स्थिति की एक छाया मात्र मानना, नैतिकता की मौलिकता को नष्ट कर देना है। नैतिकता का माप-दण्ड एक स्वतन्त्र माप-दण्ड है। समाज के रीति-रिवाज़ इस माप-दण्ड के ऊपर प्रकाश अवश्य डालते हैं; पर वे उसको स्थिर नहीं करते। नैतिकता का सच्चा माप-दण्ड मानव स्वभाव के विश्लेषण से ही निश्चित किया जा सकता है। मनुष्य के आचरण का क्या लक्ष्य होना चाहिए, यह बात मनुष्य स्वभाव में सर्वोत्तम-वस्तु क्या है—इसको जानकर ही कहा जा सकता है, न कि पुराने अथवा वर्त्तमान समय के रीति-रिवाजों को देखकर। नैतिक माप-दण्ड किसी प्रकार के रीति रिवाजों की कीमत आँकता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह समाज के विकास का परिणाम मात्र नहीं है।

समाज-शास्त्र साधारणतः सामाजिक रीति-रिवाजों[1], परम्पराओं और संस्थाओं[2] के विकास का उसी प्रकार अध्ययन करता है, जिस तरह दूसरे विज्ञान निर्जीव पदार्थों का अध्ययन करते हैं। वह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को ध्यान में नहीं रखता। किन्तु नीति-शास्त्र का आधार मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है। एक शास्त्र परिस्थितिओं और घटनाओं को महत्व देता है, और दूसरा मनुष्य के हेतुओं और संकल्पों को। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों का अपने अध्य-

1. Customs. 2. Institutions.

यन के विषय के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तथा क्षेत्र हैं, और नीति-शास्त्र का समावेश समाज-शास्त्र में नहीं किया जा सकता।

नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र[1]—नीति-शास्त्र का जो सम्बन्ध समाज-शास्त्र से है, उससे भिन्न सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र से है। अर्थ-शास्त्र मनुष्य को सुखी बनाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में सहायता करता है, और नीति-शास्त्र का ध्येय मनुष्य को अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता देना है। अर्थ-शास्त्र विषय-सुख को बढ़ाने की चेष्टा करता है; और नीति-शास्त्र आन्तरिक सुख को। वर्तमान काल में अर्थ-शास्त्र का ही महत्व संसार में अधिक हो गया है; अतएव नीति-शास्त्र की अवहेलना होती है। अर्थ-शास्त्र अर्थोत्पादन की विधि बताता है। जिन लोगों का मन धनोत्पादन में लगा हुआ है, वे किसी भी क्रिया की मौलिकता को इस दृष्टि से मापते हैं, कि वह कहाँ तक मनुष्य को धनी बनाती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक पैसा कमा सकता है, वह उतना ही महान् मान लिया जाता है। परन्तु यह दृष्टि-कोण दोष-पूर्ण है। अर्थोपार्जन को अपना लक्ष्य बनाना, मानवता के स्तर से गिर जाना है। धन का कमाना उतनी ही दूर तक अच्छा है, जितनी दूर तक वह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है। जब मनुष्य बिल्कुल निर्धन रहता है, तो उसे दूसरों की गुलामी करनी ही पड़ती है, जिससे उसमें नैतिक स्वतन्त्रता नहीं आती। ऐसा व्यक्ति जीवन के लक्ष्य पर विचार भी नहीं कर सकता। किन्तु जिस व्यक्ति का मन धन ही में फँसा हुआ है, वह भी नैतिक बातों के विषय में अधिक चिंता नहीं करता।

वर्तमान समय के बहुत से अर्थ-शास्त्री धनोत्पादन के सुझाओं को बताते समय प्रायः यह भूल जाते हैं, कि वे सुझाव नैतिक हैं, अथवा नहीं। यदि अर्थ-शास्त्र के पंडित समाज में नैतिकता की वृद्धि को ध्यान में रखते, तो वे पूँजीवाद को ऐसा प्रोत्साहन न देते, जैसा उन्होंने दिया है। अब समाजवादी अर्थ-शास्त्री धनोत्पादन के नये-नये ढंग इस दृष्टि से बताते हैं, जिससे धन का अधिक बँटवारा हो सके। धीरे-धीरे नीति-शास्त्र का प्रभाव अर्थ-शास्त्र के ऊपर पड़ता जा रहा है और अर्थ-शास्त्र का प्रत्येक पंडित धनोत्पादन की विधियों को बताते समय उनकी नैतिकता पर भी विचार करता है।

1. Economics.

नीति-शास्त्र और शिक्षा[1]—जिस प्रकार अर्थ-शास्त्र का नीति-शास्त्र पर निर्भर रहना आवश्यक है, उसी प्रकार शिक्षा का भी नीति-शास्त्र पर निर्भर रहना आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा के सिद्धान्त और उसके लक्ष्य को नीति-शास्त्र की सहायता के बिना निर्धारित करना सम्भव नहीं। शिक्षा का लक्ष्य वही है, जो मानव-जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य के ऊपर नीति-शास्त्र प्रकाश डालता है। शिक्षा में उस लक्ष्य को प्राप्त करने की विधि बताई जाती है। नीति-शास्त्र सैद्धान्तिक[2] विद्या है; और शिक्षा व्यावहारिक विद्या है। नीति-शास्त्र सुन्दर आचरण को बताता है। शिक्षा मनुष्य के द्वारा सुन्दर आचरण करवाने की विधि बताती है। नैतिक जीवन का ध्येय मनुष्य के सामने उच्च-से-उच्च ध्येय को उपस्थित करना है। इस ध्येय की प्राप्ति का मार्ग बताना शिक्षा का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि नीति-शास्त्र का ज्ञान प्रत्येक शिक्षक के लिए अत्यावश्यक है। इस ज्ञान के बिना वह शिक्षक और शिष्य के वास्तविक सम्बन्ध, अनुशासन-विधियों के औचित्य तथा किसी प्रकार के ज्ञान की उपयोगिता को भली प्रकार से नहीं जान सकता। शिक्षा का ध्येय बालक के व्यक्तित्व को सुयोग्य बनाना है। परन्तु सुयोग्य व्यक्तित्व क्या है, इसका ज्ञान नीति-शास्त्र के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं।

प्रश्न

१. नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान से क्या सम्बन्ध है? नीतिशास्त्र की समस्याओं को हल करने में मनोविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता बताइये।

२. नीतिशास्त्र को प्राणीशास्त्र से क्या सहायता मिली है? क्या संसार के अन्य प्राणियों के आचरण को देखकर हम अपने जीवन के नैतिक सिद्धान्त बना सकते है?

३. नीतिशास्त्र को आचरण का तर्क कहा गया है—इस प्रकार का कथन कहाँ तक युक्तिसंगत है। नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का ठीक-ठीक सम्बन्ध बताइये।

---

1. Education. 2. Speculative.

४. विचार के दोष ही आचरण के दोष होते हैं—इस सिद्धान्त की आलोचना करके उचित सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

५. सुन्दर आचरण, नैतिक आचरण है—इस कथन की सत्यता स्पष्ट कीजिये।

६. सुन्दरता को नैतिक आचरण का मापदण्ड मानने में क्या दोष है? सौन्दर्य-शास्त्र और नीति-शास्त्र के दृष्टिकोण के भेद को स्पष्ट कीजिये।

७. नीति-शास्त्र का तत्व-विज्ञान से क्या सम्बन्ध है? नीतिशास्त्र की समस्याओं को हल करने के लिये तत्व-विज्ञान की कहाँ तक आवश्यकता है?

८. धर्म मनुष्य को अनैतिकता की ओर ले जा रहा है—इस कथन में कहाँ तक सत्यता है। धर्म का मानव जीवन के विकास में क्या स्थान है?

९. धर्म और नीति-शास्त्र का सम्बन्ध क्या है? "जब कोई व्यक्ति नैतिकता छोड़ देता है, तो वह अधार्मिक हो जाता है"—इस कथन की सफलता को स्पष्ट कीजिये।

१०. "यदि हम धर्म के सच्चे रूप पर विचार करें, तो हम उसे मानव-समाज का महान कल्याणकर्त्ता पावेंगे।"—इस कथन की विवेचना कीजिये। धर्म का सच्चारूप कौन-सा है?

११. नीति-शास्त्र राजनीति की एक शाखा है। यह विचार कहाँ तक युक्तिसंगत है? नीतिशास्त्र और राजनीति के आपस के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये।

१२. नीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र का सम्बन्ध क्या है? समाजशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के नैतिक आदर्शों पर कहाँ तक प्रकाश पड़ता है।

१३. समाज की नैतिकता शिक्षा पर कहाँ तक निर्भर है। नीति-शास्त्र शिक्षा के कार्य में कहाँ तक उपयोगी है?

———

तीसरा प्रकरण

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या[1]

मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता

हमने पिछले प्रकरण में नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान के सम्बन्ध को बताने की चेष्टा की थी। वहाँ हमने यह कहा था कि मनुष्य के मन का पर्य्याप्त ज्ञान हुए बिना हम नैतिक विषयों पर भली प्रकार से चिन्तन नहीं कर सकते। मनोविज्ञान मनुष्य के मन का सम्पूर्ण अध्ययन करता है। इस अध्ययन में चित्तवृत्ति के विभिन्न प्रकार के पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता है। चेतना[2] के तीन विभिन्न पहलू माने गये हैं—ज्ञानात्मक[3], रागात्मक[4] और क्रियात्मक[5]। मनोविज्ञान में इन तीनों पहलुओं पर विचार होता है। किन्तु नीति-शास्त्र का प्रयोजन चेतना के क्रियात्मक पहलू से ही रहता है। नीति-शास्त्र में चेतना के ज्ञानात्मक और रागात्मक पहलुओं को वहीं तक जानने की चेष्टा की जाती है, जहाँ तक इनका ज्ञान मनुष्य की क्रियाओं के समझने के लिए अर्थात् चेतना के क्रियात्मक पहलू को समझने के लिए अनिवार्य होता है। नीति-शास्त्र का विषय मनुष्य का आचरण[6] है। मनुष्य के आचरण और दूसरे प्राणियों के आचरण में महान् अन्तर है। दूसरे प्राणियों के आचरण में विचार और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का वैसा कार्य नहीं रहता, जैसा मनुष्य के आचरणों में रहता है। नीति-शास्त्र का प्रयोजन ऐसे ही आचरण से होता है, जिसमें मनुष्य के विचार और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। इच्छाशक्ति से किये गये कार्य में ही नैतिक जिम्मेदारी

---

1. Psychological analysis and definitions. 2. Consciousness. 3. Cognitive. 4. Affective. 5. Conative. 6. Conduct.

रहती है। अतएव इनके स्वरूप को जानना, किसी कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता को समझने के लिए, अत्यन्त आवश्यक है।

नीति-शास्त्र में दो प्रकार के प्रश्नों पर विचार किया जाता है—(१) नैतिक विचार का विषय[1] क्या है, और (२) मनुष्य के आचरण की नैतिकता किस माप-दण्ड[2] से मापी जानी चाहिए? इन दोनों प्रकार के प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर पाने के लिए मनोविज्ञान के समुचित ज्ञान की आवश्यकता होती है। मनुष्य के कार्य भिन्न-भिन्न स्तर पर होते हैं। हमारी कुछ क्रियाएँ सहज क्रियाएँ[3] होती हैं, कुछ मूल प्रवृत्तियों[4] द्वारा संचालित होती हैं और कुछ आदतजन्य[5] क्रियाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त इच्छित क्रियायें[6] हैं, अर्थात् वे क्रियाएँ हैं जिनमें विवेक और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य होता है। नीति-शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि किसी मनुष्य के आचरण के ऊपर नैतिक निर्णय करते समय हमें किन-किन मनोवैज्ञानिक बातों पर ध्यान रखना चाहिए; और किस प्रकार की क्रिया के ऊपर नैतिक निर्णय किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के आचरण के ऊपर उचित नैतिक निर्णय करने के लिए उसकी भूख[7] इच्छा[8] और सकल्पों[9] को जानना अत्यावश्यक है। सभी प्रकार के कार्यों का नैतिक निर्णय[10] नहीं दिया जा सकता। उन्हीं कार्यों का नैतिक निर्णय किया जाता है, जो हेतु-पूर्ण[11] अथवा संकल्प-पूर्ण[12] हों। अब इच्छा[13], हेतु[14] संकल्प, स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, विचार[15] आदि बातें मनोवैज्ञानिक है। इनके स्वरूप को जानने के लिए हमें नीति-शास्त्र के दृष्टिकोण से मनोवैज्ञानिक ज्ञान को दुहराना आवश्यक है।

जिस प्रकार मनुष्य के आचरण पर विचार करने के लिए मनोवैज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान करना आवश्यक है, उसी तरह नैतिकता के माप-दण्ड को निश्चित करने के लिए भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों को जानना आवश्यक है। कुछ नीति-शास्त्र इन माप-दण्डों को मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर ही आधारित कर देते हैं, यह

---

1. Object of moral judgment. 2. Standard of morality. 3. Reflexes. 4. Instincts. 5. Habit. 6. Voluntary action. 7. Appetites. 8. Desires. 9. Intentions. 10. Moral judgment. 11. Motived actions. 12. Intended actions. 13. Desire. 14. Motive. 15. Reason.

उनकी भूल है। किन्तु इन तथ्यों की सर्वथा सभी प्रकार अवहेलना भी नहीं की जा सकती। नीति-शास्त्र के आदर्शवादी विद्वान् मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, परन्तु वे इसके परे भी जाते हैं।

मनुष्य की क्रियाओं का विश्लेषण[1]

दो प्रकार की क्रियाएँ—मनुष्य की क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—इच्छित[2] और अनिच्छित[3]। अनिच्छित क्रियाओं का सञ्चालन जन्मजात सहज प्रवृत्तियों[4] और आदतों[5] के द्वारा होता है; और इच्छित क्रियाओं का संचालन मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा होता है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से बार-बार किये गये कार्य पीछे आदत का रूप धारण कर लेते हैं। आदत मनुष्य का अर्जित[6] स्वभाव है। अतएव आदतों के द्वारा किये गये कार्यों पर नैतिक विचार उसी प्रकार किया जाता है, जिस प्रकार इच्छाशक्ति के द्वारा किये गये कार्यों के ऊपर विचार किया जाता है। जन्मजात[7] प्रवृत्तियों द्वारा संचालित कार्यों पर नैतिक विचार नहीं किया जाता। अब हमें यह देखना है कि इच्छित क्रिया[8] अथवा आचरण कैसी मानसिक परिस्थिति में उत्पन्न होता है, और उसका स्वरूप क्या है?

भूख[9] और इच्छा[10]—मन की अविकसित अवस्था के प्रथम मानसिक वेग भूख कहलाते हैं। भूख मनुष्य और पशुओं में समान रूप से होती है। जैसे पशु अनेक प्रकार की भूखों का अनुभव करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अनेक प्रकार की भूखों का अनुभव करता है। इन भूखों के कारण मनुष्य भोजन की खोज करता है, नई-नई वस्तुओं को देखना चाहता है; और काम-वासना को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ की ओर आकर्षित होता है। भूख प्राकृतिक प्रेरणा का नाम है, इसमें विचार का कार्य नहीं रहता। जब मनुष्य किसी भूख का अनुभव करता है, तो वह चिन्तन करने लगता है कि किस चीज से वह भूख सन्तुष्ट हो सकती है; तो भूख इच्छा का रूप धारण कर लेती है। भूख एक

---

1. Analysis of human actions. 2. Voluntary. 3. Non-voluntary. 4. Innate tendencies. 5. Habits. 6. Acquired. 7. Inborn. 8. Voluntary actions. 9. Appetite. 10. Desires.

प्रकार की अन्ध प्रवृत्ति है, जब भूख के साथ ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ जाता है और यह ज्ञान किसी निश्चित वस्तु को चेतना के समक्ष ले आता है, तो यह प्रवृत्ति नया रूप धारण कर लेती है। अब यह केवल क्रियात्मक न रहकर ज्ञानात्मक भी हो जाती है। मानसिक प्रवृत्ति के इस स्वरूप को इच्छा कहते हैं। भोजन की आन्तरिक माँग भूख कहलाती है। परन्तु मन में रोटी, भात-दाल, फल, मांस इत्यादि पदार्थों के प्राप्त होने की प्रेरणा का होना इच्छा कहलाती है।

भूख में पदार्थ के भले-बुरे होने, उसके उचितानुचित रूप से प्राप्त किये जाने का विचार नहीं रहता। जब मनुष्य में यह विचार आता है, अर्थात् जब मनुष्य एक भूख का दूसरी भूखों से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है और देश काल आदि बातों से भूख की तृप्ति का सम्बन्ध जोड़ता है; तो यह भूख इच्छा बन जाती है। विचार के द्वारा भूख ही इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। विवेक-शून्य मानसिक प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा को भूख कहते हैं। विवेकयुक्त मानसिक वेग इच्छा कहलाता है। जब मनुष्य को भूख लगती है, तो वह साधारणतः किसी खाद्य पदार्थ का विचार करता है। यह उसकी भूख मात्र है। दूसरे की थाली का भोजन देखकर हमारे अन्दर भोजन की भूख उत्पन्न हो जाती है, परन्तु हम परोसी हुई थाली को ही देखकर उसपर टूट नहीं पड़ते हैं। जिस थाली को खाने का हमें अधिकार नहीं है, उसके खाने के लिए हमारे मन में भूख भले ही हो, इच्छा नहीं होती। जो लोग एकादशी का व्रत रखते हैं, वे एकादशी के दिन भूखे रहने पर भी भोजन करने की इच्छा नहीं करते। उन्हें अच्छा-से-अच्छा भोजन प्रलोभित नहीं करता। भोजन के विषय में छूआ-छूत पर विचार रखने वाले कट्टर हिन्दू अज्ञात व्यक्ति का छुआ हुआ अच्छा-से-अच्छा भोजन नहीं करते। अनादर से दिये हुये भोजन के करने की इच्छा हमारे अन्दर नहीं होती, चाहे हमारे पेट में भोजन के लिए कितनी ही भूख क्यों न हो। इस तरह हम देखते हैं कि इच्छा में मनुष्य देश, काल, परिस्थिति तथा उचितानुचित आदि बातों का ध्यान रखता है। पशुओं में भूख होती है। उनमें इच्छाएँ नहीं होती हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके मन में न केवल भूख आती है, वरन् इच्छाएँ भी आती हैं। इच्छाओं के बनने में विचार का कार्य होता है। अतएव नैतिक विचार इच्छाओं पर ही होता है।

इच्छाओं में द्वन्द्व[1]—मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ आती रहती हैं। वह सभी प्रकार की इच्छाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसे अनेक इच्छाओं में से कुछ को चुनना पड़ता है। वह इन्हीं को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है। जब कभी हमारे मन में एक इच्छा आती है, तो उसी समय हमें अपने मन में दूसरी इच्छाओं का भी ज्ञान होता है, अर्थात् दूसरी इच्छाएँ भी उठ आती हैं। इस प्रकार एक इच्छा का दूसरी इच्छा से द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। जो इच्छा प्रबल होती है, वह दूसरी इच्छाओं को इस संघर्ष में हराकर चेतना के मैदान में अकेली रह जाती है। इस इच्छा के अनुसार फिर हम आचरण करने लगते हैं। जब तक इच्छाओं में द्वन्द्व होता रहता है, तब तक मनुष्य की मानसिक स्थिति डाँवाडोल बनी रहती है। वह न एक काम कर सकता है, और न दूसरा।

द्वन्द्व करनेवाली इच्छाओं की सहायता दूसरी अनेक इच्छाएँ करती हैं। यदि दो इच्छाओं का आपस में द्वन्द्व हो रहा है, तो हमें यह जानना चाहिए कि यह दोनों इच्छाओं का ही संघर्ष नहीं हैं, वरन् दो इच्छाओं के मण्डलों[2] का अर्थात् दो प्रकार के व्यक्तित्वों[3] का संघर्ष है। जिस प्रकार आपस में लड़नेवाले दो राष्ट्रों की सहायता उनके मित्र राष्ट्र करते हैं, उसी प्रकार द्वन्द्व करनेवाली इच्छाओं की सहायता दूसरी आनुसंगिक इच्छाएँ भी करती हैं, और जिस प्रकार एक पक्ष की विजय होने पर उस पक्ष के सभी राष्ट्र प्रबल हो जाते हैं, उसी प्रकार इच्छाओं के संघर्ष में जो इच्छा विजयी होती है वह न केवल अपने-आप बली बनती है, वरन् अपने समान दूसरी इच्छाओं को भी बली बना लेती है।

उक्त सिद्धान्त को निम्न-लिखित उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, एक अध्यापक किसी विशेष संस्था में अध्यापन का कार्य कर रहा है। यह संस्था समाज को निःस्वार्थ भाव से सेवा करती है। उसे इस संस्था में सौ रुपया मासिक वेतन मिलता है। उसे सूचना मिलती है कि वह दूसरी जगह तीन सौ मासिक प्राप्त कर सकता है। परन्तु यहाँ उसे कोई सामाजिक कार्य

1. Conflict of desires. 2. Universe of desires. 3. Personalities.

न करना पड़ेगा, वरन् एक धनी मिल-मालिक के यहाँ मुनीम बनकर रहना पड़ेगा। इस व्यक्ति में मुनीमी की भी योग्यता उसी प्रकार है, जिस प्रकार अध्यापन की। उसके मन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऊपरी दृष्टि से उसके सामने सौ रुपया पाने और तीन-सौ रुपया पाने का ही सवाल है; परन्तु यदि इस संघर्ष के संपूर्ण रहस्य को हम देखें, तो पता चलेगा कि प्रत्येक इच्छा के पीछे सैकड़ों दूसरे मन्सूबे लगे हुए हैं। इतना ही नहीं, इन इच्छाओं के संघर्ष में जीवन के दो विभिन्न प्रकार के आदर्शों[1] का संघर्ष है। एक आदर्श है समाज-सेवा, ज्ञान की वृद्धि और सादगी के जीवन का; और दूसरा आदर्श है धन-संचय, सम्मान-प्राप्ति और ऐश्वर्य का। भिन्न-भिन्न प्रकार के दो व्यक्ति एक-सी-ही परिस्थिति में अर्थात् एक-ही सी इच्छाओं के संघर्ष में दो भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की जैसी बनावट होती है, उसी प्रकार एक इच्छा अथवा दूसरी इच्छा विजयी होती है।

दो इच्छाओं के संघर्ष के समय अन्य इच्छाएँ मनुष्य की चेतना के समक्ष आती हैं। मनुष्य अपनी कल्पना में यह देखने की चेष्टा करता है, कि यदि वह एक प्रकार का निर्णय करे, तो वह अपने-आपको कैसा बनावेगा। जो कुछ निर्णय होता है, वह केवल दो प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं के बल पर ही नहीं होता; वरन् प्रत्येक इच्छा की आनुसंगिक इच्छाओं के बल पर होता है। वास्तव में मनुष्य का निर्णय उसके सम्पूर्ण चरित्र का प्रतीक होता है। अपने चरित्र के अनुसार ही मनुष्य दो इच्छाओं के संघर्ष के समय निर्णय करता है। कितने ही लोगों को धन की पिपासा होती है, कितने ही मनुष्यों को मान की और कितनों को ज्ञान की पिपासा होती है। धन की अधिक पिपासावाला व्यक्ति उस इच्छा को तृप्त करने की चेष्टा करेगा, जिससे उसे धनोत्पादन की सुविधाएँ मिलें। उसे मान की अथवा ज्ञान की उतनी परवाह न होगी। जो व्यक्ति मान की अधिक कीमत करता है, वह धन-प्राप्ति की इच्छा को वैसा प्रमुख स्थान न देगा, जैसा कि मान-प्राप्ति की इच्छा को। इसी प्रकार ज्ञानेच्छु, धन और मान को अपने जीवन में प्रमुख स्थान नहीं देता, और इसके

---

1. Ideals.

कारण इनसे सम्बन्धित इच्छाएँ भी मानसिक अन्तर्द्वंद्व के समय विजयी नहीं होतीं। लेखक के दो छात्रों ने हाल ही में पैसे के लोभ में आकर अध्यापन का कार्य छोड़ दिया, और धनी मिल-मालिकों के नौकर बन गये। इस नौकरी में न उन्हें उतना मान मिलता है, जितना उन्हें अध्यापक की अवस्था में मिलता था और न उन्हें ज्ञान प्राप्त करने की वैसी सुविधाएँ ही हैं; परन्तु वे धन कमाने की सुविधा प्राप्त करने से अपने आपको सफल मानते हैं। अन्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में आन्तरिक दुःख का अनुभव करते हैं, और वे अपने मान के ऊपर थोड़ी-सी ठेस लगने पर ही बेचैन हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति पहले से ही उन परिस्थितियों में अपने को नहीं डालते, जिनमें उसके मान की क्षति हो। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने चरित्र के अनुसार ही दो इच्छाओं के अन्तर्द्वन्द्व के समय एक के अथवा दूसरे के अनुसार निर्णय करता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था बड़ी ही कष्टदायक होती है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का बड़ा ही ह्रास होता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सर्वथा अभाव विवेकशून्यता का प्रतीक है। पशुओं में और बालकों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि उनमें सोचने की शक्ति ही नहीं रहती। उनके मन में जो कुछ आता है, उसी के अनुसार वे काम करने लगते हैं। वे अपने आप पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाते। मनुष्य में अपनी इच्छाओं को रोकने की शक्ति होती है। यह शक्ति विचार-वृद्धि के साथ-साथ आती है। जिस व्यक्ति में अपनी क्रियाओं के सम्भाव्य परिणामों की कल्पना करने की शक्ति नहीं है, उसमें आत्म-नियन्त्रण की भी शक्ति नहीं होती। ऐसा व्यक्ति मन में आने वाले प्रथम विचार के अनुसार ही कार्य करने लगता है। ऐसा व्यक्ति यदि प्रौढ़ भी हो, तो उसे बाल-बुद्धि ही कहा जायगा। उसके आचरण का नैतिकता की दृष्टि से कोई महत्व नहीं। अतएव दो इच्छाओं का आपस में समय-समय पर संघर्ष होना मानसिक विकास की स्थिति को दर्शाता है। किन्तु, इस संघर्ष का मन में देर तक चलते रहना भी एक प्रकार की मानसिक अस्वस्थता है। कितने ही लोगों में अपने कर्तव्य के विषय में निर्णय करने की शक्ति नहीं होती। यदि कोई इच्छा उनके मन में पैदा हुई तो उनके विरुद्ध तुरन्त दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और फिर कई दिनों तक उनके मन में इन इच्छाओं का

संघर्ष बना रहता है। प्रकार के संघर्ष से जो मानसिक शक्ति का ह्रास होता है वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए बड़ा हानिकर होता है। सदा संशय की अवस्था में रहने वाला व्यक्ति सभी काम को आधे मन से करता है और उसे प्रत्येक कार्य में आधी सफलता मिलती है। अतएव इस प्रकार की मानसिक स्थिति चरित्र के ह्रास का परिचायक है।

जब मनुष्य के आदर्श सुनिश्चित हो जाते हैं और वह एक विशेष प्रकार के जीवन से अभ्यस्त हो जाता है तो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति देर तक नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति के समक्ष जब अपने कर्तव्य सम्बन्धी कोई समस्या आ जाती है तो वह उसको सुलझाने में देर नहीं लगाता। ऐसे व्यक्ति के मन में देर-तक दो इच्छाओं का संघर्ष भी नहीं चलता। हमारे जीवन के नैतिक सिद्धान्त इन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने में सहायक होते हैं और इस प्रकार वे हमारी मानसिक शक्ति का अपव्यय नहीं होने देते। नैतिकता इस दृष्टि से मनुष्य के जीवन की सफलता की कुंजी है।

इच्छित क्रिया*

इच्छित क्रिया का स्वरूप—इच्छित क्रिया ही नैतिक विचार का विषय होती है। अतएव इसका स्वरूप समझना नैतिकता के स्वरूप जानने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब हम इच्छित क्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण[1] करते हैं तो उसे निम्नलिखित अवस्थाओं का पाते हैं—

(१) दो भिन्न-भिन्न इच्छाओं का चेतना के समक्ष आना[2]
(२) इन इच्छाओं में संघर्ष का उत्पन्न होना[3]
(३) विभिन्न इच्छाओं के परिणामों पर विचार करना[4]
(४) एक इच्छा का चुनाव अथवा निर्णय पर पहुँचना[5]
(५) अपने निश्चय को वाह्य क्रिया का रूप देना[6]।

---

* Voluntary actions. 1. Psychological analysis. 2. Presentation of desires. 3. Conflict of desires. 4. Deliberation. 5. Decision. 6. Action.

मान लीजिए, एक विद्यार्थी बी० ए० की परीक्षा पास करके विचार करता है कि उसे आगे क्या करना चाहिए। वह अब सरकारी नौकरी कर सकता है, किसी रोजगार में लग सकता है, किसी समाज-सुधार के आन्दोलन में शामिल हो सकता है, अथवा अपनी पढ़ाई को ही जारी रख सकता है। उसके मन में ये सब बातें आती हैं। वह आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु यह नहीं जानता कि वह किस ओर आगे बढ़े। इस समय उसके मन में अनेक प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं और उसका मन इन इच्छाओं के संघर्ष का अखाड़ा बन जाता है। उसकी बहुत सी निर्बल इच्छाएँ तो प्रारम्भ में ही संघर्ष के अखाड़े से अलग हो जाती हैं। परन्तु कुछ इच्छायें देर तक लड़ती ही रहती हैं। इस संघर्ष की अवस्था में मनुष्य कोई बाहरी क्रिया नहीं करता, वह अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प लाता है। वह प्रत्येक प्रकार के निश्चय के भावी परिणामों का अपनी कल्पना में चित्रण करता है। फिर जो चित्र उसे सुहावना लगता है उसके अनुसार वह अपना निश्चय करता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में किसी व्यक्ति को अपने-आप रोजगारी बन जाने का चित्र अच्छा लगता है, किसी को सरकारी नौकर बनने का अथवा समाज सेवक बनने का चित्र अच्छा लगता है, और किसी को आजन्म विद्याध्ययन करने का ही चित्र अच्छा लगता है। मनुष्य अपने-अपने स्वभाव अथवा चरित्र के अनुसार इस प्रकार के विचार के बाद निर्णय करता है। जैसी मनुष्य की स्थायी प्रवृत्तियाँ होती हैं उन्हीं के अनुसार उसके निर्णय भी होते है। ये स्थायी प्रवृत्तियाँ कुछ जन्तजात[1] होती हैं और कुछ अर्जित[2]। स्थायी अर्जित प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य का चरित्र कहलाती हैं।

जब मनुष्य किसी निर्णय पर पहुँचता है तो अपने निर्णय के अनुसार वह कार्य में लग जाता है। आचरण की नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का किसी कार्य में लग जाना उतने महत्त्व की बात नहीं, जितने महत्त्व की बात उसके मन में होने वाली मानसिक क्रियाएँ हैं। नैतिक विचार[3] में इन मानसिक क्रियाओं की ही कीमत आँकी जाती है। ये मानसिक क्रियाएँ इच्छित क्रियाओं का आन्तरिक रूप हैं और मनुष्य का आचरण उसकी इच्छित क्रियाओं का वाह्य रूप है।

---

1. Inborn. 2. Acquired. 3. Ethical judgment.

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[1]—इच्छित क्रिया के होने के पूर्व अपनी विभिन्न इच्छाओं पर विचार और एक इच्छा का चुनाव आवश्यक है। उपर्युक्त इच्छित क्रिया के विश्लेषण में इसे चौथी अवस्था मानी है। इस चुनाव में मनुष्य की स्वतंत्र इच्छाशक्ति काम करती है। यह स्वतंत्र इच्छाशक्ति क्या है, इस पर मनोविज्ञान के पंडितों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ मनोविज्ञान के पंडित तो इस स्वतंत्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व ही नहीं मानते। इसी प्रकार कुछ नीति-शास्त्रज्ञ भी इस स्वतंत्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति को मानना नीति-शास्त्र के लिए अनावश्यक समझते हैं। जड़वादी[2] नीति-शास्त्रज्ञ, विशेषकर प्रकृतिवादी[3], स्वतंत्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और चेतनवादी[4] सभी नीति-शास्त्र के विद्वान् इसके अस्तित्व को नैतिक विचार के लिए आवश्यक समझते हैं। नीति-शास्त्र के प्रश्नों को हल करने के लिए इन दो प्रकार के मतों को भली भाँति जानना आवश्यक है।

इच्छित क्रिया की विशेषता—इच्छित क्रिया मनुष्य की सामान्य क्रियाओं से भिन्न क्रिया है। सामान्यतः प्रत्येक प्राणी सुख की इच्छा से प्रेरित होकर और दुःख के निवारण के लिए कार्य करता है। वह उसी काम को करने का निश्चय करता है जिसमें उसको अधिक से अधिक तत्कालिक लाभ हो। इच्छित क्रियाओं में अर्थात् इच्छा-शक्ति के द्वारा निश्चित क्रियाओं में दूसरी ही बात पाई जाती है। मनुष्य जितना ही अधिक अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेना चाहता है वह उतना ही सरल और सुखदाई मार्ग को छोड़कर कठिन और कष्ट देने वाले मार्ग को ही स्वीकार करता है। जिस मनुष्य की इच्छा शक्ति जितनी ही दृढ़ होती है, वह उतना ही आदर्शवादी होता है और वह प्रलोभनों के प्रतिकूल उतना ही अधिक लड़ता है। कर्तव्य-पथ पर चलने में इच्छा-शक्ति का सबसे अधिक कार्य होता है। ऐसे व्यक्ति को पद-पद पर उचितानुचित का विचार करना पड़ता है और प्रायः सरल मार्ग को छोड़ कठिन मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार के निश्चय से इच्छा-शक्ति और भी अधिक दृढ़ होती है और मनुष्य का चरित्र बनता है। अतएव जैसा कि ह्वीलराइट और विलियम जेम्स महाशयों ने बताया है, यदि

---

1. Freewill. 2. Materialistic. 3. Naturalistic. 4. Spiritualists.

नैतिक आचरण की कोई सुलभ कसौटी हो सकती है तो वह प्रलोभनों के प्रतिकूल जाने की अथवा कठिन मार्ग पर जाने की हो कसौटी है। इच्छा-शक्ति से किया गया कार्य वह है जिसमें मनुष्य अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल जाता है और यही नैतिक आचरण भी है।

मान लीजिए, हमें भूख लगी है। हम अपनी भूख को शांत करने के लिए बाजार से मिठाई लाते हैं, परन्तु ज्योंही हम खाने बैठते हैं त्योंही एक अतिथि आ जाता है। अतिथि-सत्कार हमारा पहला धर्म है। यदि हम उस मिठाई को अपने-आप न खाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने अतिथि को खिला देते हैं तो हमें अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। यहाँ हमारे आदर्श और हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों में द्वन्द्व होता है, और यदि हमारा चरित्र सुदृढ़ है तो आदर्श की विजय होती है। हमें जितनी ही अधिक भूख लगी होती है उतनी ही अधिक प्राकृतिक प्रवृत्ति का दबाने के लिए इच्छा-शक्ति के बल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक विवेकयुक्त काम को करने के लिए इच्छाशक्ति के बल की आवश्यकता पड़ती है। कोई-कोई लोग अपने आदर्श के लिए धन-दौलत और राज-पाट को भी छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक प्रलोभनों के प्रतिकूल चलने की शक्ति रखता है उसमें नैतिक आचरण करने की उतनी ही अधिक योग्यता रहती है। जब मनुष्य के मन में इच्छित क्रिया के होने के पूर्व अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है तो पहले पहल प्रलोभन का बल ही अधिक दिखाई देता है। पर जब इच्छाशक्ति उसके प्रतिकूल काम करने लगती है तब प्रलोभन का बल घट जाता है। जितना ही बड़ा प्रलोभन होता है उसके विरुद्ध लड़ने की उतनी ही अधिक आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक बल की आवश्यकता से ही उसकी पूर्ति का मार्ग निकल आता है। इस प्रकार इच्छित क्रियाओं के द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक बल की वृद्धि होती है। नैतिक आचरण भी इसी प्रकार का आचरण है। नैतिक आचरण वह आचरण है जिसमें मनुष्य को अधिक से अधिक प्रलोभनों के प्रतिकूल चलना पड़े और अधिक से अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़े। जो व्यक्ति जितना ही अधिक कठिनाइयों का सामना

करने की योग्यता रखता है वह नैतिक आचरण की भी उतनी ही अधिक योग्यता रखता है।*

नियतिवाद[1] और स्वतन्त्रतावाद[2]

नियतिवाद का सिद्धान्त—जब दो इच्छाओं का संघर्ष होता है तो एक इच्छा का दूसरी इच्छा पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विजय प्राप्त करने वाली इच्छा दूसरी इच्छा को दबा देती है। अब प्रश्न यह है कि विजय कौन सी इच्छा प्राप्त करती है। इस प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि जो इच्छा प्रबल होती है वही विजयी होती है। अतएव इस संघर्ष के परिणाम के विषय में सामान्य सिद्धान्त यह है कि संघर्ष में सदा प्रबल इच्छा विजयी होती है। कोई इच्छा प्रबल क्यों है, इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जाता है कि प्रत्येक इच्छा में प्राकृतिक बल होता है; इस प्राकृतिक बल के कारण ही कोई इच्छा प्रबल होती है और कोई निर्बल। प्रबल इच्छा का सभी इच्छाओं के संघर्ष में विजयी होना यही निर्णय का स्वरूप है। इच्छाओं के अतिरिक्त कोई तत्व इच्छाओं को बली अथवा निर्बल बनाने वाला नहीं है। हम इच्छाओं के संघर्ष में किसी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अथवा किसी आध्यात्मिक तत्व का कार्य नहीं देखते।

---

*इस प्रसंग में विलियम जेम्स महाशय के "प्रन्सि पिल्स आफ साइकोलाजी" नामक पुस्तक में कहे हुए निम्न लिखित विचार उल्लेखनीय हैं:—

"The ideal impulse appears a still small voice which must be artificially re-inforced to prevail. Effort is what reinforces it, making things seem as if, while the force of propensity were essentially a fixed quantity, the ideal force might be of various amount. If the sensuous propensity is small, the effort is small. The latter is made great by the presence of a great antagonist to overcome. And if a brief definition of ideal or moral action were required, none could be given which would better fit the appearance than this : it is action in the line of greatest resistance,"—**Principles of Psychology,** Vol II, page 548-549.

1. Determinism. 2. Doctrine of Free will (Libertanianism).

उक्त मत जड़वादी मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों का है। इस मत को नियतिवाद कहते हैं। नियतिवाद के अनुसार मनुष्य के मानसिक संघर्ष के परिणाम उसी प्रकार से निश्चित हैं जिस प्रकार से मकान के छत से फेंके गये पत्थर का नीचे गिरना निश्चित है। मनुष्य जो कुछ भी निर्णय करता है वह पहले से ही उनके जन्मजात स्वभाव, मानसिक संस्कार और परिस्थितियों के द्वारा निश्चित रहता है। इनका अध्ययन करके यह पहले से ही बताया जा सकता है कि वह अमुक परिस्थिति में क्या करेगा।

स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त—उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त है। स्वतन्त्रतावाद के सिद्धान्तानुसार दो इच्छाओं के संघर्ष का परिणाम इच्छाओं की स्वतंत्र शक्ति के ऊपर निर्भर नहीं करता, वरन् मनुष्य की स्वतंत्र इच्छाशक्ति के ऊपर निर्भर करता है। मनुष्य की यह इच्छाशक्ति ही एक इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए चुनती है और दूसरी का दमन करती है। यह शक्ति मन में आने वाली विभिन्न इच्छाओं से पृथक वस्तु है। इच्छाएँ आती जाती हैं किन्तु इच्छाशक्ति स्थायी रहती है। जिस इच्छा को यह शक्ति अपना लेती है वही बलवान् हो जाती है, और जिसे वह त्याग देती है वह निर्बल हो जाती है। वह जिस इच्छा को चाहती है अपना अपना बल देती है और जिसे नहीं चाहती उसका दमन कर देती है। इस इच्छाशक्ति की उपस्थिति का प्रमाण हमें उस समय मिलता है जब हम किसी प्रबल इच्छा का जोर से दमन कर देते हैं। जिस व्यक्ति की इच्छाशक्ति बलवान होती है वह काम और क्रोध जनित अनेक प्रकार के मानसिक वेगों का दमन कर देती है और अपने भावों को सदा अपने विवेक के नियंत्रण में रखती है। यह इच्छाशक्ति अंधी नहीं है, वरन् विवेक युक्त है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेकी होता है उसकी यह इच्छाशक्ति उतनी ही प्रबल होती है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नैतिकता में महत्त्व—नियतिवाद और स्वतंत्रतावाद दोनों ही ऐसे सिद्धांत हैं जिनके विषय में अंतिम बात तत्त्व विज्ञान ही कह सकता है, किंतु नीति-शास्त्र में इतना ही कहा जा सकता है कि स्वतंत्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में विश्वास करना नैतिक विचार के लिए अनिवार्य है।

यह नीति-शास्त्र की पूर्वमान्यता[1] कही जा सकती है। मार्टिनो महाशय का यह कथन सर्वथा युक्ति-संगत है कि या तो स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कोई वास्तविक वस्तु है अथवा नैतिकता कोरी कल्पना है*। जब हम स्वतंत्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते तो किसी प्रकार के आचरण के लिए किसी व्यक्ति को जिम्मेदार कैसे बना सकते हैं। धर्माधर्म का विचार उसी स्थिति में हो सकता है जब कि स्वतंत्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति को मान लिया जाय। जहाँ कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं वहाँ कर्तव्यता कैसी। कान्ट महाशय का कथन है कि योग्यता के बिना कर्तव्यता सम्भव नहीं†। कर्तव्य की योग्यता के मानने पर हमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को मानना पड़ता है। यदि मनुष्य परिस्थितियों का दास ही है तो हम उसे किसी प्रकार के अनैतिक आचरण के लिए कैसे दोषी ठहरा सकते हैं? जिस व्यक्ति में परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति है उसी के ऊपर नैतिकता का उत्तरदायित्व रहता है। परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति पशुओं में नहीं होती। यह शक्ति मनुष्यों में ही होती है। इसी कारण पशुओं के कार्यों पर नैतिक विचार नहीं किया जाता, मनुष्यों के कार्यों पर ही नैतिक विचार किया जाता है। छोटे बालकों में भी परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति नहीं होती, अतएव हम उन्हें भी किसी अनुचित काम के करने के लिए उतना उत्तरदायी नहीं समझते जितना एक प्रौढ़ व्यक्ति को समझते हैं। जिस व्यक्ति में विचार करने की जितनी ही अधिक शक्ति होती है वह अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति से उतना ही अधिक कार्य लेता है, और ऐसे व्यक्ति के कार्य नैतिकता की दृष्टि से उतने ही महत्व के होते हैं, क्योंकि इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व भी बढ़ता है।

स्वतंत्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति के कारण ही हम पहले से यह नहीं कह सकते कि कौन-सा व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार का आचरण करेगा। हम उसके आचरण का अनुमान मात्र लगा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनुमान सब समय ठीक नहीं होते। हम स्वयं अपने ही विषय में पहले से

---

1. Postulate * Either freedom of will is a fact or morality is a delusion. † There cannot be an oughtst without a canst.

नहीं जानते कि भविष्य आने वाली विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के समय हम कैसा आचरण करेंगे। साधारणतः हम वैसा ही आचरण करते हैं जिस प्रकार के आचरण का हमें अभ्यास होता है, अर्थात् जिस प्रकार का हमारा चरित्र होता है। परन्तु अभ्यास के द्वारा स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियंत्रित होना यह नहीं दर्शाता कि हम किसी बाहरी बन्धन से बँधे हुये हैं। अभ्यास का नियन्त्रण आत्म-नियन्त्रण ही है। हम अपने अभ्यास को ही कभी-कभी बदल देते हैं। ऐसी अवस्था में हमारे चरित्र में विप्लवकारी परिवर्तन हो जाता है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[1] और चरित्र[2]

स्वतन्त्रता का अर्थ—ऊपर हमने कहा है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व नैतिक आचरण के लिए अनिवार्य है। यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति क्या है और इसका मनुष्य के चरित्र से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये गये हैं। एक मत के अनुसार स्वतंत्र इच्छाशक्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि वह अमुक परिस्थिति में क्या करेगी। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का शक्ति प्रदान करती है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति मे किसी प्रकार की नियतता को स्थान नहीं। एक दूसरे मत के अनुसार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति वाह्य परिस्थितियों से नियन्त्रित नहीं होती, किन्तु वह अपने-आप से अवश्य नियन्त्रित रहती है। स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्म-नियन्त्रण। मनुष्य अपने-आप के नियन्त्रण में वहीं तक रहता है जहाँ तक वह अपने ही बनाए सिद्धान्तों के ऊपर आचरण करता है। अपने बनाए नियमों के प्रतिकूल आचरण करना स्वतन्त्रता नहीं है, वरन् स्वच्छन्दता[3] है। जो मनुष्य इस प्रकार के आत्म-नियन्त्रण में अभ्यस्त हो जाता है वह एक विशेष प्रकार के स्वभाव का बन जाता है। आत्म-नियन्त्रण[4] के अभ्यास के द्वारा जो स्वभाव बनता है उसे चरित्र कहते हैं। इस प्रकार चरित्र मनुष्य के पूर्व अभ्यास का परिणाम है। यह पूर्व अभ्यास किसी विशेष प्रकार की परिस्थिति में विशेष प्रकार के निर्णय पर आने के लिए मनुष्य

---

1. Will. 2. Character. 3. Licence. 4. Self-control.

को प्रेरित करता है, अर्थात् मनुष्य अपने पूर्व अभ्यास के द्वारा अथवा अपने चरित्र द्वारा ही नियन्त्रित होने लगता है। चरित्र एक स्थायी वस्तु है। अतएव जब मनुष्य का चरित्र बन जाता है तो हम उसके निर्णयों के विषय में इतने अनिश्चित नहीं रहते जितने कि चरित्र न बने हुये व्यक्ति के निर्णय के विषय में अनिश्चित रहते हैं। इस तरह चरित्र की नियतिता[1] स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का बाधक नहीं है, वरन् उसकी पूर्णता का परिचायक है।

चरित्र की नियतिता—मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति उसे सब प्रकार की नियतिता से मुक्त नहीं कर देती। यदि ऐसा हो तो हम किसी भी व्यक्ति के आचरण के विषय में कुछ भी अंदाज न लगा सकेंगे। हमारा साधारण व्यावहारिक जीवन इसी प्रकार के अंदाज के ऊपर निर्भर करता है। हम चरित्रहीन व्यक्ति के विषय में भले ही यह न कह सकें कि वह विशेष प्रकार की परिस्थितियों में कैसा आचरण करेगा, परन्तु साधारण चरित्रवान् व्यक्तियों के आचरण के विषय में हमारे अनुमान प्रायः ठीक निकलते हैं। हम जानते हैं कि एक व्यक्ति को किसी काम के लिए डाँटने-डपटने से उस काम को वह सावधानी के साथ करेगा और दूसरा व्यक्ति डाँटने-डपटने पर काम का करना छोड़ ही देगा। जिन बातों को सुनकर एक व्यक्ति के मन में मानसिक ग्लानि अथवा भय उत्पन्न होता है उन्हीं बातों को सुनकर दूसरे के मन में क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम मनुष्य के चरित्र को जान कर उसके आचरण के विषय में अन्दाज लगाते हैं कि किसी परिस्थिति में कोई व्यक्ति क्या करेगा। इस प्रकार का अनुमान लगाना इसलिए ही सम्भव है कि मनुष्य के जीवन में किसी न किसी प्रकार की नियतिता काम करती है, अर्थात् मनुष्य अपने आचरण में इस प्रकार स्वतन्त्र नहीं है जिस प्रकार की स्वतन्त्रता स्वच्छन्द व्यक्ति चाहता है।

मनुष्य का जैसा चरित्र होता है उसकी इच्छाशक्ति भी उसी प्रकार कार्य करती है। चरित्र इच्छाशक्ति के पूर्व-अभ्यास का परिणाम है। परन्तु यह उस इच्छाशक्ति का बन्धन भी है। पहले किया गया आचरण मनुष्य के वर्तमान

---

1. Determinism of Character.

आचरण का कारण बन जाता है। किसी प्रकार के आचरण के संस्कार मनुष्य के मन में रहते हैं। यही संस्कार मनुष्य के चरित्र के आधार होते हैं। एक बार जब मनुष्य किसी धर्म-संकट[1] में पड़ता है और वह जैसे मार्ग को चुनता है वैसे ही मार्ग के चुनने की उसमें प्रवृत्ति हो जाती है। जो मनुष्य धर्म-संकट के समय सरल और प्रिय मार्ग को छोड़ कर अप्रिय और कठिन मार्ग को ग्रहण करता है वह दूसरी बार भी प्रायः वैसा ही करता है। यदि कठिन मार्ग श्रेष्ठ है तो उसे ऐसे मार्ग पर चलना ही अच्छा लगता है। बार-बार अभ्यास करने पर कठिन मार्ग ही सरल हो जाता है और उस पर चलने से मनुष्य को कष्ट का अनुभव न होकर प्रसन्नता का अनुभव होता है। जो मनुष्य बार-बार कठिनाइयों का सामना करता है उसे कठिनाइयों का सामना करने का अभ्यास हो जाता है। इस अभ्यास के परिणाम स्वरूप वह कठिनाइयों को देखकर डरता नहीं। कठिनाइयों को देखकर उससे भागना यह मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है और कठिनाइयों को देखकर उनसे लड़ने के लिए तैयार हो जाना यह उसका अर्जित स्वभाव है; यही चरित्र है। चरित्र मनुष्य की एक सचित शक्ति है। यह इच्छाशक्ति का ही दूसरा नाम है। जिस मनुष्य का चरित्र जितना ही सुगठित होता है उसकी इच्छाशक्ति भी उतनी ही सुदृढ़ होती है। चरित्रवान् व्यक्ति की इच्छाशक्ति सकटों के सामने आने पर डॉवाडोल नहीं होती, वरन् वह दृढ़ता से उनका सामना करती है।

इच्छाशक्ति से चरित्र का निर्माण होता है और फिर चरित्र किसी प्रकार के आचरण में इच्छाशक्ति को प्रभावित करता है। स्वतन्त्र आचरण का वास्तविक अर्थ यही है। इसी कारण से हम यह कह सकते हैं कि कोई चरित्रवान् व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में कैसा आचरण करेगा। स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता से भिन्न वस्तु है। स्वतन्त्र मनुष्य का चरित्र दृढ़ होता है और स्वच्छन्द मनुष्य का चरित्र निर्बल होता है। स्वच्छन्द व्यक्ति के आचरण में किसी प्रकार के सिद्धान्त कार्य नहीं करते। वह मनमौजी होता है और क्षणिक इच्छाओं के आवेगों में आकर काम करने लगता है। इसके प्रतिकूल चरित्रवान् व्यक्ति के जीवन के सिद्धान्त

---

1. Moral situation.

सुनिश्चित होते हैं। वह सदा इन सिद्धान्तों को अपने आचरण में चरितार्थ करता है। वह सदा अपने विवेक से काम लेता है और विवेक के प्रतिकूल मानसिक वेग का सदा दमन करता रहता है। इसी प्रकार की स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है। बिना आत्म-नियन्त्रण की शक्ति के, अर्थात् बिना चरित्र की नियतिता के नैतिक आचरण सम्भव नहीं और बिना इस नियतिता के नीति-शास्त्र अर्थहीन हो जाता है।

पशु, बालक और पागलों के आचरण पर किसी प्रकार का नैतिक विचार नहीं किया जाता। नैतिक विचार की पूर्वमान्यता[1], मनुष्य में अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की शक्ति है। चरित्र का निर्माण विवेक के द्वारा होता है। एक बार जब चरित्र बन जाता है तो मनुष्य का आचरण चरित्र के अनुसार होने लगता है। जब मनुष्य के जीवन से उच्छृङ्खलता का लोप हो जाता है और उसका आचरण सुव्यवस्थित हो जाता है तभी हम उसके आचरण पर नैतिक दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक विचार के लिए स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है, पर यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति चरित्र की नियतिता[2] को मानती है। एक ओर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति चरित्र का निर्माण करती है और दूसरी ओर वह उसके नियन्त्रण में रहती है। चरित्र की नियतिता स्वीकार करने से इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का अपवाद नहीं होता। कहा जाता है कि दुराचारी मनुष्य एक दृष्टि से भला काम कर ही नहीं सकता और दूसरी दृष्टि से वह भला कार्य कर भी सकता है*। दुराचारी मनुष्य का चरित्र ही उसके भले काम के करने में बाधक होता है, अर्थात् उसका पूर्वाभ्यास ही उसके मार्ग का रोड़ा बन जाता है। पर इस चरित्र का निर्माण स्वयं उसने ही किया है। यह उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा निर्माण हुआ है। अतएव यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति उसके चरित्र में परिवर्तन भी कर सकती है। यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता किन्तु अभ्यास के द्वारा अवश्य हो जाता है। इस प्रकार दुराचारी मनुष्य को भले काम से रोकने वाली उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्व नहीं है। मनुष्य अपनी

1. Postulate, 2. Determinism of character.

* A bad man in a sense can and in a sense cannot do good actions—Mackenzie—**A manual of Ethics.**

इच्छा से भला या बुरा आचरण करता है। मनुष्य का चरित्र उसके भले बुरे काम करने में सहायक अथवा बाधक बनता है। परन्तु इस प्रकार की सहायता प्राप्त करना अथवा न प्राप्त करना अपने आप की ही सहायता प्राप्त करना अथवा उसे खोना है। आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार मनुष्य का चरित्र ही उसका स्वत्व है। यह उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति से भिन्न वस्तु नहीं। अतएव चरित्र की नियतिता अपने आप की ही नियतिता है।

इच्छा[1], हेतु[2], और संकल्प[3]

हेतु का अर्थ—नीति-शास्त्र में मनुष्य की इच्छा, हेतु और संकल्प की चर्चा रहती है। इनमें से नैतिक विचार किसके ऊपर किया जाता है, इसे निश्चित करने के लिए इनके स्वरूप के ज्ञान का होना आवश्यक है। हमने पिछले पृष्ठों में इच्छा के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ चर्चा की है। इच्छाओं में जब संघर्ष होता है और इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप जब एक इच्छा विजयी होकर चेतना के समक्ष कार्यान्वित होने के लिए रह जाती है तो हम उसे इच्छित कार्य का हेतु कहते हैं; अर्थात् हेतु वह इच्छा है जो किसी कार्य का प्रेरक हो। आधुनिक प्रमुख नीति-शास्त्रज्ञों के अनुसार हेतु उस लक्ष्य का नाम है जिसे अपने कार्य के द्वारा प्राप्त करने का मनुष्य विचार करता है। लक्ष्य के विचार का नाम हेतु है*। आदर्शवादी नीति-शास्त्रज्ञों ने हेतु की यही व्याख्या की है। इनके कथनानुसार हेतु में मनुष्य न केवल किसी चाह की अनुभूति करता है, वरन् उसे यह भी ज्ञान रहता है कि उसकी वह चाह किस प्रकार से पूरी हो सकती है। हेतु में प्राप्त किये जाने वाले पदार्थ के भले और बुरे होने का ज्ञान भी रहता है। हेतु इस प्रकार विवेकयुक्त मानसिक प्रेरणा है। आदर्शवादी नीति-शास्त्रज्ञ कार्य के उस प्रेरक को हेतु नहीं मानेंगे जिसका स्वयं कार्यकर्त्ता को ज्ञान न हो, अथवा जिसका ज्ञान हो परन्तु स्पष्टतः प्राप्त किये जानेवाले लक्ष्य का विचार न हो। इस प्रकार मनुष्य की इच्छाएँ ही उसके कार्यों का हेतु बन सकती हैं। हेतु वह इच्छा है जिसके साथ मनुष्य का स्वत्व आत्मसात् करता है और जिसके लिए मनुष्य प्रयत्न करने के लिए तैयार रहता है।

---

1. Desire, 2. Motive, 3. Intention,

* The idea of the end is the motive.

हेतु के विषय में इस विचार से भिन्न विचार अन्तः अनुभूतिवादी[1] नीतिशास्त्रज्ञों का है। ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिकों ने मनुष्यों के कार्य के हेतु उसके भावों अर्थात् रागात्मक मनोवृत्तियों[2] को माना है। मार्टिनो महाशय के कथनानुसार अनेक प्रकार की रागात्मक वृत्तियाँ (भाव) ही मनुष्य के कार्यों की प्रेरिका अथवा हेतु होती हैं। कोई मनुष्य काम से, कोई क्रोध से, कोई भय से, कोई प्रेम, दया, श्रद्धा इत्यादि मनोभावों से प्रेरित होकर किसी विशेष प्रकार के काम में लगता है। इनमें से कुछ मनो- भाव बुरे होते हैं, और कुछ भले। कार्य का हेतु वह पदार्थ नहीं माना गया है, जिसे प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य करता है, वरन् कार्य के हेतु उक्त भाव ही माने गये हैं। ये ही मनुष्य के मन में किसी विशेष प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करते हैं। कार्य के मूल प्रेरक ये ही हैं।

संकल्प—संकल्प[3] अथवा मन्तव्य, इच्छा और हेतु से भिन्न वस्तु है। हेतु[4] कार्य का प्रेरक[5] होता है; और संकल्प उस कार्य के लिए साधन[6] उपस्थित करता है। मान लीजिए कि कोई मनुष्य पैसा कमाना चाहता है। पैसा कई प्रकार से कमाया जा सकता है। कोई वाणिज्य-व्यवसाय करके पैसा कमाता है, कोई नौकरी करके, कोई पुस्तक लिखकर और कोई लाटरी के द्वारा। पैसा कमाने का निश्चय करना, यह आगे होने वाली क्रिया का हेतु कहलाता है, किन्तु किस प्रकार से पैसा कमाया जाय, यह उसके संकल्प की बात है। संकल्प में मनुष्य के इच्छित पदार्थ के प्राप्त करने के साधन का समावेश होता है। मनुष्य क्या करना चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर उसके संकल्प को जानकर आता है। वह उस काम को क्यों करना चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर उसके हेतु को जानने से आता है। इस प्रकार कार्य का वास्तविक प्रेरक हेतु है। संकल्प, हेतु को सफल बनाने का साधन मात्र है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने किसी कार्य के हेतुओं को दो प्रकार का माना है—ज्ञात और अज्ञात। आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के भावों को ही उसके कार्यों का वास्तविक हेतु मानता है। ये भाव कभी-कभी मनुष्य को ज्ञात रहते हैं, और

---

1. Intuitionist. 2. Emotions Feelings. 3. Intention.
4. Motive. 5. Spring of action. 6. Means.

कभी-कभी वे उसकी चेतना की सतह के नीचे काम करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी क्रियाओं के वास्तविक हेतुओं को स्वयं नहीं जानता। वह जिन हेतुओं को दूसरे लोगों के समक्ष अपने कार्यों का हेतु बताता है, वे वास्तविक हेतु के आवरण मात्र होते हैं। सोलहवीं शताब्दी में कुछ पादरी लोग धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करने वाले व्यक्तियों को जिन्दा जलवा देते थे। वे ऐसे कामों को वास्तव में द्वेष-वश करते थे; किन्तु वे संसार के समक्ष बताते थे, कि यह काम धर्म-पथ से विचलित होने वाले व्यक्तियों के प्रति दया-भाव से प्रेरित होकर किया जा रहा है। सम्भवतः वे अपने इस प्रकार के हेतु की सचाई में विश्वास भी करते थे। उनका विचार था कि अधर्म पर चलने वाले लोगों को अन्तकाल तक नरक की यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। इस यन्त्रणा से बचाने के लिए धर्म-पथ से विचलित लोगों को जला देना ही अच्छा है। इस तरह थोड़ा कष्ट देकर उन्हें महान् कष्ट से मुक्त कर दिया जाता था। कितने ही लोग कृपणता के कारण भिखारियों को दान नहीं देते; अथवा अपने बच्चों पर ही पर्याप्त पैसा खर्च नहीं करते। परन्तु वे अपने इन कामों के लिए दूसरे ही हेतु बताते हैं। सम्भवतः भिखारियों को दान न देने वाले व्यक्ति देश में निकम्मे लोगों की संख्या न बढ़ने देने का ही हेतु अपने सामने रखते हों। इसी प्रकार बालकों में सादगी की आदत डालने के विचार से ही बहुत से धनी लोग उन्हें खर्च करने के लिए पर्याप्त पैसा नहीं देते, पर ये हेतु प्रायः वास्तविक हेतु के आवरण मात्र होते हैं। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के कार्यों के आन्तरिक हेतु और ऊपरी हेतु में भेद करता है। एक हेतु को कार्य का प्रेरक[1] अथवा कारण कहा जाता है; और दूसरे को उसका सबब[2] कहा जाता है। एक तात्विक वस्तु है, और दूसरा बौद्धिक। कार्य का प्रेरक मनुष्य के भीतरी मन में रहता है, और उसका सबब उसके बाहरी मन में। अधिकतर मनुष्यों को अपने आंतरिक हेतुओं का ज्ञान रहता है, इसीलिये हेतु के आंतरिक और बाहरी भागों में भेद नहीं किया जाता। परन्तु कभी-कभी मनुष्य को अपनी क्रिया के आंतरिक हेतु का ज्ञान नहीं रहता। ऐसी अवस्था में किसी कार्य के कारण और सबब का भेद स्पष्ट हो

1. Motive, 2. Reason,

जाता है। कार्य की नैतिकता पर विचार करते समय साधारणतया मनुष्य के उसी हेतु पर विचार किया जाता है, जिसका उसे ज्ञान है। मनुष्य के आंतरिक हेतु पर विचार करना इतना सरल काम नहीं है।

आचरण में वातावरण[1] और चरित्र[2] का महत्त्व

आचरण क्या है?—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें मनुष्य के आचरण के आंतरिक कारणों पर प्रकाश पड़ता है। मनुष्य का आचरण उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति का कार्य है। आचरण में मनुष्य के विवेक[3] और आदर्श कार्य करते हैं। उसके सामने परिस्थितियाँ रहती हैं। वह कभी-कभी परिस्थितियों के अनुसार काम करता है; और कभी उनसे लड़ता है। जैसा उसका विवेक सुझाता है, उसी प्रकार वह काम करता है। मनुष्य का आचरण दूसरे प्राणियों के व्यवहारों से भिन्न वस्तु है। दूसरे प्राणी सदा प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उनमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं होती। अतएव उनमें प्रकृति से लड़ने की योग्यता भी नहीं रहती। दूसरे प्राणियों के व्यवहारों में वह विवेकशीलता नहीं दिखाई देती, जो मनुष्य के व्यवहारों में दिखाई देती है। वे अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं। उनके लिए मानो प्रकृति ही उचित अथवा अनुचित का विचार करती है। पर मनुष्य स्वयं अपने कार्यों के उचितानुचित का विचार करता है। इसलिए मनुष्य के व्यवहारों को ही आचरण कहा जाता है।

प्रकृतिवादी नीति-शास्त्रज्ञों ने जिस प्रकार मनुष्य के व्यवहारों को आचरण कहा है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों के व्यवहारों को भी आचरण कहा है। इस प्रकार स्पेंसर महाशय ने पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों के आचरण की चर्चा की है। यदि चींटी बरसात होने के पूर्व भोजन इकट्ठा कर लेती है, तो उसके आचरण को भला कहा जाता है। यहाँ भले-बुरे का निर्णायक, प्राणी को जीवन में सहायता देना ही मान लिया गया है। इसी प्रकार मनुष्य की उन क्रियाओं को भी आचरण कहा जाता है, जिसमें वह अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करता है।

---

1. Environment. 2. Character, 3. Reason.

आधुनिक काल के प्रगतिशील नीति-शास्त्रज्ञ, प्रकृतिवादियों के आचरण की इस परिभाषा को नहीं मानते। उनके कथनानुसार जहाँ इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ आचरण की भी सम्भावना नहीं है। आचरण मनुष्य की उन्हीं क्रियाओं का नाम है, जिनमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति का कार्य होता है। मनुष्य से भिन्न प्राणियों में स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं होती। अतएव उनके व्यवहारों को आचरण कहना नीति-शास्त्र की दृष्टि से महान् भूल है।

आचरण में वातावरण का कार्य—हमने ऊपर बताया है कि मनुष्य के आचरण में उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति, अथवा उसके चरित्र का ही प्रधान कार्य होता है। चरित्र इच्छाशक्ति का संचित बल है। प्रकृतिवादी नीति-शास्त्रज्ञों का मत है, कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम है। जिस प्रकार मनुष्य का आचरण उसके चरित्र से स्वतंत्र सम्भव नहीं, उसी प्रकार वह वातावरण से भी स्वतंत्र नहीं हो सकता। मनुष्य का चरित्र भी इस सिद्धांत के अनुसार उसके वातावरण का परिणाम है।

यदि हम इस दृष्टि को स्वीकार कर लें, तो फिर हम किसी व्यक्ति के आचरण को न तो भला, और न बुरा कह सकते हैं। यदि "भला आचरण" और "बुरा आचरण" ऐसे शब्दों का हम प्रयोग भी करें, तो हम भला आचरण करने वाले व्यक्ति की न तो प्रशंसा कर सकेंगे, और न बुरा आचरण करने वाले की निन्दा। हमें फिर मानना पड़ेगा, कि अनुकूल वातावरण में पड़ने के कारण कोई मनुष्य अच्छा आचरण करते हैं, और प्रतिकूल वातावरण में पड़ने के कारण वही मनुष्य बुरा आचरण करता है; अर्थात् 'बुरा' और 'भला' शब्द वातावरण के गुण का बोधक होना चाहिए, न कि व्यक्ति के। इस दृष्टि से चोर को चोरी करने के कारण दोषी ठहराना भूल है। चोर सम्भवतः इस लिए चोरी करता है, कि वह गरीब है; अथवा बचपन में उसे उचित शिक्षा नहीं मिली। उचित शिक्षा न मिलने का कारण भी माता-पिता की अशिक्षा, अथवा राज्य में शिक्षा-व्यवस्था की कमी हो सकती है। उचित शिक्षा के अभाव में जब बालकों में बुरी आदतें पड़ जाती हैं, तो फिर उनका बुरा आचरण करना स्वाभाविक है। यहाँ उनके बुरे आचरण के लिए वातावरण ही दोषी है।

उपर्युक्त सिद्धान्त में मनुष्य के आचरण में उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति

अथवा उसके चरित्र को कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु ऐसा करने से नैतिक विचार अर्थ-हीन हो जाता है। नैतिक विचार की पूर्वमान्यताएँ स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति और चरित्र हैं। जहाँ आचरण की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ आचरण का उत्तरदयित्व भी नहीं। फिर किसी आचरण को बुरा अथवा भला कहना सम्भव नहीं है।

यदि हम मनुष्य के आचरण के कारणों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें, तो प्रकृतिवादियों के आचरण-सम्बन्धी विचारों की त्रुटियों को भली-भाँति समझ लेंगे। पहले तो नीति-शास्त्र में मनुष्य के चरित्र के मनोवैज्ञानिक कारणों पर विचार करना युक्ति-संगत नहीं है। नीति-शास्त्र में विकासात्मक दृष्टि से चरित्र का अध्ययन नहीं किया जाता। नीति-शास्त्र का चरित्र-अध्ययन दार्शनिक अथवा विश्लेषणात्मक अध्ययन है। नीति-शास्त्र में, चरित्र कैसे बना—इसे जानना उतना महत्व नहीं रखता, जितना चरित्र बनने के लिए किन-किन तत्वों की आवश्यकता है—यह रखता है। चरित्र के बनने में वातावरण ईंट और गारे का काम करता है। परन्तु जिस प्रकार ईंट-गारे की उपस्थिति से ही कोई भवन तैयार नहीं हो जाता, उसी प्रकार बिना स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के वातावरण के द्वारा अपने-आप चरित्र गठित नहीं हो जाता। जो कार्य कारीगर इमारत के तैयार करने में करते हैं, वही कार्य इच्छाशक्ति चरित्र के निर्माण में करती है। वह वातावरण को अपने ही ढंग से काम में लाती है।

जिस प्रकार चरित्र-निर्माण में वातावरण सहकारी कारण का कार्य करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य के किसी विशेष आचरण में भी सहकारी, परन्तु परतन्त्र रूप से, कार्य करता है। हम देखते हैं कि एक ही वातावरण का प्रभाव सभी लोगों पर एक-सा नहीं पड़ता। मनुष्य का जैसा चरित्र होता है, उसे वातावरण उसी प्रकार प्रभावित करता है। अन्धेरे में एक पेड़ के ठूँठ को देखकर डरपोक बालक भयभीत हो जाता है, और भागने की चेष्टा करने लगता है। इसके प्रतिकूल वीर बालक उस ठूँठ से घबड़ाता नहीं; वह उसके पास जाकर वास्तविकता को जानने की चेष्टा करता है। कोई मनुष्य धन के प्रलोभन से झूठ बोल देता है, तो कोई इस प्रकार के प्रलोभन से बिल्कुल चलायमान नहीं होता। वह प्रलोभन देने वाले से ही क्रुद्ध हो जाता है। कायर मनुष्य रण से भागता है,

और वीर पुरुष रण में न केवल अपने ही लड़ता है, परन्तु दूसरों को भी प्रोत्साहित करता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि एक ही प्रकार का वातावरण मनुष्य के चरित्र-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण का कारण बन जाता है। किसी विशेष प्रकार का वातावरण मनुष्य के आचरण को किस प्रकार प्रभावित करेगा, यह उसके चरित्र पर ही निर्भर करता है; और यह चरित्र वातावरण का परिणाम नहीं, वरन् मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। शरीर और बुद्धि की तीक्ष्णता मनुष्य को उसके माता-पिता से मिलती हैं, परन्तु उसे अपना चरित्र अपने-आप ही बनाना पड़ता है। जैसा कि कान्ट महाशय ने बताया है, भौतिक दृष्टि से मनुष्य पर-जात है, और आध्यात्मिक दृष्टि से वह आत्मजात[1] है।

जब हम मनुष्य के वातावरण पर ही विचार करते हैं, तो सभी प्रकार के वातावरण को नैतिक दृष्टि से महत्व का नहीं पाते। मनुष्य के आचरण को प्रभावित करने वाला वातावरण भौतिक वातावरण नहीं, वरन् सामाजिक और विचारों का वातावरण है। मनुष्य किसी काम के करने में कुछ लोगों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है, कुछ के द्वारा प्रोत्साहित होता है; और कुछ के द्वारा हतोत्साहित होता है। ये सभी बातें उसके आचरण का कारण बनती हैं, पर यदि हम इन बातों को दार्शनिक दृष्टि से देखें, तो उन्हें हम अपने द्वारा ही निर्मित पावेंगे। मनुष्य अपने सम्बन्धियों और मित्रों की सलाह कहाँ तक मानेगा, उनको सन्तोष देने की कहाँ तक चेष्टा करेगा, यह उसके चरित्र पर निर्भर है। जैसा मनुष्य का चरित्र होता है, वह अपने वातावरण को भी वैसा ही बना लेता है।

मान लीजिए कि किसी कारणवश कोई व्यक्ति हमें गाली दे देता है। इस गाली को हम सह लेते हैं; और गाली देने वाले व्यक्ति को नासमझ जानकर क्षमा कर देते हैं। इसी तरह हमको कहीं बिना परिश्रम के धन मिल जाता है। हम इस धन को दान में दे देते हैं। हम अपनी इन क्रियाओं से एक प्रकार का वातावरण तैयार करते हैं। यदि हम क्रोध में आकर गाली देने वाले

---

1. Self-created.

व्यक्ति को तमाचा मार देते हैं, अथवा मुफ्त में पाए हुए धन को अपने ही काम में खर्च करते हैं, तो हम इन क्रियाओं के द्वारा दूसरे प्रकार के वातावरण का निर्माण कर लेते हैं। हम गाली देने वाले को तमाचा मारेंगे अथवा नहीं, मुफ्त में मिले धन को दान में दे देंगे अथवा अपने-आप खर्च करेंगे; यह हमारे चरित्र के ऊपर निर्भर है। इस प्रकार हमारा चरित्र ही हमारे शत्रु और मित्र का निर्माण करता है, और प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थितियों को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार हमारा वातावरण वास्तव में हमारे ही द्वारा, अर्थात् हमारे चरित्र के द्वारा निर्मित होता है। नीति-शास्त्र के विद्वान मेकेन्जी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है, कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम नहीं बल्कि वातावरण में प्रकाशित चरित्र का परिणाम है। आदर्शवादी विचार-धारा के अनुसार आचरण में प्रधान वस्तु वातावरण नहीं वरन् चरित्र है। यही मत हमें युक्ति-संगत दिखाई देता है।

प्रश्न

१. भूख और इच्छा में क्या भेद है? मनुष्य के नैतिक आचरण में इच्छा का क्या स्थान है?

२. इच्छाओं के द्वन्द्व का क्या अर्थ है? इससे मनुष्य का नैतिक विकास कैसे होता है?

३. इच्छित क्रिया के स्वरूप को उसका विश्लेषण करके स्पष्ट कीजिये। निश्चय के पूर्व की अवस्था की मनोवैज्ञानिक महत्ता क्या है?

४. स्वतंत्र इच्छा शक्ति का क्या अर्थ है? इसकी उपस्थिति को प्रमाणित करने के लिये कौन-कौन युक्तियाँ दी जाती हैं?

५. नियतवाद और स्वतंत्रतावाद का नीतिशास्त्र के विचारों में क्या महत्त्व है? यदि हम स्वतंत्रतावाद को नहीं मानें, तो नीतिशास्त्र का क्या रूप होगा?

६. चरित्र कैसे बनता है ? इसके बनने में स्वतंत्र इच्छाशक्ति का क्या स्थान है ?

७. "स्वच्छन्दता स्वतन्त्रता नहीं है"–इस कथन की सत्यता को स्पष्ट कीजिये। नीतिशास्त्र के लिये किस प्रकार की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।

८. नैतिक आचरण के लिये किस प्रकार की नियतिता आवश्यक है। इस नियतिता का भेद नैतिक नियतिता से बताइये।

९. इच्छा, हेतु और संकल्प में क्या भेद है ? उदाहरण देकर समझाइये ? मनुष्य के आचरण की नैतिकता को कौन-सा तत्त्व अधिक स्पष्ट करता है।

१०. मनुष्य का आचरण, उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम है—इस कथन की समालोचना करके उचित सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

——

चौथा प्रकरण

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु[1]

दो विरोधी विचार

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु के विषय में दो विरोधी विचार हैं। एक विचार के अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु सुख की इच्छा होती है, और दूसरे विचार के अनुसार उसकी क्रियाओं का हेतु उसका ज्ञान होता है। पहले प्रकार के विचार को मनोवैज्ञानिक सुखवाद[2] कहा जाता है, और दूसरे प्रकार के विचार को विचारवाद[3] कहते हैं। इन दोनों विचारधाराओं को जानना और उन पर विवेचन करना नीति-शास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं को हल करने के लिये आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

बेन्थम महाशय की युक्ति—मनोवैज्ञानिक सुखवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक बेन्थम और मिल महाशय हैं। जेरोमी बेन्थम महाशय अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सपिल्स आफ लेजिसलेशन' के प्रथम प्रकरण में निम्नलिखित युक्तियाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद को सिद्ध करने के लिये देते हैं—

"प्रकृति ने हमें सुख और दुःख के राज्य में रख दिया है। हमारे सभी विचार इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। हम अपने सभी निर्णयों और निश्चयों को उन्हीं के अनुसार बनाते हैं। जो इस अनुशासन से मुक्त रहने की बात कहता है वह नहीं जानता कि मैं क्या कह रहा हूँ। उसका उद्देश्य एक ही होता है, सुख को ग्रहण करना और दुःख से मुक्ति पाना। जब वह अधिक-से-

---

1. Motives. 2. Psychological hedonism. 3. Rationalism.

अधिक सुख का त्याग करता है और कठिन दुःख को स्वीकार करता है, तब भी उसकी क्रिया का हेतु उपर्युक्त ही होता है। नीति-शास्त्र पर विचार करने वाले और कानून बनानेवाले विद्वानों का कर्त्तव्य है, कि वे इन दो भावों (अर्थात् सुख की चाह और दुःख से मुक्त होने की इच्छा) का भली प्रकार से अध्ययन करें। उपयोगितावाद[1] का सिद्धान्त मनुष्य के सभी कार्यों को इन दो प्रेरकों[2] (हेतुओं) के अधीन रख देता है"।*

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्टरूप से बताया गया है कि भले और बुरे, साधु और भोगी, सभी लोगों के कामों का हेतु सुख की इच्छा और दुःख से बचने की चाह होती है। इस मत के प्रतिकूल जो बात कहता है, वह अनर्गल बात कहता है। कोई व्यक्ति यदि किसी महान् सुख का त्याग करता है, तो उससे अधिक सुख मिलने की आशा से; इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार के कष्ट को उठाता है, तो सुख प्राप्ति की आशा से ही।

मिल की युक्ति—उक्त सुखवाद के सिद्धान्त का समर्थन जान स्टूअर्ट मिल महाशय ने अपनी "यूटिलिटेरियनिज्म" नामक पुस्तक में किया है। यहाँ उनके विचार उल्लेखनीय हैं—

यह निश्चय करने के लिये कि सचमुच मनुष्य मात्र उसी बात को चाहता है, जिसमें उसे सुख मिलता है और जिसमें दुख का अभाव रहता है, हमें वास्तविकता

---

1 **Utilitarianism.** 2. Motives.

* "Nature has placed man under the empire of pleasure and pain. We owe to them all our ideas; we refer to them all our judgments, and all the determinations of our life. He who pretends to withdraw from this subjection knows not what he says; his only object is to seek this pleasure and to shun pain, even at the very instant that he rejects the greatest pleasures or embraces the most acute pain. These eternal and irresistible sentiments ought to be the great study of the moralist and the legislator. The principle of utility subjects every thing to these two motives"—**Principles of Legislation.** Chap. I

को देखना पड़ेगा; और यह प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है। इसे हम आत्म-निरीक्षण और दूसरे व्यक्तियों के आत्म-निरीक्षण की सहायता से निश्चित कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि इन दो प्रमाणों पर पक्षपात-रहित विचार करने से यह अवश्य निश्चित हो जायगा, कि किसी वस्तु की इच्छा करना, और उसे सुखद पाना तथा उससे भागना और उसको दुःखद सोचना एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते, अर्थात् ये एक ही घटना के दो भाग हैं; ये एक ही मनोवैज्ञानिक सत्य को दो प्रकार से कहने की विधियाँ हैं। किसी वस्तु को इच्छा के योग्य और सुखद मानना एक ही बात है। किसी वस्तु की, सुख के विचार के अतिरिक्त किसी और कारण से, इच्छा करना भौतिक और तात्विक दृष्टि से असम्भव है"।*

सुखवाद की आलोचना—मिल महाशय के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के कार्यों का हेतु सुख की चाह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। सुख-प्राप्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे हेतु से काम करना मनुष्य के लिये,

---

* "And to decide whether it is really so; whether mankind do desire nothing for itself but that which is a pleasure to them or of which the absence is a pain, we have evidently arrived at a question of fact and experience, dependent like all similar questions, upon evidence. It can only be determined by observation of others. I believe that these sources of evidence, impartially consulted, will declare that desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful, are phenomena, entirely inseparable, or rather two parts of the same phenomenon, in strictness of language, two different modes of naming the same psychological fact—that to think of an object as desirable (except for the sake of its consequence) and to think of it as pleasant are one and the same thing: and that to desire any thing, except in proportion as the idea of it is pleasant, is a physical and metaphysical impossibility."—

Utilitarianism.

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, सम्भव नहीं है। इस सत्य का प्रमाण अपने विचारों के निरीक्षण से मिलता है। इस निरीक्षण की योग्यता अभ्यास से आती है। अब हमें विचार करना है, कि क्या मनुष्य के सभी कार्यों का हेतु सुख की चाह ही होती है; और क्या मनुष्य अपने आपको सुख की इच्छा से किसी भी स्थिति में मुक्त नहीं कर सकता ?

सुख और संतोष का ऐक्य—सुखवादियों ने सुख और आत्मसंतोष का ऐक्य कर दिया है। यह कथन सत्य है कि मनुष्य आत्मसन्तोष के लिये सभी काम करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह सुख के लिये सब कुछ करता है। मनुष्य जब कोई काम करता है, तो उसे सुख अवश्य होता है; परन्तु इस सुख को ही कार्य का हेतु बनाकर काम करने से सुख की प्राप्ति के बदले सुख का विनाश हो जाता है। मान लीजिये कि कोई खिलाड़ी किसी खेल में भाग इसलिए लेता है, कि उससे उसको सुख प्राप्त होगा। क्या वह खेल के सुख की वास्तविक अनुभूति का विनाश सुख-प्राप्ति की चिन्ता से नहीं कर लेता ? यदि वह बार-बार यह सोचता रहे कि उसे सुख प्राप्त हुआ अथवा नहीं, तो वह ठीक से खेल ही न सकेगा, और उसे सुख की प्राप्ति की जगह सुख का विनाश ही मिलेगा। जिस प्रकार खेल का सुख उसके विषय में चिन्ता करने से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कलाकार, लेखक और समाज-सेवा के किसी काम में लगे हुए व्यक्ति का सुख भी उन कामों से प्राप्त होने वाले सुख के विषय में चिन्ता करने से नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति अपने काम से प्राप्त होने वाले सुख के बारे में जितना चिन्तित रहता है, वह अपने सुख का उतना ही अधिक विनाश करता है।

सुखवादियों के अनुसार निःस्वार्थ परोपकार का काम करना संभव ही नहीं। जो कुछ काम किया जाता है, वह अपने सुख के लिये ही किया जाता है। इस सुख का स्वरूप क्या है ? यह बाह्य पदार्थ की प्राप्ति होने पर संवेदनाओं की अनुभूति-रूप कहा गया है। पर यह देखा जाता है कि देश-भक्त अपने देश के कल्याण-हेतु, अथवा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये, फाँसी के तख्ते पर प्रसन्नता से चढ़ जाता है। उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से कौन-सा सुख प्राप्त होता है; और किस भावी सुख की आशा से वह अपने प्राणों की बलि देता है ? जब उसका अस्तित्व ही न रहेगा, तो उसे कौन-सा सुख होना सम्भव है ?

विचार-जन्य सुख की विशेषता—सम्भव है कि उक्त तर्क के उत्तर में यह कहा जाय, कि उसे अपने देश के स्वतन्त्र होने का विचार सुख देता है। पर इस उत्तर का अर्थ यही होता है, कि मनुष्य को सुख के त्याग से भी सुख प्राप्त होता है। वह सुख कैसा, जो उसके त्याग से उत्पन्न हो ? वास्तव में विचारजन्य सुख को आत्म-सन्तोष का नाम देना उचित है। मनुष्य सभी काम आत्मसंतोष के लिये करता है। किसी व्यक्ति का आत्म-संतोष भोग्य पदार्थों की प्राप्ति में होता है, और किसी का आत्म-संतोष उनके त्याग से होता है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के उपवास का व्रत रखता है, उसे उपवास के दिन भोजन कर लेने से शारीरिक सुख तो होता है, पर तुरन्त ही उसे आत्म-ग्लानि का दुख होने लगता है। इस दुःख का साधारण दुःख से साम्य नहीं किया जा सकता। यह दुःख आध्यात्मिक असन्तोष है।

आन्तरिक अशान्ति की वास्तविकता—हमारे देखने में कई व्यक्ति ऐसे आते हैं, जो धन-मान से सम्पन्न हैं, जिनका शरीर स्वस्थ है, परन्तु उन्हें आन्तरिक अशान्ति है। उन्हें किसी प्रकार के काम को करने की इच्छा ही नहीं होती। खाने-पीने और पहिनने-ओढ़ने के सुख उन्हें सुखरूप नहीं दिखाई देते; वे सदा बेचैन रहते हैं। जैसे कोई अपनी खोई वस्तु के लिये बेचैन रहे, वे उसी प्रकार बेचैन अथवा मानसिक अशान्ति की अवस्था में रहते हैं। उनके जीवन में सुखों की कमी नहीं, पर उन्हें सुख सुखरूप दिखायी नहीं देते। ये उन्हें दुःखरूप अथवा भाररूप दिखाई देते हैं। वास्तव में सुख की चाह भी तभी उत्पन्न होती है, जब मनुष्य में आध्यात्मिक शान्ति रहती है।

अपने और पराये सुख में भेद—कितने ही व्यक्ति अपने सुख की कल्पना के कारण किसी काम में प्रवृत्त होते हैं, और कितने ही दूसरे लोगों के सुख की कल्पना के कारण। दूसरे व्यक्तियों का सुख अपने लिये उसी प्रकार का सुख नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार सुख के भोक्ताओं के लिए वह सुख है। दूसरों का सुख हमारे मन में सन्तोष भले ही उत्पन्न करे, पर वह ऐन्द्रिक सुख नहीं देता। यह सन्तोष[1] विवेक का संतोष है। जब मनुष्य अपना

---

1. Satisfaction.

कर्त्तव्य करता है; अर्थात् विवेकानुकूल अपना आचरण बनाता है, तो उसे आत्म-संतोष प्राप्त होता है। यही आत्म-संतोष उच्च श्रेणी के लोगों के कार्यों का हेतु होता है।

विवेकशीलता[1]—मानव स्वभाव की विशेषता—जब कोई सुखवादी कहता है कि कोई भी व्यक्ति सुख के अतिरिक्त दूसरे किसी हेतु से प्रेरित होकर काम नहीं करता, तो वह मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं करता। पशु सदा विषय-सुख से ही प्रेरित होकर किसी प्रकार की क्रिया में लगता है। मनुष्य में विचार-शक्ति है। इसके कारण जिस काम में पशु को सुख होता है, उसमें मनुष्य को कभी सन्तोष और कभी असन्तोष होता है। अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को सन्तोष न होकर, असन्तोष ही होता है। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ तक मनुष्य अपने आचरण में मानवता को प्रदर्शित करता है, तहाँ तक वह विषय-सुख की ओर न दौड़कर विचार से उत्पन्न संतोष के लिये ही काम करता है।

"सुख" और उसका पर्यायवाची अंगरेजी शब्द "हैपीनेस" ऐसे शब्द हैं, जो दो विभिन्न अर्थ के काम में आते हैं। सुख तथा "हैपीनेस" का साधारण अर्थ विषय-सुख होता है। पर आत्म-संतोष वास्तव में विषय-सुख से भिन्न वस्तु है। आत्म-संतोष मनुष्य के विचारों पर निर्भर है, और सुख बाह्य पदार्थों की उपस्थिति पर। सुख में त्याग की कल्पना के लिए स्थान नहीं, पर आत्म-संतोष में त्याग की कल्पना का स्थान है। सुख की उत्पत्ति किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति से होती है, और आत्म-सन्तोष आत्मा की पूर्णता के ज्ञान से होता है। आत्म-संतोष न केवल इच्छित वस्तुओं के अभाव से नष्ट हो सकता है; वरन् वह नैतिकता में कमी की अनुभूति से भी नष्ट हो जाता है।

विवेकवाद[2] का सिद्धान्त

विवेकवादियों के अनुसार मनुष्य के कार्यों का हेतु उसका ज्ञान होता है।

---

1. Reason. 2. Rationalism.

मनुष्य जिस विषय के बारे में जानता है, उसी की प्राप्ति की वह चेष्टा भी करता है, जिसके बारे में वह जानता ही नहीं; वह उसके कार्यों का हेतु नहीं बन सकता। मनुष्य विषय-सुख के लिये इसलिये सदा इच्छुक रहता है, कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपादेय पदार्थ वह जानता ही नहीं। जब मनुष्य को विषय-सुख की ओर जाने के दुष्परिणाम का ज्ञान होता है, जब वह विषय-सुख को झूठा अथवा भ्रमात्मक समझने लगता है, तब वह उसकी ओर नहीं दौड़ता। जब उसे आध्यात्मिक बातों का ज्ञान होता है, तब वह आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता महात्मा सुकरात का यह कथन है कि ज्ञान ही सद्गुण है।* महात्मा सुकरात का कथन है कि मनुष्य किसी व्यसन में इसलिये पड़ता है, क्यों कि वह उस व्यसन से होने वाली बुराइयों को नहीं जानता। दूसरे उसे ऐसी दूसरी भली वस्तु का ज्ञान ही नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिये वह चेष्टा करे। यदि मनुष्यों को सुशिक्षित बनाया जाय, उनके समक्ष सदा आध्यात्मिक विषयों की चर्चा की जाय, तो वे कदापि दुराचारी न बनें। सुकरात ने इस सिद्धान्त को अपने जीवन में पूर्णतः चरितार्थ किया। वह सदा आध्यात्मिक विचारों में ही निमग्न रहता था। जो व्यक्ति उसके पास आता था, उससे वह सदा सदासद्-विवेक की ही चर्चा करता था। वह यूनान के नवयुवकों से सदा घिरा रहता था। राह में चलते हुए भी वह गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक विषयों पर उनसे विचार-विनिमय करता था; और उन्हें जीवन को सफल बनाने का मार्ग सुझाता रहता था। उसके उपदेश के परिणाम स्वरूप बहुत से धनी घर के युवकों ने धन कमाने का व्यवसाय छोड़ दिया और अपना जीवन सत्यान्वेषण के लिये अर्पित कर दिया। ऐसे शिष्यों में प्लेटो (अफलातून) महाशय का नाम अग्रगण्य है।

सुकरात के उक्त सिद्धान्त का समर्थन जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षा-वैज्ञानिक हरबार्ट महाशय ने भी किया है। उनके कथनानुसार बालकों

---

* Knowledge is virtue.

के चरित्र-गठन के लिये उनमें सुन्दर नैतिक विचारों का बाहुल्य होना चाहिए। विचार से किसी विषय में 'रुचि'[1] उत्पन्न होती है, यह रुचि आचरण का कारण बनती है; और आचरण से चरित्र बनता है। अतएव किसी व्यक्ति का आचरण और चरित्र सुधारने के लिये उसे भले विचार देना आवश्यक है। इस कथन का सारांश यही है कि मनुष्यों के कार्यों का हेतु विचार ही होता है।

उक्त कथन कुछ मौलिक सत्य को प्रदर्शित करता है। मनुष्य की इच्छाओं के बनने में विचार का प्रधान स्थान रहता है। पशुओं की चाह और मनुष्यों की इच्छा में यही भेद है, कि पशु उचित और अनुचित का विचार नहीं करता; मनुष्य इसका विचार करता है। पर केवल विचार ही किसी क्रिया का हेतु नहीं होता। विचार क्रियात्मक मनोवृत्ति को एक ओर, अथवा दूसरी ओर मोड़ सकता है, वह अपने आप क्रिया का हेतु नहीं बन सकता।

विज्ञानवादियों के विचारानुसार ज्ञान का उत्पन्न होना ही किसी क्रिया का हेतु होने के लिये पर्याप्त है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। मनुष्य एक बात को सही मानता है, पर करता दूसरी को ही है। यदि ज्ञान ही क्रिया का हेतु बन जाता, तो नैतिकता की मौलिकता ज्ञात होने पर मनुष्य अनैतिक आचरण कदापि न करता। पर देखा गया है कि जो लोग अनेक प्रकार के दर्शनों के विद्वान् होते हैं, वे अवसर आने पर अपने आप को किसी विशेष प्रकार के प्रलोभनों से नहीं रोक पाते। प्रलोभनों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि हमारे कार्यों का हेतु हमारी क्रियात्मक मनोवृत्ति ही होती है। विचार इस मनोवृत्ति को विशेष प्रकार का रूप देता है। विचार मनुष्य की पाशविक वासनाओं को विवेकयुक्त इच्छाएँ बनाता है, और इस प्रकार वह सदाचार का कारण बनता है।

---

1. Interest.

मार्टीनो महाशय का सिद्धान्त

कार्य-स्रोत[1] की कल्पना—मर्टीनो महाशय के कथनानुसार मनुष्य के सभी कार्यों के हेतु उसकी जन्मजात अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन प्रवृत्तियों को मार्टीनो ने "कार्य-स्रोत" कहा है। ये स्रोत दो प्रकार के होते हैं—प्राथमिक[2] और सांस्कारिक[3]। प्राथमिक कार्य-स्रोत वे हैं जो हमें अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिये कार्य में प्रेरित करते हैं। इनके लक्ष्य पहले से निश्चित नहीं रहते। इन प्रवृत्तियों में विचार का स्थान नहीं रहता। जीवन के पहले-पहल के कार्य इन्हीं के द्वारा प्रेरित रहते हैं।

सांस्कारिक कार्यों के स्रोत वे हैं जो पूर्व निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को प्रेरित करते हैं। प्राथमिक कार्य-स्रोत ही अनुभव और संस्कारों के द्वारा बदल कर सांस्कारिक कार्य-स्रोत बन जाते हैं। इनके द्वारा इच्छित क्रियाएँ होती हैं। जब किसी प्राथमिक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने से किसी सुख की प्राप्ति हो जाती है तो उस प्रवृत्ति और सुख में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध के कारण हम प्रायः उसी प्रकार के काम करने की प्रेरणा अपने भीतर पाते हैं। जब अपने अनुभव के द्वारा इस प्रकार प्राथमिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है तो नये कार्यों के स्रोत का निर्माण होता है। इन्हें द्वितीय वर्गीय अथवा सांस्कारिक कार्य-स्रोत कहा जाता है।

मार्टीनो महाशय ने इन दो प्रकार के कार्य-स्रोतों का फिर से चार विभागों में वर्गीकरण किया है। विभिन्न प्रकार के लक्ष्य की दृष्टि से प्रत्येक कार्य-स्रोत चार प्रकार के हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) प्रेम और (४) स्थायी भाव।

---

1. Springs of action. 2. Primary. 3. Secondary.

निम्नलिखित तालिका उक्त वर्गीकरण को भली प्रकार से स्पष्ट करती है।

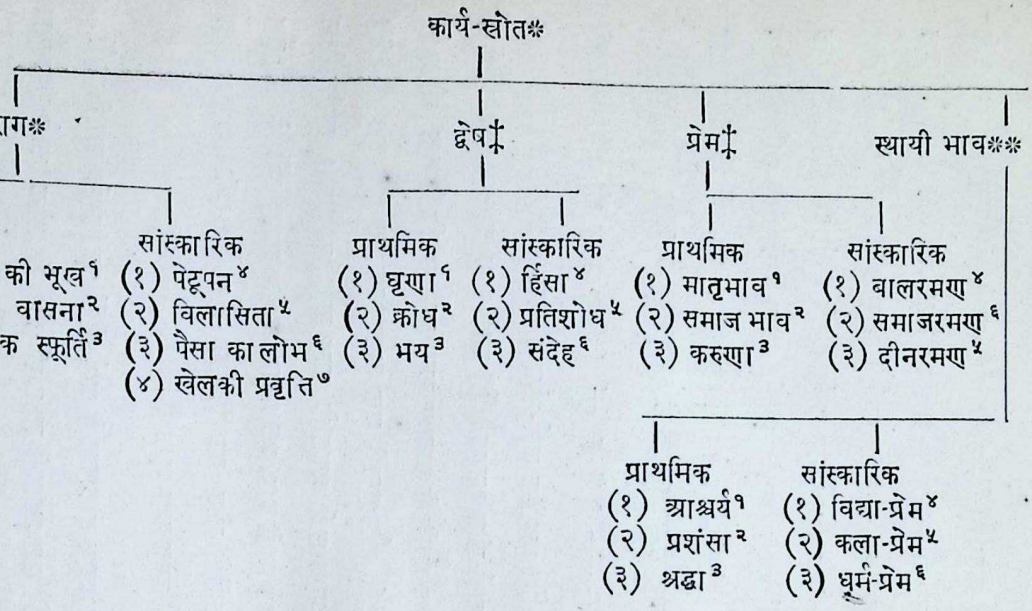

* **Propensions**—1. Appetite for food, 2. Appetite for sex, 3. Animal spontaneity 4. Geultony, 5. Sensuality, 6. Lovhe of mohney, 7. Indulgence in play.

†**Passions**—1. Antipalthy, 2. Anger, 3.Fear, 4. Malice, 5. Vindictiveness, 6.Mistrust.

‡ **Affections**—1. Parental, 2. Social, 3. Compassionate, 4. Play with children, 5. Love of Social inter-course, 6. Indulgence in pity.

* * **Sentiments**—1. Wonder, 2. Admiration, 3. Reverence, 4. love of self-culture, 5. AEtheticism, 6. Interest in religion.

राग उस मानसिक प्रवृत्ति का नाम है, जो मनुष्य में किसी विशेष विषय की ओर जाने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। यह दो प्रकार का है, एक प्राथमिक और दूसरा सांस्कारिक। प्राथमिक राग भोजन की इच्छा, कामेच्छा और शारीरिक क्रिया की इच्छा में प्रकाशित होते हैं; और ये उनके उपयुक्त विषयों की प्राप्ति के लिये चेष्टा करने का कारण बनते हैं। सांस्कारिक राग मनुष्य में पेटूपन, विलासिता, पैसे का लोभ और खेल की प्रवृत्ति के रूप ले लेते हैं। ये वास्तव में प्राथमिक राग के परिवर्तन के परिणाम मात्र हैं।

द्वेष उस मानसिक प्रवृत्ति का नाम है, जिसके कारण मनुष्य किसी दुःखदायी पदार्थ से विरत होता है। प्राथमिक द्वेष सहज प्रवृत्ति का रूप लेता है, और सांस्कारिक द्वेष अनुभव के बाद उत्पन्न होते हैं। प्राथमिक द्वेष घृणा, क्रोध और भय हैं; संस्कार-जन्य द्वेष हिंसा, प्रतिशोध और संदेह के भाव हैं। घृणा हिंसा-भाव को उत्पन्न करता है, क्रोध प्रतिशोध के भाव को और भय संदेह को।

प्रेम का भाव हमें किसी व्यक्ति की ओर ले जाता है। यह भी दो प्रकार का होता है; एक प्राथमिक, और दूसरा संस्कारजन्य, अर्थात् सहज प्रेम और अर्जित प्रेम। मार्टीनो महाशय ने सहज प्रेम को निःस्वार्थ प्रेम बताया है, और अर्जित प्रेम को स्वार्थी। सहज प्रेम दूसरे व्यक्ति के प्रति आत्मीयता के भाव की अनुभूति से प्रेरित होता है; और अर्जित प्रेम उनसे प्राप्त होने वाले सुख के भाव से प्रेरित रहता है। मातृ-भाव, समाज-भाव और करुणा प्राथमिक प्रेम के रूप हैं, और बाल-रमण, समाज-रमण और दीन-रमण के भाव अर्जित प्रेम के।

स्थायी भाव वे प्रवृत्तियाँ हैं, जो मनुष्यों में किसी प्रकार के आदर्शों की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। ये भी दो प्रकार की हैं—प्राथमिक और संस्कारजन्य। प्राथमिक स्थायी भाव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। इनके कारण मनुष्य में तीन प्रकार के आदर्शों की ओर प्रवृत्ति होती है। ज्ञानात्मक स्थायी भाव आश्चर्य है, यह सत्य की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करता है; भावात्मक स्थायी भाव प्रशंसा है, यह सौंदर्य की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करता है, क्रियात्मक स्थायी भाव श्रद्धा है, यह मनुष्य को शिव अर्थात् भलाई की ओर प्रेरित करती है, और उसे बुराई से विरत करती है। अर्जित स्थायी भाव विद्या-प्रेम, कला-प्रेम और धर्म-प्रेम के भाव हैं।

ये प्राथमिक स्थायी भावों से उत्पन्न हुए हैं। इनमें अपने सुख के ध्यान से मनुष्य किसी प्रकार के उद्योग में लगता है।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ अर्थात् कार्य-स्रोत ऐसे हैं, जिनमें प्राथमिक और सांस्कारिक प्रवृत्तियों का मिश्रण होता है—जैसे स्पर्धा, लोक-प्रशंसा आदि के भाव।

मार्टीनो के सिद्धान्त की समालोचना—मार्टीनो महाशय के सिद्धान्त में मुख्य दो दोष हैं, एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा नीति-शास्त्र सम्बन्धी। मार्टीनो ने बहुत सी अर्जित प्रवृत्तियों को प्राथमिक अथवा जन्मजात प्रवृत्तियाँ मान लिया है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मार्टीनो महाशय का उक्त वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। किसी प्रकार के स्थायी भाव को जन्मजात प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। मार्टीनो ने जिस प्रकार राग, द्वेष और प्रेम की प्रवृत्तियों को दो विभागों में विभाजित किया है; उसी प्रकार उन्होंने स्थायी भावों को भी दो भावों में विभक्त किया है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के सभी स्थायी भाव अर्जित होते हैं। मार्टीनो के वर्गीकरण में और भी अनेक प्रकार की भूलें हैं। मार्टीनो ने मूल प्रवृत्तियों और उनसे सम्बन्धित उद्वेगों का मिश्रण कर दिया है। इनके वर्गीकरण का दूसरा दोष नीति-शास्त्र सम्बन्धी है। इन्होंने सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को एक ही वर्ग में रख दिया है। मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियाँ सुखात्मक होती हैं, और कुछ आदर्शात्मक। अपने शरीर की रक्षा अथवा उसके सुख से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ एक प्रकार की होती हैं, और आदर्शात्मक प्रवृत्तियाँ दूसरे प्रकार की। मार्टीनो महाशय ने चतुराई और विवेक के भेद को स्पष्ट नहीं किया। चतुराई सुख-प्राप्ति का साधन होता है, और विवेक-शीलता नैतिक आदर्श-प्राप्ति का। मनुष्य में चतुराई का आना स्वाभाविक है; यह प्राकृतिक रूप से आती है; किन्तु नैतिकता के लिए मनुष्य को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करना पड़ता है। यह सामान्य प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करने से आती है। चतुराई की वृद्धि के लिये त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती, पर त्याग और तपस्या के बिना नैतिकता का विकास सम्भव नहीं। नैतिकता का उदय महान् प्रयत्न का परिणाम है। नैतिकता का विकास विचार अथवा विवेक के विकास के साथ-साथ होता है। बिना विचार और विवेक के

उत्पन्न हुये नैतिक आचरण सम्भव नहीं। अतएव नैतिक भावों को जन्मजात नहीं कहा जा सकता। नैतिक भाव अभ्यास का परिणाम है। मार्टीनो महाशय ने जिस प्रकार अन्य कार्यस्रोतों को जन्मजात बताया है, उसी प्रकार नैतिक भावों को जन्मजात बताकर, नीति-शास्त्र की दृष्टि से एक बड़ी भूल की है। मनुष्य जन्म से सद्गुणी नहीं होता, वह प्रयत्न से अपने आपको सद्गुणी बनाता है।

मार्टीनो महाशय ने उक्त कार्यस्रोतों को फिर तेरह भागों में बाँटा है, और नैतिकता की दृष्टि से एक के बाद एक को उनकी बुराई और भलाई के अनुसार रखा है। यह वर्गीकरण नैतिक मापदण्ड से सम्बन्ध रखता है, अतएव इसका उल्लेख तथा उसकी आलोचना हम उचित स्थान पर करेंगे।

प्रश्न

१. मनोवैज्ञानिक सुखवाद क्या है? अपने विचार के समर्थन के लिये बेन्थम महाशय ने कौन से प्रमाण दिये हैं? उनकी युक्तियों की समालोचना कीजिये।

२. मिल महाशय ने अपनी पुस्तक 'यूटिलिटेरियनिज़्म' में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थन में कौन-कौन से प्रमाण दिये हैं? इनकी समुचित समालोचना कीजिये।

३. सुख और आत्मसंतोष में क्या भेद है? विचारजन्य सुख की विशेषता बताइये।

४. मनुष्य के कार्य के हेतुओं की विशेषता क्या है? मनुष्य दूसरे के सुख की वृद्धि के लिये किस कारण से प्रेरित होता है?

५. सोक्रिटीज़ महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये कि ज्ञान ही सत्गुण है! क्या यह कहना सत्य है कि मनुष्य अपनी क्रियाओं में सदा अपने विवेक से ही प्रेरित होता है? मनुष्य के कार्य के हेतुओं में विचार का क्या स्थान है?

६. मार्टिनो महाशय के कार्यस्रोत की कल्पना के सिद्धान्त को स्पष्टतः समझाइये। क्या यह कहना सत्य है कि नैतिक आचरण उच्च कोटि के कार्यस्रोत का परिणाम है?

——

पाँचवाँ प्रकरण

नैतिक उत्तरदायित्व[1]

नैतिक उत्तरदायित्व का आधार[2]—नीति-शास्त्र की एक पूर्व-मान्यता नैतिक उत्तरदायित्व है। नैतिक जिम्मेदारी की संभावना न रहने पर नैतिकता पर विचार करना व्यर्थ हो जाता है। मनुष्य में नैतिक उत्तरदायित्व स्वतंत्र इच्छाशक्ति के साथ-साथ आता है। जिस मनुष्य में अपने आप स्वतन्त्र सोचने की शक्ति है, और जो मनुष्य अपने कर्तव्य को समझ सकता है, उसके ऊपर ही किसी प्रकार का नैतिक उत्तरदायित्व आता है। यदि हम मनुष्य के आचरण को किसी बाहरी सत्ता के ऊपर निर्भर मान लें, अथवा मनुष्य के चरित्र को वातावरण का परिणाम मात्र मान लें, तो नैतिक उत्तरदायित्व की भित्ति ही गिर जाती है।

ईश्वरवादी विचार[3] की कठिनाई—ईश्वरवादी विचार में नैतिक उत्तरदायित्व का प्रश्न जटिल हो जाता है। ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है। वह हमारे विचारों को जानता है, और हमारे मन में किसी भी प्रकार के काम करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। वह सृष्टि के लक्ष्य को भी जानता है, और उस लक्ष्य के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति में किसी काम के करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। अतएव कोई काम भला हो अथवा बुरा, इसकी जिम्मेदारी मनुष्य के ऊपर नहीं, ईश्वर के ही ऊपर है। ईश्वर सर्व शक्तिमान है, अतएव वह बुरे मनुष्य को बुराई करने से रोक सकता है। फिर उसके होते हुए भी यदि कोई मनुष्य बुरा आचरण करता है, तो वह ईश्वर की ही भूल है। इस भूल के लिये उसे न मनुष्य को जिम्मेदार करना चाहिए, और न इसके लिये उसे दण्ड देना चाहिए।

---

1. Moral responsibility. 2. Basis of moral responsibility. 3. Theism.

कई एक लोगों का कहना है कि ईश्वर जो कुछ करता है, भले के लिये करता है; ईश्वर से भूल हो ही नहीं सकती। यदि इस विचार को ठीक मान लिया जाय, तो नैतिक और अनैतिक आचरण एक ही कोटि के हो जावेंगे। फिर न संत के काम स्तुत्य माने जायँगे, और न दुराचारी के काम निन्द्य। सभी कामों को भला मानने पर नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न उठता ही नहीं।

स्पैनोज़ा महाशय का कथन है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, और संसार के सभी भले बुरे काम ईश्वर ही करता है। मनुष्य की सच्ची स्वतन्त्रता अपने आपको ईश्वर के ऊपर छोड़ देने में है। मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र न होकर अपने आपको स्वतन्त्र मान बैठा है। यही भ्रम उसके दुःखों का कारण है। मनुष्य के दुःख और उसकी स्वतन्त्रता दोनों ही कल्पित वस्तुयें हैं। एक झूठी कल्पना दूसरी कल्पना का कारण बन जाती है। मनुष्य अपने आपको स्वतन्त्र मानता है; अतएव उसे अपने आपको भले और बुरे कामों के लिये जिम्मेदार भी मानना पड़ता है। इसके कारण ही उसे दुःख और सुख होते हैं। जब मनुष्य परमात्मा से अपना एकत्व समझ लेता है, तो वह समझ जाता है कि सभी काम ईश्वर की इच्छा से ही होते हैं, वह स्वयं कुछ भी नहीं करता। इस मानसिक स्थिति में पहुँचने पर किसी प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी नहीं रहती। अतएव ऐसी स्थिति में नीति-शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रहती। जो कठिनाई स्पैनोज़ा के विचार में आती है, वह भारतवर्ष के वेदान्त-विचार में आती है।

समाजवादी विचार की कठिनाई—ईश्वरवादी विचार पुराना विचार है; और समाजवादी विचार नया विचार है। पर जिस प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी की कठिनाई ईश्वरवादी विचार में आती है, उसी प्रकार की कठिनाई समाजवादी विचार में भी आती है। समाजवादी विचार मनुष्य के व्यक्तित्व के बनने में सामाजिक वातावरण को ही प्रधान मानता है। मनुष्य का चरित्र उसकी कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों और वातावरण के नैतिक संस्कारों पर निर्भर है। यह कहना सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण में स्वतन्त्र है; पर यह स्वतन्त्रता भ्रामक है। जब मनुष्य का व्यक्तित्व ही किसी दूसरी सत्ता के ऊपर निर्भर है, तो उसे हम अपने कार्यों के लिये कैसे स्वतन्त्र मान सकते हैं; और उसके ऊपर कोई नैतिक जिम्मेदारी कैसे डाल सकते हैं? वंशानुक्रम और वातावरण ही

मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाते हैं, और ये दोनों ही उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर नहीं करते। यदि किसी मनुष्य में कम बुद्धि है अथवा वह लंगड़ा है, तो यह उसका दोष नहीं; यह दोष जन्मजात है। पर इसके कारण उसके चरित्र का विकास विशेष रूप से होता है। यदि किसी बालक को प्रारम्भ से दूषित वातावरण में रख दिया जाता है, और इसके कारण वह चोर, व्यभिचारी अथवा अत्याचारी बन जाता है; तो इसमें दोष समाज का है, न कि उस बालक का।

इन कठिनाइयों को हल करने के लिये हमें मनुष्य के स्वभाव और समाज के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार करना पड़ता है। मनुष्य न तो ईश्वर के समान सर्वशक्तिमान है, और न वह निरा पशु ही है। मनुष्य प्रयत्न के द्वारा अपने आपको सुधार सकता है। उससे भूलें होती हैं, पर वह भूलों से शिक्षा ग्रहण करके भले मार्ग का अनुसरण कर सकता है। यदि मनुष्य पशु होता, तो उसमें अपने आपको सुधारने की योग्यता को मानना युक्ति-संगत न होता। पशु को न तो भले-बुरे का ज्ञान है, और न उसे किसी प्रकार का नैतिक जिम्मेदारी का ही है। जो मनुष्य उचित-अनुचित के विषय में सोच सकता है, जिसे भले-बुरे का ज्ञान होता है उसी के विषय में नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। मनुष्य के सामने भले और बुरे आदर्श रहते हैं; वह इन आदर्शों को जान सकता है; और बुरे आदर्श को छोड़कर भले आदर्श को ग्रहण कर सकता है। उसकी जन्मजात योग्यताएँ चाहे जो हों और उसका वातावरण चाहे जैसा हो, उसकी नैतिक उन्नति के लिये सदा अवसर रहता है। वाल्टर स्काट लँगड़ा था, पर उसका लँगड़ापन ही उसे महान् बनने की प्रेरणा पैदा करने वाला बन गया, अष्टावक्र जन्म से आठ जगह से टेढ़े थे, परन्तु उनका टेढ़ापन उनके आध्यात्मिक विकास में बाधा न डाल सका, वरन् उनका शारीरिक दोष ही उनमें दार्शनिक प्रतिभा के विकास का कारण हुआ।

समाज के लोग हमें बुरा अथवा भला तब तक कहेंगे, जब तक हम में अपनी योग्यताओं अथवा सुविधाओं का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की शक्ति है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी योग्यता को भले-से-भले काम में लगावे। उसमें अपनी जन्मजात कमियों से मुक्त होने की शक्ति न हो, परन्तु वह इन कमियों को अपने नैतिक विकास में बाधक बनने से रोक सकता है। इसी

प्रकार वह अपनी योग्यताओं को ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक आदर्श की प्राप्ति में लगा सकता है, अथवा उन्हें व्यर्थ खो सकता है। जब तक मनुष्य में यह शक्ति है, तभी तक उसे अपने कृत्यों की नैतिक जिम्मेदारी को तात्त्विक वस्तु मानना ठीक है। जेम्स० एस० मेकेन्जी महाशय का यह कथन सर्वथा सार्थक है, कि मनुष्य की नैतिक उन्नति में बाधक अपने आपको छोड़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है; और वह अपने आपके विषय में यह नहीं कह सकता कि मैं अपने आपको बदलने में असमर्थ है। वह पशुओं के समान प्राकृतिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र नहीं है, वरन् जैसा उसने अपने आपको बनाया है, वह वैसा ही है।

जहाँ तक मनुष्य का ईश्वर से सम्बन्ध है, वहाँ तक उसकी जिम्मेदारी दूसरे प्रकार की ही होती है। समाज के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न ही सामान्य विचार के द्वारा हल किया जा सकता है। ईश्वर के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न तत्त्व-विज्ञान का प्रश्न है, और इस प्रश्न को हल करने के लिये तत्त्व-निरूपण की आवश्यकता होती है। सामाजिक काम करते समय अपने आपको स्वतंत्र मानना आवश्यक है। तभी मनुष्य अपने आपको समाज की स्तुति और निन्दा का अधिकारी बनाता है। नैतिक पूर्णता अपने आप प्रयत्न करने से आती है। इस प्रयत्न की योग्यता मनुष्य में है, और ऐसे प्रयत्न की प्रेरणा की अनुभूति भी उसे होती है। जब तक मनुष्य अपने आप में पुरुषार्थ की प्रेरणा पाता है, तभी तक उसमें अपने आचरण के लिये नैतिक जिम्मेदारी भी है।

जब हम मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी में ईश्वर का प्रश्न ले आते हैं, तो हम नैतिक प्रश्न का आध्यात्मिक प्रश्न के साथ मिश्रण कर देते हैं। यह संभव है कि मनुष्य की नैतिक पूर्णता के लिये अपने आपको स्वतन्त्र मानना आवश्यक हो, और उसकी आध्यात्मिक पूर्णता के लिये अपने आपको ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहना अथवा सभी काम को भला काम मानना आवश्यक हो। जहाँ तक उसके आचरण का समाज से सम्बन्ध रहता है, वहीं तक नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। जब उसके आचरण का सम्बन्ध ईश्वर से हो जाता है, अर्थात् जब वह अन्तर्मुखी हो जाता है, और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना ही उसके जीवन का मुख्य ध्येय हो जाता है; तो वह नैतिकता के स्तर से ऊँचा उठ जाता है। यहाँ नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता ही नहीं। उसके आचरण का

ध्येय फिर आध्यात्मिक शुद्धि मात्र रह जाता है। वह फिर सब प्रकार की व्यक्तिगत सफलता के प्रति उदासीन हो जाता है।

प्रश्न

१. नैतिक उत्तरदायित्व का आधार क्या है? यदि हम ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान मानें, तो मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व पर इस विचार का क्या प्रभाव पड़ता है?

२. यदि हम मनुष्य के व्यक्तित्व को सामाजिक वातावरण का परिणाम मानें, तो उसके नैतिक उत्तरदायित्व को कहाँ तक युक्ति संगत माना जा सकता है?

३. मनुष्य के ऊपर अपने कार्यों का नैतिक उत्तरदायित्व किस स्थिति में नहीं होता? उदाहरण देकर स्पष्टतः समझाइये।

———

छठाँ प्रकरण

नैतिक आचरण और विचार का विकास

आचरण की विभिन्न अवस्थाएँ—पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य के आचरण और पशुओं के आचरण में मौलिक भेद है। पशु के आचरण के विषय में नैतिक संज्ञाओं का प्रयोग नहीं होता, किन्तु मनुष्यों के आचरण के विषय में इनका प्रयोग होता है। मनुष्य भले और बुरे का विचार करता है, किन्तु पशुओं में विचार करने की शक्ति नहीं है। जो मनुष्य जितना ही सभ्य होता है, वह उतना ही अपने प्रत्येक कार्य की भलाई और बुराई के विषय में विचार करता है। पर अपने आचरण की भलाई और बुराई, औचित्य और अनौचित्य के विषय में विचार करना मनुष्य में धीरे-धीरे आता है; अतएव पहले पहल उसका आचरण विचार की परिपक्वता को नहीं दर्शाता।

नैतिकता की दृष्टि से मनुष्यों के आचरण के विकास की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं—

(१) रीति-पथ-प्रदर्शन[1],

(२) नियम पथ-प्रदर्शन[2],

(३) विचार-पथ-प्रदर्शन[3]।

रीति-पथ-प्रदर्शन—मानव-समाज में प्रारम्भ से ही कुछ रीतियाँ चली आई हैं। सामान्य मनुष्य इन्हीं रीतियों को देख कर चलता है। निम्न स्तर के मनुष्यों को इन रीतियों का भी ठीक से ज्ञान नहीं रहता; दूसरे लोग जैसा करते हैं, वे उसी के अनुसार काम करते रहते हैं। उनके आचरण में निर्देश और

---

1. Guidance of custom. 2. Guidance of law. 3. Guidance of reason.

अनुकरण की प्रधानता रहती है। वे इतना ही देखते हैं, कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं। विचार की सर्वथा अविकसित अवस्था में साधारण मनुष्य आस-पास के बड़े समझे जानेवाले लोगों का अन्धानुकरण करता रहता है। इस प्रकार जो काम प्रतिष्ठित अथवा शक्तिशाली लोग करते हैं, उसे ठीक मान लिया जाता है।

इस मानसिक अवस्था से उच्च कोटि की अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य समाज की परंपराओं और रीतियों को जानने की चेष्टा करता है; और उन रीतियों के अनुसार अपने आचरण को बनाता है। इस प्रकार वह एक अनिश्चित व्यवस्था को छोड़ एक निश्चित नियम का पालन करने लगता है।

नियम-पथ-प्रदर्शन—आचरण के विकास की दूसरी अवस्था में मनुष्य किसी नियम को अपना पथ-प्रदर्शक बना लेता है। रीतियों का कभी-कभी आपस में विरोध होता है। दो विरोधी रीतियों में जब उसे किसी एक को चुनना पड़ता है, तो उसे नियम की आवश्यकता होती है। विकसित अवस्था में समाज में भी नियमों की प्रधानता होती है। ये नियम राजनैतिक अथवा धार्मिक नियम होते हैं। समाज के रीति-रिवाजों के पालन करने में मनुष्य अपने आप में उस बाध्यता का अनुभव नहीं करता, जो किसी नियम के पालन करने में करता है। अतएव जब मनुष्य अपने आचरण को नियम के अनुसार बना लेता है, तो वह परस्पर विरोधी आचरण नहीं करता। नियम के पालन करने से वह समाज की भली रीतियों को बली बनाता है, और बुरी रीतियों का अन्त कर डालता है।

विचार-पथ-प्रदर्शन—आचरण की सब से अधिक विकसित अवस्था विचार के द्वारा अपने आचरण का संचालन करना है। यह अवस्था नियमों के बन जाने पर अपने आप आ जाती है। जब समाज के भाव नियम का रूप धारण कर लेते हैं, तो कई प्रकार के विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। नियमों का पहला विरोध रीति-रिवाजों से ही होता है। फिर प्रश्न आता है कि रीति-रिवाजों को मानें अथवा नियमों का पालन करें? भारतवर्ष में बाल-विवाह की प्रथा चल आई है। जब इसके विरुद्ध राज्य का नियम बन जाता है, तो स्वतन्त्र विचार करने के लिये सामग्री उपस्थित हो जाती है। फिर सोचा जाने लगता है कि पुरानी रीति को मानना उचित है, अथवा राज्य के नियम को।

जिस प्रकार पुरानी रीति से किसी नियम का विरोध होता है, उसी प्रकार

दो नियमों का भी आपस में विरोध हो जाता है। कोई भी ऐसा नियम नहीं है; जो सभी परिस्थितियों में एक ही तरह से लागू हो सके। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अपने आप सोच कर अपना मार्ग निकालना पड़ता है। विकसित आचरण उस व्यक्ति का है, जो अपने प्रत्येक काम में उचितानुचित स्वतन्त्र विचार से काम लेता है। जिस व्यक्ति में स्वतन्त्र सोचने की और अपने स्वतन्त्र विचार के अनुसार काम करने की योग्यता है, वही सभ्य मनुष्य है। सर्वोत्तम आचरण अपने बनाये सिद्धान्तों के अनुसार आचरण है।

आचरण और विचार—मनुष्य के साधारण आचरण में उपर्युक्त तीनों प्रकार के पथ-प्रदर्शन काम करते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो अपने प्रत्येक काम को करते समय सिद्धान्तों का विचार करे। हम जिन विचारों के अनुसार काम करते हैं, उनमें से कुछ नैतिकता के विषय में चिन्तन करने से आते हैं, कुछ अपने व्यक्तिगत अनुभव और कुछ सामाजिक अनुभव के ऊपर आधारित रहते हैं, अर्थात् हम अपने प्रति-दिन के आचरण में सामाजिक रीतियों, समाज और राज्य के नियमों तथा अपने स्वतन्त्र नैतिक विचार से काम लेते हैं।

नैतिक विचार[1] और नैतिकता के विचार[2]—नैतिक आचरण का आधार नैतिक विचार होते हैं, और नैतिक आचरण से नैतिक विचार परिपक्व होते हैं; किन्तु नैतिकता के विचारों का सीधा सम्बन्ध नैतिक आचरण से नहीं है। नैतिक विचार व्यावहारिक विचार हैं, और नैतिकता के विचार दार्शनिक हैं। यह सम्भव है कि किसी मनुष्य को पर्याप्त नैतिक विचार ज्ञात हों, पर उसे नैतिकता के विचारों का ज्ञान न हो। समाज का सामान्य व्यक्ति यह जानता है कि उसे चोरी, व्यभिचार, चुगली, हिंसा आदि न करना चाहिए। ये सब विचार नैतिक विचार हैं। ये विचार उसके आचरण को प्रभावित करते हैं। पर यदि उससे यह पूछा जाय कि उसे इन बातों को क्यों न करना चाहिए, तो वह प्रायः इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न दे सकेगा। संभवतः उसने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया होगा। हम समाज से नैतिक विचारों को प्रायः उसी प्रकार ले लेते हैं, जिस प्रकार हम अपने कपड़े पहनने और भोजन करने के ढंग को लेते हैं। समाज में कुछ

---

1. Moral ideals, 2. Ideals about morality.

बातें भली, और कुछ बुरी मानी जाती हैं; इन बातों को हम भी भली अथवा बुरी मानने लगते हैं। समाज में भली समझी जाने वाली कोई बात भली क्यों है, और बुरी समझी जाने वाली कोई बात बुरी क्यों है, यह कोई दार्शनिक ही सोचता है।

जब समाज में प्रचलित नैतिक विचारों की नैतिकता पर विचार किया जाने लगता है, तो नीति-शास्त्र के अनेक प्रकार के वादों की सृष्टि होती है। झूठ बोलना अथवा चोरी करना क्यों बुरा है, इस प्रश्न का उत्तर अन्तः अनुभूतिवादी एक तरह से देगा, सुखवादी दूसरी तरह से और विवेकवादी तीसरी तरह से देगा। विलियम वुन्ट महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि प्रायः सभी मनुष्य नैतिक विचारों के बारे में सहमत होते हैं, परन्तु नैतिकता के विचारों में उनकी राय बहुत कम मिलती है।

नैतिक विचार[1] की विधि का विकास

सामाजिकता के भावों की वृद्धि—जिस प्रकार मनुष्य के आचरण का विकास धीरे-धीरे हुआ है, उसी प्रकार अपने कार्यों की नैतिकता पर विचार करने की शक्ति भी उसमें धीरे-धीरे आई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, मनुष्य पहले नैतिक आचरण करना सीखता है, पीछे उसमें नैतिक विचार करने की योग्यता आती है। मनुष्य जब समाज में आता है, तो वह समाज के साथ अपना ऐक्य स्थापित कर लेता है। फिर जो कुछ कार्य समाज के कल्याण के लिये होते हैं, उन्हें वह अनायास करता है। समाज के कल्याण के भाव ही उसकी अन्तरात्मा की आवाज बन जाते हैं। समाज के हित के लिये आचरण करने से उसे आत्म-संतोष प्राप्त होता है, और उसके प्रतिकूल आचरण करने से उसे आत्म-भर्त्सना होती है। इस समय मनुष्य में नैतिक निर्णय करने की शक्ति नहीं होती, उसे किसी कार्य की नैतिकता के माप-दण्ड का स्पष्टतः ज्ञान नहीं होता, पर उसके सामाजिक भाव ही उससे नैतिक आचरण कराते हैं।

सामाजिक रीति का माप-दण्ड—सामाजिक रीतियों को नैतिकता का माप-दण्ड मान लेना नैतिक विचार के विकास की दूसरी अवस्था होती है। इस

---

1. Moral judgment.

स्थिति में जो बात समाज की परम्परा में चली आई है, उसे ठीक मान लिया जाता है; और सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा अपने कार्यों की नैतिकता मापी जाती है। इस अवस्था में नैतिकता के प्रति उतनी दृढ़ता का भाव नहीं रहता, जितना पीछे आता है। पहले तो समाज की रीतियाँ बदलती रहती हैं, और दूसरे समाज मनुष्य के बाहरी आचरण को ही देखता है। इसके कारण मनुष्य उतनी ही दूर तक अपने आपको नैतिक बनाने की चेष्टा करता है, जहाँ तक समाज उसके ऊपर अप्रसन्न न हो। सामाजिक रीतियों का माप-दण्ड सन्तोषजनक नहीं होता। इसमें नियमों की अस्पष्टता रहती है, और इसके कारण नैतिक जीवन ढीला रहता है। अतएव मनुष्य को किसी दूसरे माप-दण्ड की आवश्यकता पड़ती है।

राज्य-नियम का माप-दण्ड—रीतियों के माप-दण्ड का स्थान राज्य-नियम ले लेते हैं। राज्य के नियम बंधे रहते हैं। ये वैसे ढीले नहीं होते, जैसे सामाजिक रीति-रिवाज होते हैं; अतएव राज्य-नियम का माप-दण्ड चिन्तनशील व्यक्ति को अधिक सन्तोष देता है। इन नियमों के पालन करने से मनुष्य समाज में आदर पाता है, और इनकी अवहेलना करने से वह समाज के द्वारा दण्डित होता है। इस प्रकार अपराध और फिर पाप की कल्पनाओं का जन्म होता है।

नैतिक नियम का माप दण्ड—राज्य का नियम मनुष्य की बाहरी क्रियाओं से ही सम्बन्ध रखता है, वह मनुष्य की क्रिया के हेतु, संकल्प और उसके चरित्र पर विचार नहीं करता। इस दृष्टि से उक्त माप-दण्ड वास्तव में नैतिक माप-दण्ड नहीं है। सच्चा नैतिक माप-दण्ड मनुष्य के आन्तरिक भावों, हेतुओं और संकल्पों से सम्बन्धित रहता है। बुरा आचरण ही नैतिकता की दृष्टि से बुरा नहीं है, वरन् मन में बुरा विचार लाना भी बुरा है।

नैतिक नियम प्रायः किसी धर्मोपदेशक की शिक्षा के रूप में मिलता है। इस प्रकार संसार के प्रत्येक धर्म में अनेक नैतिक नियम पाये जाते हैं। इनके अनुसार आचरण करना मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण के लिये भला होता है।

जब नैतिक नियमों की सृष्टि हो जाती है, तो इन नियमों का राज्य-नियम और सामाजिक रीतियों से विरोध होने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के सामने धर्म-संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मानव-समाज की अविकिसित अवस्था में धर्म-संकट की जो परिस्थितियाँ नहीं रहतीं, वे समाज की विकसित अवस्था में

उत्पन्न होती हैं। धर्म-संकट उसी व्यक्ति के सामने आता है, जिसमें सोचने की शक्ति प्रबल है। साधारण लोग न तो नैतिक सिद्धान्त और सामाजिक रीतियों के विरोध को देख सकते हैं, और न एक नैतिक सिद्धान्त का दूसरे सिद्धान्त से विरोध देख सकते हैं। जब मनुष्य में इस विरोध के देखने की शक्ति आती है, तो वह बाह्य सत्ता के नैतिक नियम से संतुष्ट न रहकर आन्तरिक नैतिक नियम की खोज करता है। इस प्रकार वह एक नये मापदण्ड का आविष्कार करता है।

अन्तर्ध्वनि का मापदण्ड—अन्तर्ध्वनि के मापदण्ड का आविष्कार नैतिक नियमों में आपस का विरोध, अथवा नैतिक नियम का राज्य-नियम से विरोध देखने का परिणाम है। जब लोकमत और शास्त्रमत में स्वगत अथवा पारस्परिक विरोध हो, तो मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की शरण लेनी पड़ती है। मनुष्य को किसी विशेष परिस्थिति में क्या करना चाहिए, यह अन्तरात्मा की आवाज से ज्ञात होता है।

विवेचनात्मक विचार—पर सूक्ष्मदर्शी को थोड़े ही समय में इस सिद्धान्त की कमी ज्ञात हो जाती है। अन्तरात्मा की आवाज हर समय स्पष्ट नहीं रहती। एक ही परिस्थिति में मनुष्य कभी एक प्रकार का आदेश अन्तरात्मा से पाता है, और कभी दूसरे प्रकार का। उसे कभी-कभी स्वीकार करना पड़ता है कि उसने अन्तरात्मा की आवाज सुनने में भूल की। मनुष्य के राग-द्वेष ही उसे कभी एक तरह के आचरण के लिये प्रेरित करते हैं, और कभी दूसरे तरह के आचरण के लिये। इस प्रकार मनुष्य अपने आपको एक प्रकार की भूल-भुलैया में पड़ा हुआ देखता है। इस भूल-भुलैया से निकलने के लिये उसे विश्लेषणात्मक आध्यात्मिक विचार की शरण लेनी पड़ती है। उसे फिर मानना पड़ता है कि नैतिकता का माप-दण्ड वैयक्तिक विचार अथवा भावना नहीं हो सकती, नैतिकता का माप-दण्ड कोई व्यापक नियम ही हो सकता है। यह विवेकयुक्त नियम है। हमारा विवेक बताता है कि हमें न केवल अपनी अन्तरात्मा की आवाज का आदर करना चाहिये, वरन् दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज का भी आदर करना चाहिये। वही नैतिक मापदण्ड सच्चा नैतिक मापदण्ड है, जिसे कोई भी व्यक्ति अपने आचरण की नैतिकता को जानने में काम में ला सके। सच्चा नैतिक

मापदण्ड सभी मनुष्यों को सभी परिस्थितियों में आचरण की नैतिकता को जानने में सहायता देता है।

नैतिक विचार के विकास के लक्षण—नैतिक विचार का विकास निम्न-लिखित तीन प्रकारों से होता है—

(१) नैतिक विचार सामाजिक रीतियों से प्रारम्भ होकर किसी नियम की ओर जाता है, और फिर स्वतन्त्र सिद्धान्त की ओर जाता है।

(२) नैतिक विचार बाहरी आचरण पर प्रारम्भ होकर भीतरी हेतुओं और चरित्र के ऊपर जाता है।

(३) नैतिक विचार वर्ग विशेष में प्रचलित विचारों से प्रारम्भ होकर ऐसे विचारों की ओर जाता है, जिनकी उपयोगिता मानव-समाज भर के लिये है।

प्रश्न

१. नैतिक आचरण के विकास को स्पष्टतः समझाइये। नैतिक आचरण के विकास में नियम-प्रथपदर्शन की अवस्था का क्या स्थान है।

२. आचरण और विचार का क्या सम्बन्ध है ? क्या यह कहना सच है कि मनुष्य के विचार के विकास के साथ-साथ आचरण का भी विकास होता है ?

३. नैतिक विचार और नैतिकता के विचार में क्या भेद है ? मनुष्य में नैतिकता के विचार कब आते हैं ?

४ नैतिक विचार के विकास के लक्ष्य क्या हैं ? उसकी प्रगति किस प्रकार होती है।

——

सातवाँ प्रकरण

नैतिक विचार का विषय[1]

नैतिक विचार के दो प्रश्न—नैतिक विचार मनुष्य के आचरण की भलाई अथवा बुराई से सम्बन्ध रखता है। किसी आचरण को भला अथवा बुरा कहते समय हमें दो प्रकार की बातों को सोचना पड़ता है—

(१) नैतिक विचार किसके ऊपर किया जाता है, अर्थात् उसका वास्तविक विषय क्या है ?

(२) नैतिक विचार कौन करता है, अर्थात् उसका मापदण्ड क्या है ?

पहले प्रश्न के बारे में विभिन्न प्रकार के उत्तर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने दिए हैं; इसी तरह दूसरे प्रश्न के भी अनेक उत्तर दिये गये हैं। इन प्रश्नों का संतोष-जनक उत्तर जानने के लिये हमें विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों को जानना होगा। इस प्रकरण में हम पहले प्रश्न पर ही विचार करेंगे।

विचार का विषय इच्छित कार्य[2]—साधारणतः यह कहा जा सकता है कि नैतिक विचार का विषय मनुष्य का इच्छित कार्य होता है। नीति-शास्त्र का ध्येय मनुष्य की इच्छाशक्ति को ठीक मार्ग पर लगाना है, अतएव हमारे नैतिक विचार का विषय मनुष्य की इच्छाशक्ति ही होती है। जो काम मनुष्य स्वतन्त्र इच्छा से करता है, वही नैतिक विचार का विषय बन सकता है; जो काम वह अनिच्छा से अथवा बाध्य होकर करता है, उसे भला अथवा बुरा नहीं कहा जा सकता। जो काम किसी मनुष्य के द्वारा अकस्मात् हो जाता है, उसे न तो भला, और न बुरा ही कहा जाता है। मान लीजिए कि कोई डाक्टर रोगी के कल्याण

---

1. Object of moral judgment. 2. Voluntary action.

के लिये कोई इन्जेक्शन देता है, पर इससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो हम इस काम को बुरा नहीं कहते। यदि रोगी की मृत्यु डाक्टर की असावधानी से हुई, तो हम डाक्टर को कुछ दूर तक दोषी ठहराते हैं, परन्तु यदि डाक्टर ने जानबूझ कर रोगी के मारने के लिये ही उसे विशेष प्रकार का इन्जेक्शन दिया हो, तो हम उसे नैतिक दृष्टि से दोषी समझते हैं, उसे हम हत्यारा कहते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उसी काम पर नैतिक विचार किया जाता है, जिसके बारे में मनुष्य पहले से सोचता है, और जिसे करने की वह स्वयं इच्छा करता है। कभी-कभी मनुष्य की इच्छा भली होती है, पर कार्य-फल भला नहीं होता। ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है। परन्तु नैतिक विचार करते समय हमें मनुष्य के कार्य के फल को न देख कर कार्य के कारण को ही देखना पड़ता है। नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का वास्तविक कार्य आन्तरिक कार्य है। कार्य-फल उसके हाथ की बात नहीं है। यह कभी भला होता है, कभी बुरा।

हेतु और संकल्प (ईप्सा) का स्थान—नीति-शास्त्र के सभी विद्वानों का इस बात पर एक ही मत है कि किसी कार्य का नैतिक मूल्य उसके फल के ऊपर निर्भर नहीं वरन् उन विचारों और भावों के ऊपर निर्भर है, जो कार्य के प्रेरक होते हैं। परन्तु कार्य के आन्तरिक पहलू भी अनेक हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार कार्य की नैतिकता उसके प्रेरक भावों के ऊपर निर्भर है, कुछ के अनुसार कार्य की नैतिकता कार्य के संकल्प के ऊपर निर्भर है और कुछ के अनुसार कार्य के हेतु के ऊपर यह निर्भर करती है। अन्तः अनुभूतिवादियों के अनुसार कार्य के प्रेरक वे भाव हैं, जिन्हें डा० मार्टीनो ने कार्य-स्रोत कहा है। इन्हीं पर कार्य की नैतिकता निर्भर करती है। मिल महाशय के कथनानुसार कार्य की नैतिकता कार्य के संकल्प (ईप्सा) के ऊपर निर्भर है, और आदर्शवादियों के अनुसार इसकी नैतिकता उसके हेतु के ऊपर निर्भर करती है।

इन विभिन्न प्रकार के दृष्टि-बिन्दुओं को दो एक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मान लीजिए कि रामनाथ, अमृतलाल को किसी कारण-वश गाली दे उठता

है। यह एक साधारण सी घटना है। किन्तु यदि नैतिक विचार की दृष्टि से देखा जाय, तो हम इसमें पर्याप्त चिन्तन की सामग्री पावेंगे। हम रामनाथ को, अमृतलाल को गाली देने के कारण, कहाँ तक दोषी ठहरा सकते हैं। इसके जानने के लिये हमें इस घटना को एक अकस्मात् घटना नहीं मानना पड़ेगा। इस घटना के पीछे रामनाथ का अमृतलाल से सम्बन्ध, उसके इस कार्य के हेतु[1] और संकल्प[2] (ईप्सा) तथा रामनाथ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विचार करना पड़ेगा। जो कार्य एक परिस्थिति में क्षम्य माना जाता है, वही दूसरी परिस्थिति में अक्षम्य होता है। नैतिकता में जिस परिस्थिति पर विचार करना पड़ता है, वह बाह्य परिस्थिति नहीं, वरन् आन्तरिक परिस्थिति होती है। संभव है कि रामनाथ ने क्रोध के आवेश में आकर गाली दी हो, या संभव है उसने मनोरञ्जन के भाव से, अथवा उसे धमकाने के लिये ही गाली दी हो। ये भाव कार्यों के प्रेरक माने जाते हैं। फिर गाली देने का हेतु अमृतलाल की भलाई का भाव अथवा उसका अपमान करना और उसे दूसरों की दृष्टि में गिराना भी हो सकता है। यदि उसका हेतु पहले प्रकार का है, तो उसका काम नैतिक दृष्टि से निकृष्ट नहीं माना जायगा; और यदि उसके कार्य का हेतु दूसरे प्रकार का है, तो उसका कार्य निकृष्ट माना जायगा। किसी व्यक्ति को अनायास गाली दे उठना और योजना बना कर उसे गाली देना, दो तरह की बातें हैं। गाली देने का विचार, कार्य का संकल्प अथवा ईप्सा कहा जायगा। मनुष्य का जैसा संकल्प होता है, उसका कार्य भी वैसा ही होता है।

अन्तः अनुभूतिवादियों[3] का सिद्धान्त—इतना तो निश्चित है कि नैतिक विचार का विषय मनुष्य का बाहरी आचरण नहीं होता। अन्तः अनुभूतिवादियों के अनुसार नैतिकता के निर्णय में हमें कार्यों के स्रोत अथवा प्रेरकों पर विचार करना चाहिये। ये कार्य-स्रोत मनुष्य के विभिन्न प्रकार के भाव अथवा संवेग होते हैं। डा० मार्टीनो के कथनानुसार यदि किसी कार्य के प्रेरक भाव निम्न कोटि के हैं, तो हमें उस कार्य को बुरा मानना चाहिये; और यदि वे उच्च कोटि के हैं, तो उसे हमें भला मानना चाहिये।

---

1. Motive. 2. Intention. 3. Intuitionists.

सुखवादियों का सिद्धान्त—उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल सुखवादियों का सिद्धान्त है। मिल महाशय के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के सभी प्रकार के भले अथवा बुरे कामों का प्रेरक एक ही तथ्य होता है—सुख की प्राप्ति, और दुःख से बचने की इच्छा। संत के काम इसी इच्छा से प्रेरित होते हैं, और अपराधी तथा पापी के भी कार्य इसी इच्छा से प्रेरित होते हैं। अतएव यदि कार्यों की नैतिकता केवल प्रेरकों की दृष्टि से ही निर्णीत की जाय, तो सभी कार्य एक ही कोटि के समझे जायँगे। कार्यों के प्रेरकों को अनेक प्रकार का मानना, मिल महाशय के अनुसार, एक भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। अतएव किसी कार्य-सम्बन्धी नैतिक विचार मनुष्य के संकल्प पर किया जाना चाहिये, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न होते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त—आदर्शवादी अथवा विवेकवादी विचार के अनुसार कार्य की नैतिकता का विचार करते समय न तो कार्य के प्रेरकों पर विचार करना उतना आवश्यक है, और न उसके संकल्पों पर। कार्य के हेतुओं पर ही विचार करना आवश्यक है; अर्थात् किसी काम को किस लिये किया जाता है, इस बात को जानना कार्य की नैतिकता को निश्चित करने के लिये आवश्यक है। कार्यों के प्रेरक भावों की नैतिकता भी कार्य के लक्ष्य के ऊपर निर्भर है। दूसरे व्यक्ति की भलाई की दृष्टि से, अथवा समाज के कल्याण-हेतु क्रोध का प्रदर्शन एक बात है, और उसके अकल्याण की दृष्टि से अथवा अपने स्वार्थ-साधन के हेतु क्रोध-प्रदर्शन करना दूसरी बात है। मिल महाशय ने कार्य के केवल बाहरी पहलू पर ही विचार किया है। इसका कारण उनकी यह भ्रमपूर्ण मनोवैज्ञानिक धारणा थी कि सभी कार्यों का प्रेरक एक ही तथ्य होता है। वास्तव में कार्यों के प्रेरक अनेक होते हैं; और ये प्रेरक मनुष्य की विभिन्न प्रकार की इच्छायें होती हैं, न कि विभिन्न प्रकार के भाव अथवा उद्वेग। इच्छा का लक्ष्य ही कार्य का हेतु कहलाता है, अतएव कार्यों की नैतिकता पर विचार करते समय इस लक्ष्य को ही ध्यान में रखना पड़ता है। यदि यह लक्ष्य विवेक-युक्त है और सभी लोगों का उससे कल्याण होता है, तो इस लक्ष्य से ही जो कार्य किया जाता है, वही कार्य भला कहा जायगा, अन्यथा नहीं।

कानूनी[1] और नैतिक[2] दृष्टिकोण में भेद—जैसा पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है कि कार्य का हेतु वह लक्ष्य है, जिसको दृष्टि में रख कर कोई काम किया जाता है, और उसका संकल्प वह विचार है, जिसके द्वारा इस हेतु की प्राप्ति की जाती है। संकल्प कार्य के बाहरी रूप से सम्बन्ध रखता है, और हेतु कार्य की आत्मा है। कार्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के साधनों को काम में लाया जाता है। वे साधन कार्य के संकल्प बनते हैं। ये साधन कभी-कभी भले दिखाई देते हैं, और कभी बुरे। साधारण बुद्धि के लोग किसी काम की नैतिकता का मूल्य साधनों को देखकर आँकते हैं। मिल महाशय, तथा अन्य सुखवादी नीति-शास्त्रज्ञों का भी यही दृष्टिकोण है। परन्तु यह दृष्टिकोण कानूनी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण व्यवहार में उपयोगी दिखाई पड़ता है। कानून मनुष्य की बाहरी चेष्टाओं को देखकर ही उसको दोषी अथवा निर्दोष निश्चित करता है। कानून के लिए मनुष्य के आन्तरिक भावों अथवा हेतुओं को जानना अत्यन्त कठिन है। हम केवल अपने कार्यों के हेतुओं को ही ठीक से जान सकते हैं, दूसरे व्यक्ति के कार्यों के ठीक हेतु को जानना हमारे लिए असम्भव है। पर नैतिक विचार का मुख्य उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के आचरण की नैतिकता जानना नहीं वरन् अपने ही कार्यों की नैतिकता जानना है। हम अपने आपको ही ठीक तरह से जान सकते हैं, अर्थात् अपने वास्तविक हेतुओं का ज्ञान केवल कार्य करने वाले व्यक्ति को ही हो सकता है। नैतिकता आन्तरिक वस्तु है, अतएव दूसरों के वास्तविक हेतु को न जान सकने के कारण इन कार्यों के हेतु को छोड़ हम उसके बाहरी रूप पर नैतिक विचार नहीं करने लग जायेंगे। हम अपने कार्यों के ऊपर ठीक से नैतिक विचार कर सकते हैं, इतना ही पर्याप्त है। कानूनी दृष्टि लौकिक दृष्टि है, और नैतिक दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। नैतिकता कार्य के बाहरी रूप से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना वह उन विचारों से सम्बन्ध रखती है, जिनके कारण कोई काम किया जाता है।

जो काम कानूनी दृष्टि से अपराध समझे जाते हैं, वे ही यदि भले हेतुओं से प्रेरित होकर किये गये हैं, तो भले समझे जाते हैं। ब्रूटस ने रोम की स्वतन्त्रता के

---

1. Legal. 2. Moral.

लिए रोम के अधिनायक जूलियस सीजर को मार डाला। कानूनी दृष्टि से ब्रूटस को जूलियस सीजर का हत्यारा कहा जायगा। उसका कार्य निन्द्य है। पर यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाय, तो उसका कार्य क्षम्य ही नहीं, वरन् स्तुत्य है। यदि कोई व्यक्ति समस्त राष्ट्र के कल्याण के हेतु किसी विशेष व्यक्ति को मार डालता है, तो वह बुरा काम नहीं करता। जब ब्रूटस ने इस काम को जनता की पुकार मान कर किया, तो उसने अपना कर्तव्य ही किया; और अपना कर्तव्य करना ही नीति-शास्त्र सिखाता है। अपने कर्त्तव्य को पूरा करना ही चाहिए, चाहे इसके लिए लोक में निन्दा हो या स्तुति।

ब्रूटस ने जूलियस सीजर को रोम की स्वतन्त्रता के लिये मार डाला, पर जूलियस सीजर की हत्या का षड्यंत्र कैशियस और कासका आदि लोगों ने किया था। ये लोग जूलियस सीजर से ईर्ष्या करते थे और उसकी बढ़ती हुई कीर्ति को सह नहीं सकते थे। जूलियस सीज़र उनकी स्वार्थ-सिद्धि में बाधक था, अर्थात् वह उन्हें बढ़ने नहीं देता था, अतएव अपने मार्ग का कंटक हटाने के लिए केशियस और कासका आदि ने जूलियस सीज़र की हत्या करवाई। अब जूलियस सीज़र की हत्या को यदि व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन का उपाय माना जाय, तो नैतिक दृष्टि से वह बड़ा निन्द्य कार्य था।

एक ही कार्य दो भिन्न-भिन्न हेतुओं से किये जाने के कारण भिन्न-भिन्न नैतिक मूल्य का होता है। सीज़र की हत्या में ब्रूटस का कार्य स्तुत्य है, और केशियस का निन्द्य। ब्रूटस का हेतु भला था, अतएव उसका कार्य भला कहा जायगा; और केशियस का हेतु बुरा था, अतएव उसका कार्य बुरा कहा जायगा।

साधन की पवित्रता का स्थान—यहाँ प्रश्न आता है कि मनुष्य के आचरण की नैतिकता में साधन की पवित्रता का क्या स्थान है? क्या लक्ष्य की पवित्रता किसी कार्य को पवित्र बना सकती है? नीति-शास्त्र के कितने ही विद्वानों का मत है कि किसी कार्य की पवित्रता निश्चित करने के लिये अर्थात् उसका नैतिक मूल्य आँकने के लिये, न केवल हमें लक्ष्य की पवित्रता पर विचार करना चाहिये, वरन् साधन की पवित्रता पर भी विचार करना चाहिये। कोई भी कार्य तब तक पवित्र नहीं कहा जा सकता, जब तक उसका न केवल लक्ष्य

पवित्र हो, वरन् उसके साधन भी पवित्र हों। यदि हम किसी भले लक्ष्य को किसी बुरे साधन के द्वारा प्राप्त करते हैं, तो हमारा लक्ष्य ही इन साधनों के कारण दूषित हो जाता है।

मान लीजिए कि हमारा देश परतन्त्र है और यह एक अत्याचारी राजा के हाथ में है। देश की स्वतन्त्रता को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम विदेशी राज्याधिकारियों के प्रति षड्यंत्र करते हैं, और इसी लक्ष्य के हेतु कुछ अधिकारियों की हत्या कर डालते हैं। फिर अपने मित्रों को राज-दण्ड से बचाने के लिये हम झूठ बोलते हैं, और उन्हें छिपाते हैं। हमारा लक्ष्य पवित्र है, पर हमारे साधन अपवित्र माने जाते हैं। क्या हमें देश की स्वतन्त्रता के लिये झूठ बोलना और अत्याचारी लोगों की हत्या करना चाहिये? क्या हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सदा उन्हीं साधनों से काम लेना चाहिये, जो लौकिक दृष्टि में स्तुत्य माने गये हैं?

अन्तः अनुभूतिवादियों और आदर्शवादियों ने उक्त प्रश्न के दो भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। अन्तः अनुभूतिवादियों के कथनानुसार पवित्र लक्ष्य को भी अपवित्र साधनों के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा मनुष्य को नहीं करनी चाहिये। यदि साधन अपवित्र है, तो प्रायः लक्ष्य भी अपवित्र ही रहता है; और यदि साधन पवित्र है, तो लक्ष्य भी पवित्र है। हम किस स्थान पर पहुँचेंगे, यह हमारे मार्ग पर निर्भर है। गलत मार्ग पर चल कर कोई भी व्यक्ति ठीक स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतएव ठीक लक्ष्य पर पहुँचने के लिये हमें ठीक मार्ग को ही ग्रहण करना चाहिये। लक्ष्य की प्राप्ति मार्ग पर चलने का स्वाभाविक परिणाम है। जिस प्रकार मार्ग और लक्ष्य का अनिवार्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार साधन और साध्य का भी अनिवार्य सम्बन्ध है। अतएव जो मनुष्य किसी भले लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है, उसे ऐसे काम करना चाहिये, जो संसार में भले कहे जाते हैं। चोरी, डकैती, षड्यंत्र और हत्या के द्वारा यदि किसी देश को स्वतन्त्रता मिले भी, तो वह उपादेय वस्तु नहीं। इस प्रकार प्राप्त की गई स्वतन्त्रता एक दूषित वस्तु होगी, जिससे समाज का कल्याण न होकर उसकी हानि ही होगी।

उक्त विचार से भिन्न दूसरे प्रकार के विचार हैं। आदर्शवादी विचार के

अनुसार मनुष्य के कार्य की नैतिकता लक्ष्य पर ही निर्भर है। यदि किसी मनुष्य का लक्ष्य ठीक नहीं है, तो वह गलत मार्ग को ग्रहण करता है। पर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वही मार्ग ठीक समझा जाना चाहिये, जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्ति कर सके। नैतिकता में हमें सदा मनुष्य के हेतु पर ही विचार करना चाहिये, उसके बाह्य कार्य पर अथवा उस कार्य के संकल्प पर विचार करना भूल है। नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का आन्तरिक कार्य ही सच्चा कार्य है। यह कार्य मनुष्य की इच्छाओं के ऊपर निर्भर करता है। फिर मनुष्य की इच्छायें भी उसके चरित्र के ऊपर निर्भर करती हैं। नैतिक विचार अन्त में मनुष्य के चरित्र के ऊपर होता है। यदि कोई मनुष्य सदा उच्च आदर्श से प्रेरित होकर अपने जीवन के सभी कामों को करता है, तो हम उसके लौकिक दृष्टि से निन्द्य कार्यों को भी भला कार्य ही कहेंगे। मनुष्य को सदा अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिये उसे अपनी योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। कोई व्यक्ति अपने आदर्श स्वत्व का प्राप्ति अध्ययन और अध्यापन के कार्य से करता है, कोई वाणिज्य-व्यवसाय-द्वारा और कोई राष्ट्र की पुलिस और सेना में भरती होकर। राष्ट्र को पुलिस और सेना की उसी प्रकार आवश्यकता है, जिस प्रकार उसे अध्यापकों की आवश्यकता है। पर ऊपरी दृष्टि से पुलिस और सेना के लोगों का काम उतना पवित्र नहीं है, जितना अध्यापन का कार्य है। पुलिस को चोरों, डाकुओं और राष्ट्र-द्रोहियों का पता लगाने के लिये झूठ बोलना और छल से काम लेना पड़ता है, और सेना को देश पर आक्रमण के समय आक्रमणकारियों की हत्या करनी पड़ती है। पर उनका कर्तव्य यही है। खुफिया पुलिस का जो अधिकारी आवश्यकता पड़ने पर झूठ बोलने से हिचकता है, अथवा जो सेनानायक राष्ट्र के दुश्मनों के प्रति दया दिखाकर उनको नहीं मारता, वह अपने राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करता है। वह इस तरह अपने आदर्श स्वत्व के प्रतिकूल चलता है।*

---

* भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध में झूठ बोलकर द्रोणाचार्य को मरवा डाला, पर उनका कार्य निन्द्य नहीं माना जाता। इसका कारण यही है कि

जहाँ पर लक्ष्य की प्राप्ति में साधन की पवित्रता का विचार किया जाता है, वहाँ पर वास्तव में मनुष्य के समक्ष कोई निश्चित लक्ष्य नहीं रहता। पर यदि साधन और लक्ष्य के सम्बन्ध पर विचार किया जाय, तो हमें कहना पड़ेगा कि लक्ष्य की स्पष्ट कल्पना के अभाव में साधन की पवित्रता अथवा अपवित्रता का विचार अर्थहीन हो जाता है। आदर्शवादी की दृष्टि से वह साधन पवित्र है, जिसका लक्ष्य भला हो। यदि हमें कोई नैतिक दोष निकालना है, तो लक्ष्य में ही निकालना चाहिये।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नैतिक विचार का प्रधान विषय हेतु है, न कि संकल्प। हेतु कार्य के लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है, और संकल्प साधन से। परन्तु अन्त में नैतिक विचार का विषय मनुष्य का चरित्र ही होता है। किसी भी व्यक्ति के आचरण पर तब तक हम ठीक निर्णय नहीं कर सकते, जब तक हम उसके पूर्व मानसिक संस्कारों, आदतों और विभिन्न व्यक्तियों से उसके सम्बन्ध को नहीं जान लेते। आचरण मनुष्य के चरित्र का प्रकाशन मात्र है, चरित्र स्थायी वस्तु है। इसी के आधार पर किसी विशेष प्रकार के आचरण को भला अथवा बुरा कहा जा सकता है।

प्रश्न

१. नैतिक विचार का विषय क्या है? क्या नैतिक विचार में मनुष्य के संकल्प को प्रधान स्थान दिया जाना चाहिये?

उन्होंने यह काम अपने मतलब के लिये नहीं किया, वरन् लोक-हित के लिये किया था। दुर्योधन ने समाज के सभी नैतिक मूल्यों की अवहेलना की थी। यदि महाभारत-युद्ध में दुर्योधन की विजय होती, तो संसार में "शक्ति ही नीति है" का सिद्धान्त प्रचलित हो जाता। फिर मनुष्य में किसी के अधिकार पर विचार करने की प्रेरणा भी न होती। जिसके मन में जो कुछ आता, वह वही करने लग जाता। इस प्रकार समाज से नैतिक प्रतिबंध उठ जाने से समाज का विनाश हो जाता। इस विनाश से समाज को बचाने के लिये ही कृष्ण ने महाभारत-युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को विजयी बनाने की पूरी चेष्टा की। उनका हेतु पवित्र था, अतएव उनके झूठ बोलने के कार्य को भी हम नैतिक दृष्टि से बुरा नहीं कहते।

२. रोम को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए ब्रूटस ने सीजर की हत्या की—ब्रूटस के उक्त आचरण की नैतिक मीमांसा कीजिये। क्या हम मनुष्य के किसी कार्य को, उसके हेतु के भला होने के कारण, भला कह सकते हैं ?

३. नैतिक विचार के विषय में सुखवादी और आदर्शवादी सिद्धान्तों के भेद को स्पष्टतः समझाइये। मनुष्य के कार्य की नैतिकता निश्चित करने में उसके संकल्प का क्या स्थान है ?

५. कार्य की नैतिकता को निश्चित करने में साधन की पवित्रता का क्या स्थान है ? क्या यह कहना सत्य है कि यदि हमारा लक्ष्य ठीक है, तो उसकी प्राप्ति के लिये जो भी साधन काम में लाये जाँय, वे उचित ही समझे जायँगे ?

———

आठवाँ प्रकरण

नैतिकता के मापदण्ड

मनुष्य का नैतिक स्वत्व[1]

पिछले प्रकरण में बताया गया है कि मनुष्य के आचरण और नैतिक विचार का विकास धीरे-धीरे होता है। नैतिक विचार और आचरण के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने आप में दो प्रकार के स्वत्वों की उपस्थिति का अनुभव करता है—एक उसका वास्तविक स्वत्व[2], और दूसरा उसका आदर्श स्वत्व[3]। उसका वास्तविक स्वत्व ही काम करता है, और वही किसी काम को भलाई अथवा बुराई के लिये प्रशंसा अथवा निन्दा का भागी होता है। उसका आदर्श स्वत्व उसके काम की भलाई अथवा बुराई का निर्णायक होता है। यह स्वत्व उसी प्रकार मनुष्य के निजी कामों पर विचार करता है, जिस प्रकार वह दूसरे व्यक्ति के कामों पर विचार करता है।

मनुष्य पहले-पहल अपने से भिन्न व्यक्तियों के कामों पर नैतिक विचार करता है। इस प्रकार विचार करना उसका अभ्यास हो जाता है। पीछे उसे विचार आता है कि जिस तरह वह दूसरे लोगों के आचरण पर विचार करता है, उसी प्रकार दूसरे लोग भी उसके आचरण पर विचार करते होंगे। यह विचार उसे अपने ही कामों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के लिए बाध्य करता है। यह आलोचनात्मक दृष्टि ही उसका आदर्श स्वत्व बन जाती है। एडम स्मिथ महाशय ने इसे निरपेक्ष साक्षी* कहा है। यह साक्षी एक ओर व्यक्ति के कामों पर नैतिक विचार करता है और दूसरी ओर वह नैतिकता का मापदण्ड भी उपस्थित करता है।

---

1. Moral Self. 2. Actual Self. 3. Ideal Self. * Impartial Spectator.

नैतिकता के माप-दण्डों का वर्गीकरण[1]

नैतिकता के माप-दण्डों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न नीति-शास्त्रज्ञों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। म्योरहेड महाशय ने नीति-शास्त्रों को तीन प्रकार का बताया है। वे नैतिकता के निम्नलिखित तीन विभिन्न प्रकार के माप-दण्डों को मानते हैं—

(१) ऐसे नीति-शास्त्र जो किसी बाहरी नियम के पालन करने में नैतिकता देखते हैं, (२) ऐसे नीति-शास्त्र जो नैतिकता के निर्णय में आन्तरिक नियम को प्रधान स्थान देते हैं और (३) ऐसे नीति-शास्त्र जो किसी लक्ष्य की प्राप्ति में नैतिकता का सार देखते हैं।

इस प्रकार नैतिकता के विचार तीन प्रकार के होते हैं, शास्त्रवादी[2], अनुभूतिवादी[3] और लक्ष्यवादी[4]। शास्त्रवादी नैतिकता के सिद्धान्त दो प्रकार के होते हैं। एक में लौकिक नीति और अनीति के विचारों की प्रधानता रहती है, और दूसरे में धार्मिकता की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार अन्तः अनुभूतिवाद के भी कई प्रकार हैं। एक में वैयक्तिक अनुभव पर जोर दिया जाता है, और दूसरे में सामष्टिक अन्तः अनुभूति अर्थात् विवेक युक्त अन्तः अनुभूति पर जोर दिया जाता है। इसी प्रकार लक्ष्यवादी सिद्धान्त कई प्रकार के हैं। किन्तु हम इन्हें दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक में बाहरी लक्ष्य की प्रधानता रहती है, और दूसरे में आन्तरिक लक्ष्य की। बाहरी लक्ष्य को महत्त्व देने वाले सुखवाद और प्रकृतिवाद हैं; और आन्तरिक लक्ष्य को महत्त्व देने वाले पूर्णतावाद और आदर्शवाद हैं। नैतिकता के कुछ मापदण्ड ऐसे हैं, जो इस वर्गीकरण में नहीं आते। वे एक ओर किसी लक्ष्य को मानते हैं, और दूसरी ओर किसी नियम को भी, इन्हें मिश्रित माप-दण्ड कहा जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के माप-दण्डों को निम्नाङ्कित तालिका में दर्शाया गया है—

---

1. Classification. 2. Authorititarian. 3. Intuitionist. 4. Standard as End.

नैतिकता के माप-दण्ड*

- वाह्य नियमवादी
  - लोकमतवादी
  - धर्म-शास्त्रवादी
- आन्तरिक नियमवादी
  - विशेषानुभूतिवादी
  - सामान्यानुभूतिवादी
- लक्ष्यवादी
  - प्रकृतिवाद
  - सुखवाद
  - आदर्शवाद

---

* Moral Standard

- External law
  - Political or Social law
  - Religious Law
- Internal law
  - Intuitive law
  - Rational law
- End
  - Naturalism
  - Hedonism
  - Idealism

बाह्य नियमवाद[1] —म्योरहेड महाशय के अनुसार शास्त्रवाद की अपेक्षा अन्तः अनुभूतिवाद अधिक विकसित नैतिक विचार है। इसी प्रकार लक्ष्यवाद अन्तः अनुभूतिवाद की अपेक्षा अधिक उन्नत विचार है। नीति-शास्त्र के दूसरे विद्वान् उक्त विचार से सहमत नहीं हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध नीति-शास्त्रज्ञ ह्वील राइट महाशय ने प्रकृतिवाद और सुखवाद को अन्तः अनुभूतिवाद से निम्न-कोटि का माना है। प्रकृतिवाद और सुखवाद बाहरी लक्ष्य को जीवन के समक्ष रखते हैं। अतएव इन्हें निम्नकोटि का नैतिक विचार मानना ठीक ही है।

सभी प्राणियों को सुख की इच्छा रहती है, और सभी प्राणी दुःख से बचना चाहते हैं। इसी दृष्टि से सभी प्राणियों के काम होते हैं। अपने सुख के लिए प्राणी कभी दूसरे को दुःख देता है, इससे फिर उसको भी दुःख सहना पड़ता है। दूसरों को दुःख अथवा सुख देने की शक्ति दूसरे प्राणियों से कहीं अधिक मनुष्य में है। यदि मनुष्य के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण न हो, तो वह पशु से भी अधिक बुरा आचरण करे। फिर मानव-समाज की स्थिति सम्भव ही न हो। मानव-समाज की स्थिति तभी तक सम्भव है, जब तक समाज के अधिक लोगों में दूसरे लोगों को कष्ट देने की नहीं, वरन् उन्हें सुखी बनाने की इच्छा रहती है। समाज के अगुआ मनुष्य-समाज को बनाए रखने के लिए ही अनेक प्रकार के नैतिक नियमों को समाज में प्रचलित करते हैं। इसी प्रकार धर्म-शास्त्र और राज्य-नियमों का प्रचार होता है। राज्य के नियम और धर्म-शास्त्र मनुष्य को अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने से रोकते हैं। वे अनेक प्रकार के पुरस्कार के विचारों के द्वारा मनुष्य को भले कामों में भी लगाते हैं। राज्य-नियम अधिकतर नकारात्मक होते हैं। उसी प्रकार धार्मिक नियम भी अधिकतर नकारात्मक होते हैं, अर्थात् वे बुरे कामों से मनुष्य को रोकते हैं। धार्मिक नियम भले काम में भी मनुष्य को लगाते हैं। धार्मिक नियमों की अवहेलना करने से दूसरे जन्म में किसी-न-किसी प्रकार का दण्ड मिलता है, अथवा मरने के उपरान्त नरक में जाना पड़ता है। इस प्रकार पुनर्जन्म

---

1. External Law.

और नरक की यन्त्रणा के भय मनुष्य को अनैतिक आचरण से रोकते रहते हैं, और समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखते हैं।

परन्तु, किसी धर्म-शास्त्र के अनुसार नैतिक आचरण करना एक बाहरी सत्ता को धर्माधर्म, नीति और अनीति का निर्णायक मान लेना है। इसके अतिरिक्त यह नैतिक आचरण के लिए मनुष्य को किसी बाह्य सत्ता के ऊपर निर्भर मान लेना है। बाह्यसत्ता के भय से जो आचरण किया जाता है, उससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति दृढ़ न होकर, निर्बल होती है। इससे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य उसे स्वावलम्बी और निर्भीक बनाना है। जब तक मनुष्य किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा प्रलोभन के कारण नैतिक आचरण करता है, तब तक उसमें वास्तविक नैतिकता का उदय नहीं होता। वास्तविक नैतिकता में मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के लिए अपने स्वतन्त्र विवेक पर निर्भर करना पड़ता है, और नैतिक आचरण का प्रेरक अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं होता। इस दृष्टि से बिना समझे-बूझे धर्म-शास्त्र की आज्ञा का पालन करना, निम्नकोटि का नैतिक आचरण है।

फिर संसार में अनेक धर्म हैं, और उनके धर्म-शास्त्र भी भिन्न-भिन्न हैं। एक धर्म की पुस्तक के अनुसार जो कर्त्तव्य माना जाता है, वही किसी दूसरे धर्म की पुस्तक के अनुसार अकर्तव्य माना जाता है। प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न धर्म के लोग भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहते थे। उस समय न पुस्तकें थीं, और न विभिन्न धर्मों के विचारों को जानने का साधारण व्यक्ति के पास कोई साधन था। अधिकतर जनता अपढ़ रहती थी। ऐसी अवस्था में धर्म-पुस्तक की कही हुई बातों पर किसी प्रकार शंका नहीं उत्पन्न होती थी। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। सभी धर्मों के विचार अब साधारण व्यक्ति को भी सुलभ हैं। ऐसी अवस्था में धर्म की कही हुई बातों को ही नैतिकता का प्रमाण मान लेना कठिन होता है। दूसरे धर्म की बुराइयों को देखना बड़ा सरल है। उसमें मानव-समाज के कल्याण के विरुद्ध जो बातें रहती हैं, उन पर हमारी दृष्टि तुरन्त चली जाती है। फिर जब हम एक धर्म की बातों के दोष देखने लगते हैं, तो दूसरे धर्म और अपने ही धर्म की बातों में भी दोष दिखाई देने लगते हैं। जब मनुष्य में एक बार

आलोचनात्मक बुद्धि जाग्रत हो जाती है, तो वह दूसरे समाज और धर्मों की आलोचना तक ही सीमित नहीं रहती। जिन दोषों को वह दूसरे धर्मों में देखती है, उन्हीं दोषों को वह अपने-आप में भी देखने लगती है। इस प्रकार धर्म-शास्त्र के अतिरिक्त नैतिकता के किसी दूसरे प्रमाण को खोजने की आवश्यकता पड़ जाती है।

फिर विभिन्न धर्मों के संघर्ष, धर्म-शास्त्रों की महत्ता को और भी गिरा देते हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपनी ही धर्म-पुस्तक को ईश्वरवाक्य मानते हैं, और उसकी बातों में किसी प्रकार का सन्देह करना महान् पाप समझते हैं। ऐसे लोग अपने धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक सीधे-सादे लोगों की हत्या भी कर डालते हैं। धर्मान्धता के कारण आधुनिक काल में मनुष्य मनुष्य के प्रति जितनी निर्दयता का व्यवहार करता है, उतनी निर्दयता का व्यवहार वह अन्यत्र नहीं करता है। धर्मान्धता मनुष्य के विवेक का विनाशक है। विवेक के उदय के साथ-साथ धर्मान्धता का अन्त होना स्वाभाविक है।

जब मनुष्य में विवेक का उदय होता है, तब वह धर्म-शास्त्र की सभी बातों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। वह सोचता है कि प्रत्येक धर्म अपने-आप को सबसे ऊँचा मानता है, और धर्म-पुस्तक में कही गई बातों को वह ईश्वर की बात मानता है। ईश्वर एक है, फिर वह विभिन्न धर्मों में विभिन्न बातें क्यों कहता है। यदि इन धर्म-पुस्तकों में भेद है, तो उनकी कही हुई बातें एकही सत्ता की आज्ञाएँ नहीं हैं, अर्थात् धर्म-शास्त्रों के भेदों की उपस्थिति उनकी असत्यता को सिद्ध करती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य को अपने आचरण की नैतिकता का निर्णायक धर्म-पुस्तक अर्थात् उसके नियमों को मान लेना एक बड़ी भूल है। इस विचार के आते ही उसे आवश्यकता होती है, कि वह किसी दूसरे अधिक विश्वसनीय नैतिकता के प्रमाण को खोजे।

जब हम एक ही धर्म को देखते हैं, तो भी उसकी धर्म-पुस्तक में बताये हुए नैतिक नियमों को अपने आचरण के लिए पर्याप्त पथ-प्रदर्शक नहीं पाते। कभी-कभी धर्म-शास्त्र में बताए हुए एक कर्त्तव्य का दूसरे कर्त्तव्य से विरोध हो जाता है। मान लीजिए, कि धर्म-शास्त्र सच बोलने को धर्म कहता है, और दूसरे की प्राण-रक्षा को भी धर्म कहता है। कोई परिस्थिति ऐसी आ सकती है, जिसमें

सच बोलने से जीव की रक्षा नहीं होती, वरन् उसका विनाश होता है। ऐसी स्थिति में हमें किस धर्म का पालन करना चाहिये; सत्य बोलने का, अथवा अहिंसा या जीवरक्षा का। फिर, जीवरक्षा के विषय में भी कठिनाई आ जाती है। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा करने से मनुष्य का जीना भी असम्भव हो जाता है। साँप, बिच्छू आदि जब घर में घुस जाते हैं, तब उन्हें मारना ही पड़ता है। इसी प्रकार चोर, डाकू और हत्यारों के प्रति यदि उसी प्रकार की अहिंसा का बर्ताव किया जाय, जैसा सामान्य व्यक्तियों के प्रति किया जाता है, तो समाज-व्यवस्था का अन्त हो जाता है।

उपर्युक्त कठिनाइयों का हल धर्म-शास्त्र मुख्य नियमों के उपनियम बनाकर करता है। ये उपनियम नैतिकता के मुख्य नियम की व्याख्या करते हैं। ये बताते हैं कि किसी नियम को किसी विशेष परिस्थिति में कहाँ तक पालन करना चाहिए; और जब दो नियमों का आपस में विरोध हो जाय, तो फिर किस नियम को मानना चाहिए। पर, इस प्रकार नियम के उपनियम बनते-बनते नीति-शास्त्र का एक बड़ा ढाँचा उपस्थित हो जाता है। फिर इन सम्पूर्ण नियमों और उप-नियमों को जानना एक साधारण व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन हो जाता है। उसे धर्म-शास्त्र के पंडित की शरण लेनी पड़ती है। अब वह यह निर्णय नहीं कर सकता कि उसे किसी विशेष परिस्थिति में कौन-सा काम करना चाहिए और कौन-सा काम नहीं करना चाहिए। धर्म-गुरु उसे जो आदेश देते हैं, उसे ही वह सच मानकर आचरण करता है। धर्म-शास्त्र के अनुसार निर्णय करने में असमर्थता के कारण, अथवा धर्माधर्म पर विचार करने के परिश्रम से बचने के लिए साधारण मनुष्य किसी पण्डित, मुल्ला या पादरी की शरण में चला जाता है, और फिर वह धर्म-पुस्तक की ओर न देखकर मौलवी-मुल्ला के हुक्म को बिना तर्क के मानने लगता है।

किन्तु, विवेकशील पुरुष अपने-आपको इस प्रकार दूसरों के ऊपर सर्वथा निर्भर कदापि न करना चाहेगा। वह नैतिकता के किसी ऐसे माप-दण्ड को खोजने की चेष्टा करेगा, जो उसे अपने विवेक को अलग करने के लिए बाध्य न कर, उससे काम लेने के लिए प्रेरित करे। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता नहीं खोना चाहता, और अपने आचरण की नैतिकता के विषय में अपने

को दूसरों पर निर्भर करने में उसे कभी शांति नहीं मिलती। इसी कारण वह नैतिकता के बाहरी माप-दण्ड को छोड़कर किसी आन्तरिक माप-दण्ड की खोज करने की चेष्टा करता है; और इस प्रकार अन्तः अनुभूतिवाद का जन्म होता है।

आन्तरिक नियमवाद—बाहरी नियम को नैतिकता का माप-दण्ड मानने से जो कठिनाइयाँ होती हैं, उसके कारण यह आवश्यक हो गया कि मनुष्य किसी भीतरी नैतिक नियम को धर्माधर्म का माप-दण्ड माने; और बाहरी सत्ता को सर्वोच्च सत्ता न मानकर किसी भीतरी सत्ता की खोज करे। नैतिकता का प्रारम्भ धार्मिक भावों की वृद्धि से होता है, और प्रत्येक धर्म में किसी बाहरी देवी-देवता को माना जाता है; जो मनुष्य के ऊपर शासन करता है। बौद्ध-धर्म में ईश्वर की कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु उसमें बुद्ध भगवान् को उसी दृष्टि से देखा जाता है, जिस दृष्टि से अन्य धर्मवाले लोग ईश्वर को देखते हैं। जो श्रद्धा-भाव दूसरे धर्मों में अपने-अपने धर्मग्रन्थों के प्रति है, वही श्रद्धाभाव बौद्ध धर्म में बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के प्रति है; और जिस प्रकार अन्य धर्म में धर्म-गुरु होते हैं, उसी प्रकार बौद्ध-धर्म में भी धर्मगुरु होते हैं। पर विकासात्मक मनोवृत्ति का मनुष्य इस स्थिति में संतुष्ट नहीं रहता। नैतिकता की दृष्टि से संसार के विभिन्न धर्म समाज के सामान्य लोगों की सेवा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार बालक के अभिभावक बालक की सेवा करते हैं। परन्तु अभिभावकों की आवश्यकता मनुष्य के बचपन में ही होती है। उसकी प्रौढ़ावस्था में अभिभावकों की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार समाज में ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के नैतिक आचरण के लिए बाहरी नियम की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य नियम और बाह्य सत्ता का स्थान आन्तरिक नियम और आन्तरिक सत्ता ले लेते हैं। इस प्रकार अन्तः अनुभूतिवाद का विकास होता है।

पहले-पहल मनुष्य अपने आचरण के नियामक की कल्पना अपने से बाहर करता है। किन्तु जब उसके विचार की वृद्धि होती है, तो उसे अपने से बाहर किसी नियामक की उपस्थिति नहीं दिखाई देती। ऐसी स्थिति में मनुष्य या तो प्रकृतिवादी अथवा सुखवादी बन जाता है, या अन्तः अनुभूतिवादी।

जिन लोगों की बुद्धि स्थूल पदार्थों पर जाती है, वे प्रकृति को ही सर्वोपरि सत्ता मानने लगते हैं, और उसके नियमों को नैतिक नियम मानते हैं। जिस प्रकार पशुओं के जीवन का नियन्त्रण प्रकृति करती है, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन का भी नियन्त्रण प्रकृति ही करती है; और जिस तरह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चलने से संसार के दूसरे प्राणियों का नाश हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चलने से मनुष्य का भी विनाश हो जाता है। फिर, मनुष्य के जीवन का यह ध्येय हो जाता है कि वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनावे, अथवा प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करे। प्रकृतिवादियों के नीति-शास्त्रों में प्रकृति ही ईश्वर का स्थान प्राप्त कर लेती है, और प्रकृति के नियम धर्म शास्त्र का स्थान प्राप्त कर लेते हैं। सुखवादी सुख को नैतिकता का नियामक मान लेते हैं। फिर सुखों की प्राप्ति ही सभी मनुष्यों के आचरणों का नियामक बन जाती है।

सूक्ष्म विचारक जब शास्त्रों में बताए हुए नियमों का आधार अपने से बाहर नहीं देखते, और जब वे ईश्वर, देवी-देवता आदि किसी ऐसी सत्ता को अपने से बाहर नहीं पाते, तो वे उसकी खोज अपने भीतर ही करते हैं। वे कल्पना करते हैं कि यदि हमारे कार्यों का नियामक हमारे बाहर नहीं है, तो हमारे भीतर ही होगा। इस प्रकार तर्क-बुद्धि के जाग्रत होने पर मनुष्य एक ओर विज्ञानवादी[1] बनता है, और दूसरी ओर दार्शनिक[2]। विज्ञानवाद, प्रकृतिवाद और सुखवाद का निर्माण करता है, और दार्शनिक विचार अन्तः अनुभूतिवाद और आदर्श-वाद का। दार्शनिक दृष्टिकोण के आते ही मनुष्य अपने आचरण के नियामक की खोज अपने से बाहर न करके, अपने भीतर ही करता है। मनुष्य के आचरण का नियामक उसकी गहरी-से-गहरी अनुभूति है। यही उसकी आत्मा है। इस गहरी अनुभूति का स्वरूप क्या है, इसके विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के मत हैं। कुछ लोग इस अनुभूति को तार्किक विचार से भिन्न मानते हैं, और कुछ तार्किक विचार से इसका ऐक्य कर देते हैं। साधारणतः अन्तः अनुभूतिवाद के प्रमुख पण्डित आत्मा को आचरण का नियामक मानते हैं। वे आत्मा

---

1. Scientist. 2. Philosopher.

को तर्क के परे मानते हैं। तार्किक विचार आत्मा की आवाज को प्रकाशित कर सकता है, परन्तु तार्किक विचार ही स्वयं अन्तरात्मा की आवाज नहीं है।

नीति-शास्त्र के कुछ अन्तः अनुभूतिवादी विद्वानों ने तार्किक विचार और अन्तः अनुभूति का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सर्वोत्कृष्ट तार्किक विचार ही मनुष्य का विवेक कहलाता है। विवेक किसी व्यापक नियम का सृजन करता है। विवेक हमें दूसरे लोगों के साथ उसी प्रकार के व्यवहार को करने की प्रेरणा देता है, जिस प्रकार का व्यवहार हम उनसे चाहते हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा विवेकशील है। अतएव किसी ऐसी बात का अन्तरात्मा का आवाज नहीं माना जा सकता, जो विवेक के प्रतिकूल हो। मनुष्य की अन्तरात्मा स्वतन्त्र है। अतएव जिस किसी आचरण में अन्तरात्मा का स्वतन्त्रता नहीं देखी जाती, जो काम राग-दोष के वशीभूत होकर किया जाता है, वह अन्तरात्मा के आज्ञानुसार नहीं हो सकता। राग-द्वेषवश किये गये काम अन्तरात्मा को आवाज के विरुद्ध होते हैं। वास्तव में अन्तरात्मा की आवाज उन्हीं लोगों को सुनाई देती है, जो सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त हो गये हैं; और जिनके मन किसी प्रकार के उद्वेगों से विचलित नहीं होते। ऐसे व्यक्ति स्वभावतः ही उस नियम का पालन करते हैं, जिस नियम को वे संसार भर के लिए व्यापक बनाने को इच्छा करते हैं।

कठोर अन्तः अनुभूतिवादी सभी प्रकार की इच्छाओं अथवा राग द्वेष के त्याग का सिद्धान्त प्रचलित करते हैं। जब तक मनुष्य इच्छाओं क जाल में पड़ा हुआ है, जब तक उसके मन में किसी-न-किसी प्रकार के राग-द्वेष उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक उसकी दृष्टि शुद्ध नहीं हो सकती, और न उसे सत्य के दर्शन ही हो सकते है। वह अपने वास्तविक धर्म अथवा कर्तव्य को नहीं जान सकता। अतएव धर्म-पथ को जानने के लिए और धर्माचरण करने के लिए पहली आवश्यकता यह है, कि मनुष्य अपने-आपको सब राग-द्वेषों से मुक्त करे; और अपनी सभी इच्छाओं का त्याग करे। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य अपने प्रति निरपेक्ष भाव धारण कर सकता है। निरपेक्ष साक्षी भाव के धारण करने पर ही मनुष्य को सत्य के दर्शन होते हैं। अतएव कठोर अन्तः अनुभूतिवादी आत्म-विजय प्राप्त करने को ही अन्तरात्मा को आवाज सुनने का प्रमुख साधन मानते हैं। वे उस आचरण को नैतिक आचरण नहीं

मानते, जिसमें आत्म-विजय की किसी प्रकार से अवहेलना पाई जाय। आत्म-विजय के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य में वह शक्ति रह ही नहीं जाती, जिसकी सहायता से वह सत्यासत्य का निर्णय कर सके; अथवा सत्पथ को जानकर उसके ऊपर चल सके।

अन्तः अनुभूतिवाद की कठिनाइयाँ—अन्तः अनुभूतिवाद नैतिकता में स्वतन्त्र विचार का मूल्य करता है। पर अन्तः अनुभूतिवाद की कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि कभी-कभी मनुष्य का स्वतन्त्र विचार उसे एक ओर ले जाता है, और उसका हृदय उसे दूसरी ओर ले जाता है। जब मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि में संघर्ष देखे, तो उसे किसके अनुसार आचरण करना चाहिए ? यदि वह अपने विवेक को मानता है, तो उसका आचरण न्याययुक्त होता है। परन्तु कभी-कभी उसका हृदय इस प्रकार के आचरण को वांछनीय नहीं समझता। ऐसी अवस्था में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मनुष्य अपने हृदय की बात न माने, तो उसे विक्षिप्तता आने की सम्भावना रहती है, और यदि हृदय की बात माने, तो उसका आचरण विवेक के प्रतिकूल हो जाता है। पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि हृदय की बात मानना भूल है। वास्तव में अन्तः अनुभूतिवाद नैतिक निर्णयों में बुद्धि को प्रधानता न देकर, हृदय को ही प्रधानता देता है। बुद्धि उपस्थित प्रदत्तों के आधार पर विचार करती है, और हृदय कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय सीधे करता है। अतएव हृदय के निर्णयों को ऊँचे स्तर का माना जाता है। परन्तु हम जानते है कि मनुष्य का हृदय उसे उन्हीं भावनाओं की ओर ले जाता है, जिनका अभ्यास मनुष्य को है। जिन बातों को कोई मनुष्य कई दिनों से ठीक समझता आया है, उनके विरुद्ध किसी प्रकार के प्रमाण को उसका हृदय ग्रहण नहीं करता। अभ्यस्त नैतिक विचार ही उसकी अन्तरात्मा की आवाज बन जाते हैं; और मनुष्य साधारणतः अपने अभ्यास के औचित्य को ही बौद्धिक प्रमाणों से सिद्ध करता रहता है। पर प्रश्न यह है कि हृदय और बुद्धि के विरोध की अवस्था में किसकी बात को सत्य समझा जाय। यहाँ अन्तः अनुभूतिवाद की कमी स्पष्टतः दिखाई देने लगती है। अन्तः अनुभूतिवाद की दूसरी कठिनाई उसकी वैयक्तिकता है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अन्तः अनुभूति, हृदय अथवा अन्तरात्मा की आवाज, एक ही परिस्थिति में विभिन्न प्रकार की बातों का आदेश देती है। ऐसी अवस्था में किस व्यक्ति की अन्तः अनुभूति को प्रमाण माना जाय। विरोधावस्था में सभी व्यक्तियों की अन्तः अनुभूति को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता; और यदि समाज सभी लोगों को अपनी-अपनी अन्तः अनुभूतियों के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता दे दे, तो उसका संगठन ही नष्ट हो जाय। फिर अन्तः अनुभूति के अनुसार आचरण में बुरे-से-बुरे आचरण का उसी प्रकार समावेश हो जावेगा, जिस प्रकार भले-से-भले आचरण का होता है। चोर, डाकू और व्यभिचारी भी यह कह सकते हैं कि हम अपनी अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार आचरण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में सभी स्वार्थी लोग अपने आचरण की नैतिकता दर्शाने के लिए अन्तरात्मा की आवाज की दुहाई दे सकते हैं।

पर, यदि यह कहा जाय कि अन्तरात्मा की आवाज सभी लोगों को नहीं वरन् किसी विशेष व्यक्ति को ही सुनाई देती है, और जब विभिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्मा की आवाज में विरोध हो, तो हमें उस व्यक्ति की अन्तरात्मा की आवाज को सच्चा मानना चाहिए, जो सदाचारी हो, तो प्रश्न उठता है कि यह सदाचार ही क्या है? सदाचार नैतिक आचरण है, और नैतिकता का निर्णायक अन्तरात्मा की आवाज है। यहाँ विचारों का गोल-मटोल होना प्रत्यक्ष है—सदाचार अन्तरात्मा की आवाज पर निर्भर है, और अन्तरात्मा की आवाज सदाचार पर। इस प्रकार के गोल-मटोल विचार से कोई विवेकशील व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

वास्तव में अन्तरात्मा की आवाज का सिद्धान्त हमें नैतिकता में आराजकता की ओर ले जाता है। अन्तरात्मा की आवाज का सिद्धान्त वहीं सफल होता है, जहाँ हम यह मान लेते हैं कि अन्तरात्मा की आवाज किसी एक ही व्यक्ति को सुनाई देती है, और दूसरे व्यक्तियों को वह नहीं सुनाई देती। जन-समुदाय जब इस बात को मान लेता है कि वह अन्तरात्मा की आवाज को नहीं सुनता, तो वह अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले व्यक्ति का आज्ञाकारी भक्त बन जाता है; और उसके प्रति आत्म-समर्पण कर

देता है। इस तरह जो व्यक्ति अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाला माना जाता है, वह बड़े-बड़े जन समूह का नेता बन जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः धार्मिक नेता ही होता है, पर कभी-कभी वह राजनैतिक नेता भी हो जाता है। अन्तरात्मा की आवाज सुनने की योग्यता होने के कारण उसे समाज के अन्य लोग समाज का विशेष व्यक्ति मान लेते हैं। ऐसे लोग वास्तव में कभी-कभी समाज का बड़ा कल्याण करते हैं। नये धर्म के प्रवर्तक अन्तरात्मा की आवाज के आधार पर ही समाज में नये धर्म का प्रचार कर सके हैं। परन्तु, कुछ धूर्त्त लोग भी जन-साधारण के इस विश्वास से लाभ उठाते हैं कि उनमें अन्तरात्मा की आवाज सुनने की क्षमता है। वे अपने-आप को ईश्वर के चुने हुए व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध करते हैं, और समाज के लोगों को इस भ्रम में रखने में समर्थ होते हैं कि वे जो कुछ करते हैं सब अन्तः अनुभूति अथवा अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार ही करते हैं; दूसरे लोगों को अन्तरात्मा की यह आवाज नहीं सुनाई देती, अतएव उन्हें उनका अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार हिटलर ने अपने अन्तः अनुभूति के आधार पर सारे जर्मनी को मानसिक गुलामी में डाल रक्खा था।

पर मनुष्य जब तक अपनी आत्मा की आवाज नहीं सुनता, और अपनी अन्तः अनुभूति के अनुसार आचरण नहीं करता; तब तक उसका आचरण नैतिक आचरण नहीं कहा जा सकता। नैतिक आचरण वह है, जिसमें मनुष्य के स्वतन्त्र चिन्तन करने की शक्ति की वृद्धि होती है; और जिस आचरण को मनुष्य अपने स्वतन्त्र निर्णय के अनुसार करता है। जिस आचरण में मानसिक स्वतन्त्रता नहीं, अर्थात् जो दूसरे व्यक्ति का अन्धानुकरण मात्र है, अथवा जिसमें बौद्धिक दासता पाई जाती है; वह ऊपरी दृष्टि से कितना ही उच्चकोटि का आचरण क्यों न हो, नैतिक आचरण नहीं है। नैतिक आचरण में भूल करने के लिए स्थान रहता है। अनेक प्रकार की भूलों और प्रयत्नों के पश्चात् मनुष्य यह जानता है कि उसका वास्तविक कर्तव्य क्या है। जब मनुष्य के विचार की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है, तो उसमें अपने कर्तव्य के निर्णय की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। ऐसा मनुष्य दूसरों का दास बन कर ही रहता है। दास के आचरण में कोई नैतिकता नहीं हो सकती। उसके

कामों की नैतिकता का उत्तरदायित्व उसके ऊपर नहीं वरन् उसके नेता के ऊपर रहता है। शिक्षा के अभाव में ही मनुष्य स्वेच्छा से दूसरों की गुलामी स्वीकार करता है। जब मनुष्य सुशिक्षित हो जाता है, और जब उसका विवेक पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाता है, तो वह किसी दूसरे व्यक्ति का, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, अन्धानुकरण करने को तैयार नहीं होता। वह जानता है कि उसे अन्तरात्मा की आवाज नहीं सुनाई देती। ऐसी स्थिति में वह अपने सामान्य विचार से ही काम लेता है, अपने सामान्य विचार से ही वह नैतिकता के नए माप-दण्ड की खोज करने को चेष्टा करता है; और फिर किसी आदर्श की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है।

लक्ष्यवाद—लक्ष्यवाद का विकास अन्तः अनुभूतिवाद की कमियों के कारण होता है। हम अन्तः अनुभूतिवाद की मुख्य-मुख्य त्रुटियों को देख चुके हैं। लक्ष्यवाद मनुष्य के विवेकयुक्त विचार को ही नैतिक ध्येय के निश्चय का सम्पूर्ण श्रेय देता है। जिस मनुष्य की तार्किक बुद्धि जितनी ही प्रवीण है, और जिस मनुष्य का विवेक जितना ही जाग्रत होता है, वह धर्माधर्म, नीत्यानीति, और कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने की योग्यता उतनी ही अधिक रखता है। मनुष्य के विचार और उसके चरित्र का विकास एक साथ होता है। वास्तव में ये मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के दो भिन्न-भिन्न पहलू हैं, जो एक दूसरे पर पूर्णतः आश्रित हैं। जब मनुष्य के विचारों में प्रौढ़ता आती है, तो वह सत्यासत्य, भला-बुरा तथा जीवन के अन्तिम लक्ष्य को जानने की चेष्टा करता है। मनुष्य अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह इन पदार्थों को इसीलिए प्राप्त करना चाहता है कि इन्हें वह कीमती समझता है। वह जानता है कि अमुक पदार्थ के प्राप्त कर लेने से उसे विशेष प्रकार की पूर्णता प्राप्त हो जावेगी; उससे उसे स्थायी आत्म-संतोष होगा। इस तरह मनुष्य सबसे मूल्यवान् वस्तु, पूर्णता अथवा स्थायी आत्म-संतोष, को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इनकी खोज पहले वह विषय-सुख अथवा सांसारिक सफलता में करता है। पीछे वह इनकी कमियों को जान लेता है, और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य का विवेक उसे अपनी बहिर्मुखता को छोड़ने के लिए बाध्य

और अन्तर्मुखी होने के लिए प्रेरित करता है। विवेकी पुरुष के आचरण का लक्ष्य आन्तरिक पूर्णता अथवा निःश्रेय की प्राप्ति होती है। सर्वोत्तम लक्ष्यवाद के अनुसार किसी भी प्रकार के आचरण की नैतिकता इसी बात से मापी जाती है, कि वह विवेक के द्वारा स्थिर किये हुए लक्ष्य की प्राप्ति में कहाँ तक साधक है।

मनुष्य का विवेक उसे विश्वात्मा की ओर ले जाता है। विवेकवान् व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुख से सुखी नहीं होता, वह सबका सुख चाहता है। जिस प्रकार वह अपने वैयक्तिक विचार को एक मत-मात्र मानता है और उसी विचार को सद्विचार अथवा सिद्धान्त मानता है, जिसे वह सर्वग्राही पाता है, अर्थात् जिसकी सत्यता उसे सभी विवेकशील व्यक्तियों में प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसी प्रकार वह ऐसे आचरण को नैतिक आचरण नहीं मानता जो किसी वैयक्तिक अनुभूति के ऊपर आधारित हो, और जिसका समर्थन सभी विवेकशील मनुष्यों के द्वारा न होता हो। उसके जीवन का लक्ष्य केवल अपनी ही पूर्णता प्राप्त करना नहीं, वरन् सभी की पूर्णता प्राप्त करना होता है। वास्तव में पूर्णता कोई वैयक्तिक वस्तु नहीं है, वह व्यापक वस्तु है। जो व्यक्ति अपनी ही पूर्णता की खोज करता है, वह इस खोज करने की क्रिया से ही उसका विनाश कर देता है। वह पूर्णता ही कैसी, जो किसी व्यक्ति विशेष में ही सीमित हो।

प्रश्न

१. मनुष्य के कार्यों की नैतिकता के विभिन्न मापदण्डों का वर्गीकरण कीजिये। इनका विकास किस प्रकार हुआ ?
२. बाह्य नियमवाद को कहाँ तक नैतिकता का उचित मापदण्ड माना जा सकता है ? अन्तर्नियमवाद को इससे तुलना कीजिये।
३. अन्तः अनुभूतिवाद का सिद्धान्त क्या है ? इस मत के मुख्य दोष क्या हैं ?
४. अन्तः अनुभूतिवाद और लक्ष्यवाद की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। लक्ष्यवाद का विकास किस मानसिक स्तर पर होता है ?

———

नवाँ प्रकरण

अन्तः अनुभूतिवाद[1]

अन्तः अनुभूतिवाद की आवश्यकता—हमने पिछले प्रकरण में दिखलाया है कि पहले-पहल मनुष्य नैतिकता की कसौटी की खोज अपने से बाहर करता है, पीछे जब वह इस कसौटी की त्रुटियों को जान लेता है, तो वह अपने भीतर ही नैतिकता की कसौटी की खोज करता है। धर्म की अविकसित अवस्था में ईश्वर की आज्ञा को धर्म अथवा कर्तव्य मान लिया जाता है। ईश्वर की आज्ञा को हम धर्म-ग्रन्थों से पहचानते हैं। यह मान लिया जाता है कि धर्म-ग्रन्थों को या तो ईश्वर ने ही बनाया है, अथवा ईश्वर के किसी अवतार ने। धर्म-ग्रन्थों का अधिकार और सत्ता मनुष्यों के उक्त विश्वास पर निर्भर है। जब मनुष्यों में विचार का विकास होता है, तो वह ईश्वर की खोज अपने से बाहर न करके अपने भीतर ही करता है। इस प्रकार ईश्वर का विचार परमात्मा, अन्तर्यामी, साक्षी, कूटस्थ आदि विचारों का जनक होता है। जब मनुष्य संसार के महाप्रभु को अपने भीतर ही देखने लगता है, तो उसकी आज्ञा को ही सर्वोच्च धर्म मानने लगता है। इस प्रकार जब तार्किक विचार गम्भीर होता है, तो वह मनुष्य को स्वतः ही अन्तः अनुभूति की ओर ले जाता है। अन्तः अनुभूतिवाद के सभी बड़े-बड़े पण्डित दार्शनिक और किसी-न-किसी धर्म के मानने वाले थे। कितने ही अन्तः अनुभूतिवादियों को बचपन में अच्छी धार्मिक शिक्षा मिली थी। जब एक बार मनुष्य धार्मिक बन जाता है, तो वह अपनी धार्मिक मनोवृत्ति को वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने पर भी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक विचार बाहरी ईश्वर की सत्ता में

---

1. Intuitionism.

अविश्वास उत्पन्न करा सकता है, परन्तु यदि मनुष्य में श्रद्धा की मनोवृत्ति है; तो वह अपने भीतर ही उस सत्ता को देखने लगेगा, जिसकी कल्पना वह अपने से बाहर करता है। बहिर्मुखी बुद्धि लौकिक अनुभव और वैज्ञानिक विचारों में लगन उत्पन्न करती है और अन्तर्मुखी बुद्धि मनुष्य को अन्तर्यामी की ओर ले जाती है।

अन्तः अनुभूति क्या है ?—मनुष्य का अनुभव दो प्रकार का होता है, एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य अनुभव बाह्येन्द्रियों के द्वारा होता है, और आन्तरिक अनुभव मनुष्य को उसकी अन्तर्मुखी बुद्धि अथवा हृदय के द्वारा होता है। इस प्रकार ज्ञान के दो प्रकार के साधन होते हैं—बाह्य करण अर्थात् इन्द्रिय और अन्तः करण। अन्तः अनुभूति अन्तः करण के द्वारा प्राप्त ज्ञान है। इसे अंग्रेजी में इन्ट्यूशन अर्थात् आन्तरिक आदेश कहते हैं। जो शक्ति इस ज्ञान को देती है, उसे अंग्रेजी में कान्सन्स अर्थात् अन्तरात्मा कहा जाता है। कभी-कभी कान्सन्स को अन्तरात्मा की आवाज अर्थात् अन्तर्ध्वनि भी कहा जाता है। अन्तः अनुभूति को भारतीय दर्शन में प्रज्ञान कहते हैं। अन्तः अनुभूति एक ओर मनुष्य को आत्म-तत्त्व का ज्ञान कराती है, और दूसरी ओर यह मनुष्य को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराती है। जब इसका कार्य ज्ञानोत्पादन होता है, तब इसे दिव्य-दृष्टि भी कहते हैं; और जब यह क्रिया का काम करती है, तब इसे कान्सन्स अथवा अन्तरात्मा की आवाज, अथवा अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्ध्वनि आदि नामों से पुकारा जाता है। नीति-शास्त्र में हमारा प्रयोजन अन्तः अनुभूति के क्रियात्मक पहलू से अधिक रहता है।

अन्तर्ध्वनि का स्वरूप—अन्तः अनुभूतिवाद के अनुसार अन्तर्ध्वनि ही कर्तव्याकर्तव्य की निर्णायिका है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह मनुष्य की क्रिया से सम्बन्ध रखती है। यह मनुष्य को उसकी भूलें बताती है और उसमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। अन्तर्ध्वनि का स्वरूप और उसके कार्य भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के माने हैं। कितने ही विद्वानों ने इसे मनुष्य की छठवीं इन्द्रिय कहा है, जिसका मुख्य कार्य धर्माधर्म का विवेचन करना ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्माधर्म का यह ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त करती है, जिस प्रकार आँखें रंगका और कानशब्द का ज्ञान

प्राप्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तर्ध्वनि अलग-अलग होती है। किन्तु जिन लोगों को अच्छी शिक्षा मिली हो, उन सभी लोगों की अन्तर्ध्वनि एक ही बात कहती है। दूसरे लोग इसकी ज्ञान-शक्ति को दूसरे प्रकार का मानते हैं, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

अन्तर्ध्वनि केवल कर्तव्य, अकर्तव्य, तथा आचरण के औचित्य और अनौचित्य की पहचान ही नहीं करती, वरन् वह मनुष्यों के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करती है कि वे भले काम करें, और बुरे काम से अपने-आप को रोकें। जब मनुष्य कोई बुरा काम कर बैठता है, तो उसकी अन्तरात्मा से आत्म-ग्लानि के रूप में उसे दण्ड भी मिलता है। जब वह ठीक काम करता है, तो उसके मन में आत्म-प्रसाद उत्पन्न होता है। यह आत्म-प्रसाद ठीक काम करने का पुरस्कार है। इस तरह अन्तर्ध्वनि कई काम करती है। वह नैतिकता के माप-दण्ड को निश्चित करती है, अर्थात् उसके नियम को बनाती है, वह मनुष्य में भले काम करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करती है, और बुरे काम करने पर वह दोषारोपण करती है, वह साक्षी भाव से न्यायाधीश का काम करती है और यदि कोई काम उसकी दृष्टि में अनुचित ठहरा तो उसके लिये दण्ड भी देती है। किन्तु उसका प्रधान कार्य नैतिकता के विषय में निर्णय करने का है। वही नैतिकता की कसौटी और उसका निर्णायक है।*

---

* Conscience is knowledge or judgment. This, we have seen, is not merely logical judgment. It is not a mere judgment of fact. It is also judicial. It is judgment upon fact. This judicial attitude of conscience is a prominent characteristic of it. Conscience in its usual manifestation seems to be engaged in a species of judicial investigations. Older writers delight in this metaphor which they worked out to show that, as common language seems to imply, conscience is at once law giver, accuser, witness and judge; conscience, it is said, "commands", conscience "accuses", conscience, "bears witness", conscience ,'acquits' or "condemns. Muirhead—**Elements of Ethics.**

अन्तर्ध्वनि तार्किक बुद्धि से स्वतन्त्र वस्तु है। यह उससे ऊँचे स्तर का ज्ञान देती है। अन्तर्ध्वनि से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता और उसकी आज्ञा का औचित्य तर्क-बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्ध्वनि स्वयं तर्क से उत्पन्न नहीं होती। यह अन्तर्ध्वनि मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि देती है। तार्किक विचार मनुष्य को सदा डाँवा-डोल अवस्था में रखता है। वह कभी एक पक्ष को ठीक सिद्ध करता है, और कभी दूसरे को। निर्णायक विचार अन्तर्ध्वनि से प्राप्त होता है। अतएव जो व्यक्ति अन्तर्ध्वनि की आज्ञा को सुनने का प्रयत्न जितना ही कम करता है, वह अपने निश्चय में उतना ही डाँवा-डोल रहता है, और जो अन्तर्ध्वनि पर अपने-आप को जितना ही अधिक आश्रित कर देता है, वह अपने निश्चयों में उतना ही दृढ़ होता है। जिन लोगों को बड़े-बड़े महत्व के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक निर्णय करने पड़ते हैं, उन्हें अन्तर्ध्वनि की आवाज पर निर्भर होने की बड़ी ही अधिक आवश्यकता होती है। जब वे एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं, तो वे अपने विरोधी विचारों के कारण अपने निश्चय से चलायमान नहीं होते।

अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार

अन्तर्ध्वनिवाद की कई शाखाएँ हैं। अन्तर्ध्वनि को मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अन्तर्ध्वनि के भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की है। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना हमारी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से की है और इसे विशेष प्रकार की इन्द्रिय माना है, दूसरे विद्वानों ने इसे ईश्वर की आवाज माना है; और कुछ ने इसे विवेकात्मक विचार माना है। इस तरह हम तीन प्रकार के प्रधान मतों को पाते हैं। ये मत तीन प्रकार के अन्तः अनुभूतिवाद कहे जाते हैं—

(१) अन्तःकरण-वाद अथवा नैतिक प्रज्ञावाद,[1]
(२) विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद,[2] और
(३) धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद[3]।

---

1. Moral Sense School. 2. Rationalistic Intuitionism.
3. Religious Intuitionism.

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालन्स्टेन और इयेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, विशपहटलर और न्यूमन महाशय हैं। अन्तः अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए इन सबो मतों को जानना। अतः हम आगे के पृष्ठों में उक्त मतों का संक्षेप में परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक-प्रज्ञावाद—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिनसन महाशय हैं। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों में भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता को अपनी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते हैं। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से भले और बुरे का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों के विभिन्नप्रकार के गुणों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। रंग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है, और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

नैतिक प्रज्ञावाद की समालोचना—नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के सदृश तर्क-वितर्क रहित ज्ञान है। इसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य किसी धर्म-संकट में पड़ जाता है, तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता है और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाली शक्ति आँख और कान के सदृश काम करती, तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हमें एकाएक कर लेते हैं, उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और आचरण की नैतिकता के विषय में हमें अधिक सोचना ही न पड़ता।

फिर कभी-कभी महत्व-पूर्ण कामों की नैतिकता के विषय में दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न राय रखते हैं। यदि अन्तर्ध्वनि का ज्ञान आँखों के ज्ञान के सदृश होता, तो इस प्रकार के मत-भेद का होना असंभव होता। ऐसा मत-भेद शिक्षित व्यक्तियों में उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अशिक्षित व्यक्तियों में। यदि हम किसी काम की नैतिकता के निर्णय में तार्किक विचार को स्थान न दें, तो दो व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मतों में से यह कभी न जान सकेंगे कि कौन-सा मत ठीक है, और कौन-सा गलत। हम प्रायः अपने विचार से ही यह निर्णय करते हैं कि दो सच्चे व्यक्तियों में से किसकी राय को मानना चाहिए।

साधारणतः अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले लोग दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज को महत्त्व नहीं देते। वे अपनी ही अन्तरात्मा की आवाज को सच्चा मान लेते हैं। दूसरे लोग उनका अन्धानुकरण मात्र करते हैं।

नैतिक प्रज्ञावादियों का कथन है कि भली शिक्षा से अन्तर्ध्वनि सुनाई देती है। पर हम किस शिक्षा को भली और किस को बुरी कहेंगे? यदि इसका उत्तर यह हो कि जो शिक्षा सद्विचार के अनुसार हो वह भली मानी जाय, तो सद्विचार नैतिकता निर्णायक हो जायगा; और यदि कहा जाय कि अन्तर्ध्वनि के अनुसार प्राप्त शिक्षा भली शिक्षा है, तो अन्तर्ध्वनि का स्वरूप फिर भी स्पष्ट न होगा। इस प्रकार की युक्ति अन्योन्याश्रय-दोष से युक्त है।

सौंदर्य ज्ञान की समता देकर अन्तर्ध्वनि के ज्ञान को तार्किक विचार के परे बनाना सम्भव नहीं। तार्किक विचार वस्तुओं की सुन्दरता के निर्णय में काम करता है। किसी पदार्थ की सुन्दरता उस पर विचार किये बिना नहीं निश्चित होती। इसी प्रकार बिना विचार किए आचरण की नैतिकता का निर्णय करना सम्भव नहीं। फिर सुन्दरता के विषय में दो व्यक्ति अपने-अपने संस्कारों के अनुसार दो प्रकार के निर्णय देते हैं। इन लोगों के विचारों में समन्वय स्थापित करने, अथवा उनके विषय में सदासत् जानने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी नैतिक विचारों के विषय में होती है। सुन्दरता का वास्तविक रूप जाने बिना भी कोई मनुष्य अपने जीवन को सामञ्जोपयोगी बना सकता है; पर नैतिकता को ठीक-ठीक निर्णय कर सकने की

योग्यता के बिना वह अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता, और समाजोपयोगी काम ही कर सकता है। अतएव नैतिकता के विचार जीवन में जितना महत्त्व रखते हैं, सौन्दर्य के विचार उतना महत्त्व नहीं रखते।

सुन्दरता और नैतिकता का ऐक्य करना एक भारी भूल है। मनुष्य के अनेक काम ऐसे होते हैं, जो देखने में तो असुन्दर, पर नैतिकता की दृष्टि से उच्च होते हैं। किसी रोगी की सेवा करना, उसका मल-मूत्र साफ करना असुन्दर काम दिखाई देते हैं, पर नैतिकता की दृष्टि से ये ऊँचे काम हैं। फिर कितने ही सुन्दर पुरुष और सुन्दरता के प्रेमी व्यभिचारी होते हैं, अर्थात् उनका आचरण अनैतिक होता है; और कितने ही रूप में असुन्दर पुरुष तथा सुन्दरता से उदासीन व्यक्तियों का आचरण उच्च कोटि का होता है। यूनान देश में किसी समय सुन्दरता के उपासकों की वृद्धि हो गई थी। महात्मा सुकरात को विष पिलाने में इन उपासकों को इसी लिये हिचक न हुई कि वे सोचते थे कि हम एक दुरात्मा को मार रहे हैं। महात्मा सुकरात रूप में असुन्दर थे और अपनी गरीबी के कारण सुन्दर-सुन्दर वस्त्र भी धारण नहीं कर सकते थे। यूनानियों का विचार था कि जो व्यक्ति रूप में असुन्दर है, वह आत्मा से भी असुन्दर होगा, अतएव ऐसे व्यक्ति की मृत्यु का हो जाना ही अच्छा है। आज हम जानते हैं कि उनका इस प्रकार का विचार गलत था।

कितने ही विलासी नवयुवक और नवयुवतियाँ अपने आपको आकर्षक बनाने के लिये अनेक प्रकार के शृंगार करते हैं। प्रति-दिन नये-नये धुले कपड़े पहनना, साड़ियाँ बदलना और चेहरे को चमकीला बनाने के लिये पाउडर और स्नोक्रीम लगाना सुन्दरता की अति उपासना का ही परिणाम है। यदि ये लोग अपनी विलासिता की सामग्री को कम करके, शरीर के शृङ्गार की चीजों से पैसा बचा कर, भूखे-मरते गरीबों को खाने को देते, तो उनका रूप कुछ अनाकर्षक अवश्य हो जाता, पर नैतिकता की दृष्टि से वे अपने आपको ऊचा उठा लेते। जब किसी राष्ट्र में सुन्दरता की उपासना की अत्यधिक वृद्धि होती है, तो उसका पतन होता है; और जब नैतिकता की वृद्धि होती है, तो उसका उत्थान होता है। प्राचीनकाल में यूनान और भारतवर्ष की सौन्दर्योपासना उन्हें

रसालता को ले गई। वर्तमानकाल में भारतवर्ष में नवजीवन नैतिकता के जागरण के साथ-साथ आया है।

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद[1]

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के मुख्य तत्व—विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद न्याय-शास्त्र को नीति-शास्त्र में प्रधानता देता है। इसके अनुसार मनुष्य की अन्तरात्मा उसे जिस कार्य की ओर प्रेरित करती है, वह विवेक के प्रतिकूल नहीं होता। जब कभी हमें अन्तरात्मा से कोई ऐसा काम करने का आदेश मिले, जो हमारे विवेक के प्रतिकूल है, तो हमें समझना चाहिये कि वह अन्तरात्मा का आदेश ही नहीं है। अन्तरात्मा के आदेश तर्क-बुद्धि के द्वारा ठीक माने जाते हैं। इंग्लैंड के प्रसिद्ध नीति-शास्त्रज्ञ कडवर्थ और क्लार्क महाशयों का कथन है कि नैतिक निर्णय तर्क-शास्त्र के निर्णय के समान है। जिस प्रकार सौन्दर्यवादी कहा करते थे कि अनैतिक काम वह है, जो सुन्दरता के विरुद्ध हो, अर्थात् अनैतिक कार्य असुन्दर कार्य है; उसी प्रकार विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के प्रवर्तकों ने कहा है कि जो कार्य तर्कयुक्त न हो, वह अनैतिक है। उन्होंने आचरण की भूल को विचार की ही भूल माना है। जिस प्रकार विचार में मनुष्य को अ-विरोध के नियम[2] को पालन करना पड़ता है, उसी प्रकार नैतिक आचरण में भी उसे उसका पालन करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने आचरण को कभी कैसा, और कभी कैसा बनाता है, अर्थात् जिसके आचरण में एकता वा साम्य नहीं रहता, वह सदाचारी नहीं कहा जा सकता है। अपने पूर्व-कृत्य के विरुद्ध आचरण करना अनैतिक आचरण है, जिस तरह कि अपने पूर्व-विचार के प्रतिकूल किसी विचार को लाना विचार में भूल मानी जाती है। जिस तरह पारस्परिक विरोधी विचार सही नहीं होते, उसी तरह पारस्परिक विरोधी आचरण भी सही नहीं होते।

वालस्टेन का मत—विलियम वालस्टेन महाशय विवेकात्मक अन्तर्ध्वनिवाद के एक मुख्य प्रवर्तक थे। उनके कथनानुसार अनैतिक आचरण वह है,

---

1. Rationalistic Intuitionism. 2. Law of Noncontradiction.

जिसमें मनुष्य अपने आचरण को झूठा बनाता है। वालस्टेन महाशय ने नैतिकता के आधारभूत निम्न चार सिद्धान्तों का निरूपण किया है—

(१) जिन कार्यों को नैतिक अथवा अनैतिक कहा जा सकता है, वे विवेक-युक्त और स्वतंत्र कर्त्ता के होते हैं, अर्थात् कर्त्ता में पहचानने, चुनाव करने और भले समझे जाने वाले काम को करने की योग्यता होती है।

(२) वे विचार सही हैं जिनके द्वारा वस्तु-स्थिति के अनुरूप बातें बताई जाती हैं। सत्य को अपने कार्य अथवा वचन के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है, और उसमें वस्तु-स्थिति को ही दर्शाया जाता है।

(३) किसी भी सच्चे विचार का खण्डन शब्द अथवा क्रिया से हो सकता है।

(४) वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल कोई भी कार्य सही नहीं हो सकता।

वालस्टेन महाशय का कथन है कि मनुष्य किसी कार्य की नैतिकता को अपनी अन्तर्दर्शन की शक्ति से तुरन्त पहचान लेता है, और इस पहचान में उक्त चार सिद्धान्तों का समावेश रहता है। वालस्टेन महाशय के सिद्धान्तानुसार अनैतिकता एक प्रकार से आचरण की झूठ है। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का घोड़ा चुरा लेता है, तो वह अपने आचरण से एक झूठ को प्रकाशित करता है। वालस्टेन न तो तर्क को ही नैतिकता का मापदण्ड मानते हैं, और न संसार के सुख अथवा प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण बनाने को ही। उनका कथन है कि तर्क के द्वारा बुद्धि में प्रवीण लोग सही को गलत और गलत को सही सिद्ध कर देते हैं, फिर स्वयं तर्क किसी निर्णय पर नहीं ले जाता, क्यों कि प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि मेरा तर्क ही ठीक है। अतएव वस्तु-स्थिति के अनुसार आचरण करना ही नैतिक आचरण है। घोड़ा चुराने वाले का तर्क ठीक हो सकता है, पर वह वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल आचरण करता है, अर्थात् वह घोड़े का मालिक न होकर भी उसके मालिक होने का दावा करता है, और इस प्रकार वह अपने आचरण से झूठ बोलता है। इसीलिये उसका आचरण अनैतिक आचरण माना गया है।

वालस्टेन महाशय सुख को नैतिकता का मापदण्ड इसलिये नहीं मानते कि

सभी भले कामों का सुख के साथ अनिवार्य-सम्बन्ध नहीं होता। बहुत से भले काम कष्ट के साथ किये जाते हैं, और उनका फल भी सुखदायक नहीं लाते। फिर यदि सुख को ही नैतिकता का मापदण्ड बना लिया जाय, तो मनुष्य इसके कारण इन्द्रिय सुख की लोलुपता में ही पड़ जायगा; और वह अपनी इन्द्रियों को स्वच्छन्दता पूर्वक विषय भोगों में रमण करने की छूट दे देगा। पर मनुष्य को इन्द्रिय-संयम सिखाना ही धर्म और नैतिकता का प्रधान उद्देश्य है।

वालस्टेन के मत की आलोचना—वालस्टेन विवेकात्मक अन्तर्ध्वनिवाद के सबसे अच्छे प्रतिनिधि हैं। इनके मत का खण्डन मेकेन्जी और स्टीफन महाशयों ने किया है। मेकेन्जी महाशय के कथनानुसार प्रत्येक भले काम को सत्य के अनुसार और प्रत्येक बुरे काम को सत्य के प्रतिकूल मानना तो ठीक है, पर इस नियम को नैतिकता का माप-दण्ड नहीं बनाया जा सकता। नैतिकता में वस्तु-स्थिति पर जोर देना और नैतिक आदर्श की अवहेलना करना भारी भूल है। इस प्रसंग में स्टेफन महाशय का एक व्यंग उल्लेखनीय है—"तीस वर्ष के दार्शनिक मनन के बाद वालस्टेन महाशय इस निर्णय पर आये कि अपनी स्त्री का सिर फोड़ना इस लिए बुरा है, कि इस प्रकार वे उस स्त्री के अपनी पत्नी होने के सत्य को अस्वीकार करते हैं।" सभी पाप झूठ बोलना है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे को मार डालता है, तो उसका मार डालना उसके प्रति भ्रातृत्व के भाव के विरुद्ध जाता है, इसलिए ही बुरा है। वालस्टेन महाशय का कथन है कि यह अपराध ही नहीं, उससे भी बुरा है, अर्थात् यह विचार की भारी भूल है।

किसी आचरण को इस लिये अनैतिक मानना कि वह वस्तु-स्थिति के विरुद्ध है, उसकी नैतिकता की ठीक परख नहीं है। कोई आचरण इस लिये अनैतिक होता है क्योंकि वह मनुष्य के आदर्श के प्रतिकूल है।

उपर्युक्त विद्वानों ने न्याय-शास्त्र और नीति-शास्त्र का ऐक्य कर दिया है, जो अनुचित है। दोनों विज्ञानों का क्षेत्र अलग-अलग है। विचार नैतिकता के निर्णय में सहायक अवश्य होता है, पर नैतिकता को सम्पूर्ण रूप से विचार पर ही आश्रित कर देना और अनैतिक आचरण को एक प्रकार की झूठ मानना अनुचित है। इससे नीति-शास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व ही मिट जाता है। पर

नीति-शास्त्र का विशेष क्षेत्र है। हम विचार की भूल के लिये मनुष्य को उतना दोषी नहीं ठहराते, जितना दुराचरण के लिए ठहराते हैं। यदि कोई व्यक्ति झूठ को सत्य, और सत्य को झूठ मान ले; तो हम उसे केवल मूर्ख मानकर रह जाते हैं, उसे दण्ड देने के लिये उतारू नहीं होते। पर यदि कोई व्यक्ति दुराचरण करता है, तो समाज उसे दण्ड देता है, उसके प्रति उदासीनता दिखाना समाज-व्यवस्था के लिये हानिकारक है। इस प्रकार आचरण की बुराई को विचार की भूल मात्र नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की बुराई को उसके विचार की भूल के रूप में देखने लगते हैं, तो उसके बुरे आचरण को क्षम्य मान लेते हैं।

धार्मिक अन्तःअनुभूतिवाद[1]

न्यूमेन का मत—धार्मिक अन्तःअनुभूतिवाद के सबसे अच्छे प्रवर्तक कार्डिनल न्यूमेन महाशय हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्तों को अपनी पुस्तक "ग्रामर आफ असेन्ट" में लिखा है। कार्डिनल न्यूमेन महाशय के अनुसार मनुष्य के विचार में दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं, एक युक्तियों को खोजती है और दूसरी निर्णय देती, तथा विश्वास उत्पन्न कराती है। पहली प्रकार की शक्ति को तर्कबुद्धि, और दूसरी को निश्चयात्मक बुद्धि कह सकते हैं। न्यूमेन महाशय ने इसे "इलेटिव फेकल्ट"[2] कहा है। निश्चयात्मक बुद्धि ही अन्तर्ध्वनि है। यह मनुष्य के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के विचारों में काम करती है।

न्यूमेन महाशय का कथन है कि हमारे प्रत्येक विचार में तर्क के परे एक विलक्षण शक्ति कार्य करता है। इसे "स्वाकार शक्ति" कह सकते हैं। किसी निश्चय के लिये न तो अनुभव पर्याप्त होते हैं, और न तार्किक प्रमाण। जब तक हम किसी बात को मानने को तैयार नहीं होते, तब तक कोई भी व्यक्ति हमें तर्क अथवा अनुभव के प्रमाणों द्वारा उसे मनवा नहीं सकता। यदि मनुष्य केवल तर्क के आधार पर ही अपना निर्णय करे, तो वह कुछ भी निर्णय न कर सकेगा। उसका मन सदा डवांडोल की अवस्था में ही बना रहेगा। एक प्रमाण, दूसरे विरोधी प्रमाण को काट देता है, इस प्रकार वह बुद्धि को अस्थिर

---

1. Religious intuitionism. 2. Illative Faculty.

कर देता है। फिर यदि हम प्रमाणों के आधार पर ही अपने निश्चय को बनाने लग जायँ, तो हम सदा संदिग्ध मन ही रहेंगे, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण का विरोधी प्रमाण आज नहीं तो भविष्य में मिल ही सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य सदा सन्देह की मनोवृत्ति में ही बना रहेगा। अतएव किसी निश्चय का आधार तार्किक प्रमाण मात्र ही नहीं, वरन् श्रद्धा और विश्वास भी होते हैं। विश्वास की मनोवृत्ति ही एक प्रकार के प्रमाण को स्वीकार करती है, और दूसरे प्रकार के प्रमाण को अस्वीकार करती है। जब तक यह मनोवृत्ति अपना काम नहीं करती, तबतक मनुष्य सदा सन्दिग्ध मन बना रहता है।

न्यूमेन का कथन है कि निश्चय पर पहुँचाने वाली बुद्धि विश्लेषणात्मक[1] नहीं है, यह बुद्धि सभी बातों को एक साथ देखने की योग्यता रखती है; अर्थात् यह संश्लेषणात्मक[2] बुद्धि है। जब यह बुद्धि नैतिक निर्णयों में काम करती है, तो वह अन्तर्ध्वनि कहलाती है। यह तर्क बुद्धि से सहायता लेती है; किन्तु यह उसके परे है। दूसरे लोगों की अपेक्षा धार्मिक मनोवृत्ति के लोगों में यह अधिक प्रबल होती है।

उक्त मत की आलोचना—धार्मिक अन्तर्ध्वनिवाद एक महत्त्व के सत्य को प्रदर्शित करता है। किसी निर्णय पर आने के लिये मनुष्य केवल अपनी तर्क बुद्धि से ही काम नहीं लेता, वरन् वह अपनी सम्पूर्ण बुद्धि और अचेतन भावनाओं से भी काम लेता है। पर इस निर्णय की शक्ति को युक्तिसंगत विचार अथवा तर्क बुद्धि से पृथक वस्तु मानना अनावश्यक है। यह बात सत्य है कि हम बहुत सी बातों को बिना तार्किक बुद्धि के काम में लाये ठीक-ठीक से समझ जाते हैं और हमारे बहुतसे ऐसे निर्णय होते हैं, जिनकी सभी युक्तियाँ हम तर्क के रूप में दूसरों के समक्ष नहीं रख सकते। हम कभी किसी व्यक्ति को देखते हैं और एकाएक उससे किसी प्रकार के नुकसान की आशा करने लगते हैं, और कभी हम दूसरे व्यक्ति को देखते हैं, और उससे लाभ की आशा करने लगते हैं। यह हमारी संश्लेषणात्मक बुद्धि का काम है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को नैतिक कार्य करने का अभ्यास है, वह किसी भी कार्य की नैतिकता की उस पर तार्किक

---

1. Analytic. 2. Synthetic.

विचार किये बिना ही तुरन्त समझ जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी निर्णय पर आने के लिये तर्क के अतिरिक्त दूसरी शक्ति भी सहायता करती है।

पर इस शक्ति को तर्क-शक्ति के ऊपर की शक्ति मानना अथवा उससे भिन्न मानना अथवा उसे किसी एक प्रकार के व्यक्ति की विशेषता मानना युक्ति संगत नहीं है। जिस निर्णय पर हम एकाएक आजाते हैं, उसके विषय में जब हम विचार करते हैं, तो युक्तियों को भी जान लेते हैं। ये युक्तियाँ हमारे अचेतन मन में वर्तमान रहती हैं, पर यत्न करने पर ये चेतना को स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। इस प्रकार मनुष्य की समझ के दो अंग हैं, एक तार्किक विचार[1] और दूसरा अज्ञात समझ[2]। यह समझ सभी लोगों को होती है। इसके लिये धार्मिक साधनाओं की विशेष आवश्यकता नहीं। जिन लोगों को धार्मिक जीवन का अभ्यास है, वे धार्मिक निर्णयों में प्रवीण होते हैं; और जिन लोगों का मन राजनैतिक बातों में विचरण करता है, वे राजनैतिक बातों के निर्णय करने में प्रवीण होते हैं। यहाँ मनुष्य का अभ्यास ही उसकी विशेष प्रकार की शक्ति की वृद्धि का कारण होता है।

धार्मिक अन्तर्ध्वनिवाद के मानने वाले लोग अन्तरात्मा की आवाज में विश्वास करते हैं। ऐसे लोग संसार के दूसरे लोगों के धर्म-गुरु बनते हैं। धार्मिक पैगम्बरों के बारे में प्रसिद्ध है कि ये अपनी अन्तरात्मा में भगवान की आवाज सुनते थे। इसी प्रकार आधुनिक काल में भी कुछ लोग ईश्वर की आवाज अपने हृदय में सुनते हैं; और इस आवाज के आधार पर वे अपना सारा कार्य-क्रम बनाते हैं। ईश्वर की आवाज सुनने वाले लोग दृढ़ इच्छा-शक्ति के होते हैं। वे समाज के नेता होते हैं, वे अपने निश्चय के प्रतिकूल किसी प्रकार की युक्तियों को नहीं सुनते। वे दृढ़व्रती होते हैं, अतएव वे समाज का बहुत कुछ उपकार करने में समर्थ होते हैं। परन्तु यदि वे कोई भूल करें, तो उसका सुधारना भी कठिन होता है। वे दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज की परवाह नहीं

---

1. Rational thought, 2. Apperceptive power.

करते। जो उनसे भिन्न राय रखता है, उसे वे गुमराह मान लेते हैं। इसके कारण कभी-कभी समाज की भारी क्षति भी हो जाती है।

अन्तर्ध्वनि को मानने वाले लोगों का व्यक्तित्व जिस प्रकार प्रबल होता है, उनके अनुयायियों का व्यक्तित्व उसी प्रकार निर्बल होता है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति अपने ही निर्णय के अनुसार काम करने से दृढ़ होती है, चाहे यह निर्णय तर्क बुद्धि का निर्णय हो अथवा किसी दूसरी शक्ति का। जो लोग अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले व्यक्ति को आप्त पुरुष मान कर बिना तार्किक विचार के उसका अनुकरण करते हैं, वे स्वतन्त्र निश्चय करने की शक्ति को खो देते हैं। इस प्रकार महान् पुरुषों के व्यक्तित्व की प्रबलता ही दूसरे लोगों की नैतिक दुर्बलता का कारण बन जाती है। व्यक्तित्व की महानता अपनी ही निश्चयात्मक बुद्धि की प्रबलता से आती है; दूसरे व्यक्ति की निश्चयात्मक बुद्धि के अनुसार चलने से व्यक्तित्व की दुर्बलता उत्पन्न होती है।

मार्टीनो महाशय का अन्तः अनुभूतिवाद—डाक्टर मार्टीनो के कथनानुसार किसी की भलाई अथवा बुराई उस कार्य के प्रेरक पर निर्भर है। डाक्टर मार्टीनो ने मनुष्य के विभिन्न प्रकार के कार्यों के भिन्न-भिन्न प्रेरक माने हैं। इन प्रेरकों को उन्होंने "कार्य-श्रोत"[1] कहा है। हम एक पिछले प्रकरण में कार्य-श्रोत की कुछ चर्चा कर चुके हैं। वहाँ पर इन कार्य-श्रोतों का मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है। ये कार्य-श्रोत मनुष्य की कुछ जन्मजात् और कुछ अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं। ये चार प्रकार के बताए गए हैं; अर्थात् राग[2], द्वेष[3], प्रेम[4] और स्थायी भाव[5]। मार्टीनो महाशय ने इनके नैतिक मूल्य के अनुसार इन्हें तेरह विभागों में विभक्त किया है। इनमें नैतिकता की दृष्टि से जिसकी सब से कम कीमत है, उसे उन्होंने इस तालिका के ऊपर लिखा है; और फिर क्रमशः अधिकाधिक कीमतवाले कार्य-श्रोतों को उनके नीचे लिखा है। इस प्रकार जो

---

1. Springs of action. 2. Propension. 3. Passion. 4. Affections. 5. Sentiments.

सब से अधिक मूल्यवान् कार्य-श्रोत है, उसे तालिका में सबसे नीचा स्थान मिला है। यह तालिका निम्नलिखित है*—

(१) हिंसा, प्रतिशोध और सन्देह।
(२) आलस्य और विलासिता।
(३) आहार और विषय भोग की भूख।
(४) सहज चंचलता।
(५) लोभ।
(६) करुणोपासन।
(७) विद्रोह, भय और क्रोध।
(८) शक्ति का प्यार और स्वतंत्रता।
(९) संस्कृतिरमण।
(१०) आश्चर्य और प्रशंसा का भाव।
(११) मातृभाव, मैत्रीभाव, दया और कृतज्ञता का भाव।
(१२) सहृदयता।
(१३) श्रद्धा।

---

1. Censoriousness, vindictiveness, euspiciousness.
2. Love of ease, Love of sensual pleasure.
4. Appetites for food and sex.
4. Spontanious activity (unselective).
5. Love of gain.
6. Sentimental indulgence of sypathetic feeling.
7. Antipathy, fear, resentment.
8. Love of power, Love of liberty.
9. Love of culture.
10. Primary sentiments of wonder and admiration.
11. Parental love, social friendship, generosity, gratitude.
12. Primary affection of compassion.
13. Primary sentiment of reverence.

उपर्युक्त तालिका में हिंसा, प्रतिशोध और सन्देह के भाव को मार्टीनो महाशय ने सब से ऊपर लिखा है, और श्रद्धा के भाव को सब से नीचे। इसका अर्थ यह है कि नैतिकता की दृष्टि से हिंसा, प्रतिशोध और संशय के भाव निकृष्टतम हैं, और श्रद्धा का भाव उच्चतम है। अतएव जिन कार्यों के प्रेरक हिंसा, प्रतिशोध और सन्देह के भाव होते हैं, वे नैतिकता की दृष्टि से नीची कोटि के हैं; और जिन कार्यों का प्रेरक श्रद्धा का भाव है, वे नैतिकता की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। इस प्रकार किसी कार्य की नैतिकता को जानने के लिए हमें इतना ही जानना होता है, कि उस कार्य का प्रेरक अर्थात् कार्य-श्रोत क्या है। जब हमने इसे जान लिया, तो उसका नैतिक मूल्य आँकना कठिन नहीं होता। हमें केवल यही देखना रह जाता है कि वह प्रेरक उपर्युक्त तालिका में कौनसा स्थान रखता है। यदि उसका स्थान उच्चतम प्रेरक के नजदीक है, तो वह अच्छा है; और यदि उससे दूर है, तो वह बुरा है।

मार्टीनो महाशय का कथन है कि दो कार्य-श्रोतों को तुलना के समय ही हमें यह ज्ञात होता है कि कौनसा कार्य-श्रोत ऊँची श्रेणी का है, और कौनसा नीची श्रेणी का; अर्थात् प्रत्येक कार्य-श्रोत की महत्ता दूसरे कार्य-श्रोतों की तुलना पर ही निर्भर है। जब दो कार्य-श्रोत एक साथ हमारे विचार के सामने आते हैं, तभी हमें उनके मूल्य का ज्ञान होता है।

अब प्रश्न यह है कि किसी कार्य-श्रोत को निकृष्ट और किसी को उत्कृष्ट क्यों माना जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में मार्टीनो महाशय का कथन है कि हमारी अन्तरात्मा की आवाज (अन्तर्ध्वनि) ही यह बताती है कि कौन सा कार्य-श्रोत अधिक मूल्य रखता है, और कौन सा कम। इसके लिए तार्किक विचार की आवश्यकता नहीं होती। मार्टीनो महाशय के कथनानुसार हमारी अन्तर्ध्वनि अथवा अन्तर्दर्शन का शक्ति एक दर्पण के समान है। जिस प्रकार दर्पण उसके सामने के पदार्थ को प्रतिबिम्बित करता है, उसी प्रकार हमारे अन्तर्दर्शन की शक्ति किसी भी कार्य-श्रोत के नैतिक मूल्य को प्रतिबिम्बित करती है। स्वयं कार्य-श्रोत में ही नैतिक मूल्य निहित है। हमारी अन्तरात्मा इस मूल्य का ज्ञान मात्र करती है; नैतिक मूल्य का ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक कम-से-कम दो कार्य-श्रोत एक साथ उसके सामने नहीं आते।

मार्टीनो महाशय के सिद्धान्तों की समालोचना—मार्टीनो महाशय ने कार्य-श्रोत के नैतिक मूल्य को कार्य-श्रोत के स्वभाव पर ही निहित कर दिया है। उनके कथनानुसार हमें इसका ज्ञान बिना तार्किक विचार के होता है। परन्तु उनका यह कथन वस्तु-स्थिति से दूर है। हम जब किसी कार्य-श्रोत का मूल्य आँकते हैं, तो दो अथवा दो से अधिक कार्य-श्रोतों में आपस की तुलना ही नहीं करते, वरन् उन कार्य-श्रोतों को एक नैतिक लक्ष्य को दृष्टि से देखने की चेष्टा भी करते हैं। फिर मार्टीनो महाशय ने कार्य-श्रोतों के नैतिक मूल्य को जिस प्रकार बताया है, वह सर्वमान्य नहीं है। सम्भव है कि जिन कार्य-श्रोतों को मार्टीनो महाशय ने अपेक्षाकृत निकृष्ट माना है; कोई दूसरा विद्वान् उन्हें अधिक उत्तम माने। वास्तव में यदि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसे मार्टीनो महाशय के कार्य-श्रोतों के क्रम का ज्ञान नहीं है, सब कार्य-श्रोतों के नाम लिखकर दे दिया जाय और उसे कहा जाय कि वह अपनी बुद्धि के अनुसार उनके नैतिक मूल्य को क्रमानुगत लिख दे, तो हम देखेंगे कि वह मार्टीनो महाशय के क्रम के अनुसार लिखने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। इससे यह स्पष्ट है कि मार्टीनो महाशय ने कार्य-श्रोतों का जो क्रम बताया है, वह उनके व्यक्तिगत विचार के अनुसार है; यह क्रम सर्वमान्य नहीं हो सकता। परन्तु जो नैतिक मापदण्ड केवल वैयक्तिक विचार के अनुसार होता है, वह सच्चा मापदण्ड नहीं माना जा सकता।

मार्टीनो महाशय ने प्रत्येक कार्य श्रोत के नैतिक मूल्य को एक तालिका बनाकर सदा के लिए निश्चित कर दिया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी कार्य-श्रोत का नैतिक मूल्य सब समय के लिए निश्चित है। किसी भी कार्य-श्रोत का मूल्य उन परिस्थितियों पर भी निर्भर है, जिनमें वे क्रियमाण होते हैं। यदि हम गाली खाने पर अथवा बुरी तरह अपमानित होने पर क्रुद्ध होते हैं; तो यह नैतिकता की दृष्टि से उतना बुरा नहीं है, जितना कि किसी सामान्य भूल के लिए किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध होना।

यही बात दया और सहृदयता के भावों के विषय में सत्य है, यदि हम कुपात्र के प्रति दया और सहृदयता का भाव दर्शावें, तो हम बड़ी भूल करेंगे। नैतिकता की दृष्टि से दूसरों के प्रति अत्याचार करने वाले व्यक्ति के प्रति क्रोध प्रदर्शन करना दया दिखाने की अपेक्षा श्रेयष्कर है। यह विचार प्रत्येक

सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को मान्य होगा, परन्तु मार्टीनो महाशय के सिद्धान्त के मानने पर उक्त विचार को हमें एक भूल मानना पड़ेगा।

नैतिक लक्ष्य के अभाव में मार्टीनो महाशय के बताए हुए कार्य-श्रोतों का क्रम अर्थहीन हो जाता है। जब तक हम नैतिकता के अन्तिम लक्ष्य को नहीं जानते, तब तक किसी कार्य-श्रोत को उच्च अथवा निम्न कोटि का कैसे कह सकते हैं? किसी भी प्रकार के मूल्य के आँकते समय हमें एक ऐसे माप-दण्ड को स्वीकार कर लेना पड़ता है, जो कि मूल्य आँकी गई वस्तुओं से भिन्न होता है। यदि मार्टीनो महाशय ने कार्य-श्रोतों का मूल्य आँका है, तो वे अनजाने ही अवश्य किसी ऐसे मापदण्ड को काम में लाए होंगे, जो कार्य-श्रोतों से भिन्न है, और जो स्वतः ही नैतिक जीवन का आदर्श प्रदर्शित करता है।

नीति-शास्त्र की दृष्टि से मार्टीनो महाशय के कार्य-श्रोतों की तालिका बिल्कुल व्यर्थ है। नीति-शास्त्र केवल यह कहकर सन्तोष नहीं कर लेता कि अमुक कार्य-श्रोत ऊँचा है, और अमुक नीचा; वरन् उसे किसी भी कार्य-श्रोत के ऊँचे अथवा नीचे समझे जाने का कारण भी बताना पड़ता है। जहाँ तक मार्टीनो महाशय ने अपने नैतिक सिद्धान्त में यह नहीं किया, वहाँ तक उन्होंने अपने विचार को नीति-शास्त्र की दृष्टि से व्यर्थ कर दिया है। हम न तो केवल व्यक्तिगत राय से सन्तोष कर सकते हैं, और न एक बनी-बनाई तालिका से। नीति-शास्त्र में हमें किसी ऐसे सिद्धान्त की खोज करनी पड़ती है, जो विवेकयुक्त हो, जिसमें संसार की बदलती हुई परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता हो और जो संसार के प्रत्येक विवेकी व्यक्ति को मान्य हो; अर्थात् जो व्यक्तिगत सिद्धान्त न होकर व्यापक नैतिक सिद्धान्त हो।

प्रश्न

१. अन्तः अनुभूतिवाद के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझाइये। आप के अनुसार अन्तर्ध्वनि क्या वस्तु है, और मनुष्य को अपनी अन्तर्ध्वनि के अनुसार चलना कहाँ तक उचित है?

२. अन्तः अनुभूतिवाद के विभिन्न प्रकार क्या हैं ? नैतिक प्रज्ञावाद के मत को स्पष्ट करके उसकी आलोचना कीजिये ।

३. नैतिक आचरण सुन्दर आचरण है—इस सिद्धान्त की समालोचना कीजिये ।

४. विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद क्या है ? वाल्स्टेन महाशय के मत को स्पष्ट कीजिये ।

५. धार्मिक अन्तःअनुभूतिवाद और विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद की तुलना कीजिये ।

६. "स्वीकारशक्ति" का नैतिक निर्णय में क्या स्थान है ? इसकी उपस्थिति के लिये क्या प्रमाण दिया जा सकता है ?

——

दसवाँ प्रकरण

विवेकवाद[1]

विवेकवाद की विशेषता

विवेकवाद का कथन है कि हम कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय विवेक अर्थात् सद्विचार के द्वारा ही कर सकते हैं। अन्तरात्मा का आदेश भ्रमात्मक हो सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्माएँ उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से आदेश कर सकती हैं। यदि राम की अन्तरात्मा कहती है कि चोरी करना सभी समय पाप है, और श्याम की अन्तरात्मा कहती है कि चोरी करना कभी-कभी बुरा नहीं होता, तो किसकी अन्तरात्मा की आवाज ठीक मानी जाय। यदि दोनों व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेशों को उचित और अनुचित जानने के लिए किसी तीसरे निर्णायक को नहीं मानेंगे, तो वे आपस में लड़ते रहेंगे। अतएव यहाँ यह आवश्यक होता है कि मनुष्य दो विभिन्न विरोधी पक्षों में उचित और अनुचित का निर्णय करने के लिए एक तीसरे सर्वग्राह्य सिद्धान्त को स्वीकार करे।

यह सर्वग्राह्य सिद्धान्त क्या हो सकता है? यह सर्वग्राह्य सिद्धान्त विवेक ही हो सकता है। मनुष्य की विशेषता यह है कि वह विवेकशील प्राणी है, अतएव अपने विशेष गुण के आधार पर उसे सत्य और असत्य तथा उचित और अनुचित का विवेचन करना चाहिए।

विवेक के लक्षण—यदि हम विवेक को अन्तरात्मा के विरोधी आदेशों के बीच निर्णायक बनाते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम उसके स्वरूप और लक्षण को भली प्रकार से जानें। प्रत्येक मनुष्य में विचार की शक्ति होती है, किन्तु इसका विकास भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में मात्रा के अनुसार कम और अधिक होता है। विवेक

---

1 Rationalism.

वह विचार है; जो सर्वग्राह्य है, और जो अबाधित है। जिस विचार को एक ही व्यक्ति ठीक मानता है, उस विचार को विवेक नहीं कहा जा सकता। यदि श्याम की आत्मा कहती है कि चोरी करना ठीक है, और समाज के दूसरे लोगों की आत्माएँ कहती हैं कि चोरी करना ठीक नहीं है, तो चोरी का कार्य नैतिक नहीं माना जा सकता। इसी तरह जो व्यक्ति एक समय एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और दूसरे समय दूसरे सिद्धान्त का, उसके विचारों को सद्विचार नहीं कहा जा सकता। विवेक में आदत, आवश्यकता आदि वैयक्तिक भावनाओं के लिए स्थान नहीं। संभव है कि एक व्यक्ति की परिस्थिति ऐसी हो जिसमें उसे चोरी करना ठीक मालूम पड़ता है, किन्तु ऐसी विशेष परिस्थिति को नैतिकता में स्थान न देना चाहिए। अपनी विशेष परिस्थिति को वृहत् लोकमत की दृष्टि से देखना चाहिए। यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि हम जो कुछ करते हैं, उसी प्रकार के व्यवहार यदि दूसरे व्यक्ति भी करें, तो हम उन्हें नैतिक कहेंगे, तभी हम अपने किसी भी आचरण को नैतिक आचरण कह सकते हैं। मनमाना कार्य करना अनैतिक है। संसार के कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जो मनमाना कार्य इसलिए करते हैं कि वे उसे अन्तरात्मा की आवाज मानते हैं। इस प्रकार उस मनमानी बात को नैतिक सिद्ध करना चाहते है। किन्तु इस प्रकार की अन्तरात्मा के आदेशों पर चलकर कोई भी समाज सुसंगठित नहीं रह सकता, और न कोई व्यक्ति स्थायी शान्ति का उपभोग ही कर सकता। अनेक प्रकार की अनैतिकता अन्तरात्मा की आवाज के नीचे छिपकर रह सकती है। अतएव हमें चाहिए कि हम सर्व-ग्राह्य और नित्य सिद्धान्त को ही अपने नैतिक जीवन का निर्णायक मानें, अर्थात् जिस सिद्धान्त के ये लक्षण हैं, वही नैतिकता और अनैतिकता का निर्णायक बन सकता है।

विवेक के सिद्धान्त के प्रकार—विवेक के द्वारा हम कर्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय कर सकते हैं। इसके विषय में संसार में अनेक मत-मतान्तर हुए हैं। यहाँ हम यूरोप के कुछ श्रेष्ठ मतों का उल्लेख करेंगे। इनमें से सिनिसिजम, स्टोयसिजम और कान्ट का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सिनिसिजम—सिनिसिजम एक विशेष प्रकार का विवेकवाद है। इस विचार के प्रवर्त्तक ऐन्टेस्थनीज़ थे। वे महात्मा सुकरात के शिष्य थे। वे एक किसी

विशेष स्थान पर अपना व्याख्यान दिया करते थे। उस स्थान का नाम सिनिक था, किन्तु इस शब्द का मतलब यूनानी भाषा में कुत्ता भी है। अतएव ऐन्टेस्थनीज़ और उसके अनुयायियों का मजाक उड़ाने वाले लोग उन्हें 'सिनिक' अर्थात् कुत्ता कहते थे। ऐन्टेस्थनीज़ का सिद्धान्त था कि जीवन सुख-भोग और आराम के लिए नहीं, आध्यात्म विचार के लिए है। संसार का सुख आध्यात्म विचार में बाधक होता है, अतएव उसका त्याग करना परमावश्यक है। हमारी वासनाएँ ही हमें सत्य से वंचित करती हैं, इसलिए सत्य की प्राप्ति के लिए वासनाओं को दबाना परमावश्यक है। प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति के जीवन का यह ध्येय होना चाहिए कि वह अपनी वासनाओं को सदा ही संयत रक्खे, और अपना सब समय आध्यात्म विचार में लगाये। जीवन बिताने का यही उचित तरीका है। जहाँ भी हमारी इच्छाओं का विरोध हमारे विचारों से होता है, वहाँ हमें इच्छा को बरबस दबा देना चाहिए। दूसरों से हमारा लड़ाई-झगड़ा इसलिए ही होता है कि हम अपनी वासनाओं की तृप्ति करना चाहते हैं। यदि हम अपनी वासनाओं को अपने काबू में रक्खें, तो किसी प्रकार के झगड़े की संभावना ही न हो। अतएव ऐन्टेस्थनीज़ ने आदेश किया है कि मनुष्य को अपना सारा जीवन तप और त्याग में ही व्यतीत कर देना चाहिए। इसके प्रतिकूल कोई भी व्यवहार अवाञ्छनीय है। जिस व्यक्ति का मन इस प्रकार का रहेगा, वह स्वयं ही सत्य और असत्य, कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय सरलता से कर लेगा।

ऐन्टेस्थनीज़ का चेला डाइजोनीज़ था। जो उपदेश ऐन्टेस्थनीज़ ने दिए थे, उसे डाइजोनीज़ ने अपने जीवन में चरितार्थ किया। वह अपने गुरु से भी बड़ा तपस्वी था। उसका जीवन बड़ा ही विचित्र था। वह शीत और ताप दोनों प्रकार की अवस्था में एक ही तरह से, एक ही स्थान पर रहता था। लोग कहते हैं कि उसका घर एक टब या नाद था। उसी में बैठे-बैठे वह आध्यात्म-चिन्तन किया करता था। उदर-पोषण करने के लिए भीख माँग कर खाता था, किन्तु वह बड़ा आत्माभिमानी था। वह जब किसी से भीख माँगता था, तो बड़े दीन भाव से नहीं माँगता था, किन्तु उसके भीख माँगने से ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसको दूसरों से भीख लेने का अधिकार है। एक दिन वह एक धनी

व्यक्ति के यहाँ भीख माँगने गया। उस धनी व्यक्ति ने भीख देने में देर कर दी। तब डाइजोनीज़ कहने लगा "अरे भाई, मुझे भोजन के लिए भीख चाहिए; कफ़न के लिए फीस नहीं।"

अपने मन को वश में करने के लिए डायजोनीज़ अनेक प्रकार की साधनाएँ किया करता था। एक बार देखा गया कि वह पत्थर की एक मूर्ति के सामने खड़ा होकर भीख माँग रहा है। जब लोगों ने पूछा—"यह क्या कर रहे हो?" तो उसने जवाब दिया "मैं पत्थर की इस मूर्ति से भीख माँग रहा हूँ।" जब पूछा गया कि क्या तुम आशा करते हो कि यह मूर्ति तुम्हें भीख दे देगी। उसने उत्तर दिया "मैं भीख इन्कार कर दिए जाने का अभ्यास कर रहा हूँ।"

एक समय बादशाह सिकन्दर डायजोनीज का नाम सुन कर उसके पास गया। डायजोनीज़ अपने टब में बैठा-बैठा धूप ले रहा था। बादशाह सिकन्दर ने अपने घोड़े की लगाम उसके टब के सामने खींची। वहाँ पर जो वार्तालाप हुआ, वह बड़ा मनोरञ्जक है—

सिकन्दर—मैं सिकन्दर हूँ, इस देश का राजा।
डायजोनीज़—और मैं डायजोनीज़ हूँ, कुत्ता।
सिकन्दर—तो क्या तुम मुझसे डरते नहीं?
डायजोनीज़—क्यों! तुम अच्छी चीज हो, या बुरी?
सिकन्दर—जरूर, मैं कोई अच्छी चीज हूँ।

डायजोनीज़—तो भला कौन आदमी ऐसा मूर्ख होगा, जो अच्छी चीज से डरेगा?

इस उत्तर को पाकर सिकन्दर बड़ा प्रसन्न हो गया, और उसने डायजोनीज से कहा "आप मुझसे कोई वरदान माँगिए; मैं उसे तुरन्त पूरा कर दूँगा।" तब डायजोनीज़ ने उससे कहा, "कृपा करके आप यहाँ से अपनी तशरीफ ले जाइए, और मुझे धूप लेने दीजिए।"

डायजोनीज़ का सिद्धान्त—डायजोनीज के अनुसार मनुष्य को स्वाभा-

विक जीवन व्यतीत करना चाहिए। हमें प्रकृति से शिक्षा लेनी चाहिए कि हम किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करें। स्वयं डायजोनीज़ इस प्रकार के जीवन में रहता था। वह प्रकृति की छोटी-छोटी बातों से शिक्षा ग्रहण करता था। कहा जाता है कि एक बार उसने चूहों को इधर-उधर दौड़ते हुए देखा। चूहा अपने लिए कोई विशेष स्थान नहीं बनाता, और न वह अन्धकार में जाने से डरता ही है। वह अपने शारीरिक आराम के लिए सुविधा नहीं खोजता। डायजोनीज़ ने इससे शिक्षा ग्रहण की, और उसने कहा कि मनुष्य को भी अपना जीवन इसी प्रकार का बनाना चाहिए, उसे किसी प्रकार के आराम की सामग्री को नहीं बटोरना चाहिए। जैसी भी परिस्थिति उसके सामने आए, उसमें उसे संतुष्ट रहना चाहिए।

इस प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति का उदाहरण हम अपने पुराने ऋषि गुरु दत्तात्रेय से पाते हैं। दत्तात्रेय ऋषि के चौबीस गुरु थे, जिनमें से एक गुरु सर्प भी था। सर्प अपने रहने के लिए घर नहीं बनाता। इसे देख गुरु दत्तात्रेय ने कहा कि मुझे अपने निवास के लिए घर न बनाना चाहिए।

डायजोनीज़ का सिद्धान्त उस समय के एथेन्स निवासियों को अप्रिय था। वे डायजोनीज़ की हँसी उड़ाया करते थे। एथेन्स निवासी कला और साहित्य प्रेमी थे। एथेन्स में उस समय अनेक प्रकार के सुख की सामग्री सरलता से प्राप्त थी। अतएव वे डायजोनीज़ के सिद्धान्त को एक पागलपन मानते थे। डायजोनीज़ के जीवन में अत्युक्ति अवश्य थी। किन्तु उसका यह सिद्धान्त कि सत्य खोजने वाले व्यक्ति को सुख और दुःख में समभाव रहना चाहिए, युक्तिसंगत था। जब तक मनुष्य शीतोष्ण, सुख-दुःख पर विजय नहीं प्राप्त करता, तब तक वह एक मन होकर आध्यात्म-चिन्तन नहीं कर सकता, और न उसे सत्यासत्य का ज्ञान ही हो सकता है। इसी तरह वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में विवेचना नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति से अपने कर्त्तव्य के विषय में भूल हो जाना सम्भव है।

स्टोइसिज़्म (स्टोइकवाद)—विवेकवाद का एक विशेष मत स्टोइसिज़्म है। स्टोइसिज़्म साइप्रस द्वीप के निवासी ज़ीनो का चलाया हुआ मत

है। एथेन्स में वह हजरत ईसा से लगभग ३०० वर्ष पहले आया अर्थात् महात्मा सुकरात की मृत्यु के समय ही उसका एथेन्स में आगमन हुआ। एथेन्स में आकर वह एक विशेष स्थान में रहा, जिसको ग्रीक भाषा में स्टोवा कहते हैं। इसी स्थान के नाम से उसके मत का नाम स्टोइसिज्म वा स्टोइकवाद पड़ा। स्टोइसिज्म के अनुसार संसार को घटनाओं के अन्तस्तल में विवेक कार्य करता है। कोई भी घटना अकारण अथवा निर्लक्ष्य नहीं होती। उनका कथन था कि संसार में जो कुछ है, वह सब ठीक है; और सुव्यवस्थित रूप से रक्खा हुआ है। संसार में कोई पदार्थ बुरा नहीं है। किसी घटना में बुराई देखना हमारा भ्रम मात्र है। मनुष्य के जीवन का आदर्श यह होना चाहिए कि वह प्रत्येक परिस्थिति में शांति और सन्तोष से रहे और जो कुछ उसे सुख-दुःख पड़े उसे प्रसन्नता के साथ सहन करे। इसी तरह से ही हम अविच्छिन्न शांति का उपभोग कर सकते हैं। संसार की घटनाएँ हमारे वश की नहीं हैं। जो कुछ होना है, वह अवश्य ही होकर रहेगा। अतएव घटना के विषय में चिन्ता करना मूर्खता है। हममें घटना को बदल देने की शक्ति नहीं है; हम केवल घटना के प्रति अपने रुख को बदल सकते हैं। जिस घटना को हम बुरी समझते हैं, उसको हम विवेक-द्वारा भली समझ सकते हैं; और ऐसी घटना से उद्विग्न न होकर प्रसन्न चित्त रह सकते हैं, क्योंकि इस संसार को बनाने वाला विवेक ही है; और सब घटनाएँ विवेक द्वारा ही संचालित होती हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार की घटना से उद्विग्न मन न होना चाहिए। सब लोग अपने स्वभाव के अनुसार ही अपना-अपना कार्य करते हैं। इसलिए ज्ञानी को यह भी चाहिए कि वह दूसरों के कार्यों की नुक्ताचीनी न करे। किसी के स्वभाव में परिवर्तन करना सम्भव नहीं।

हमें अपने कर्त्तव्यों का निर्णय विवेक या सद्विचार से करना चाहिए। मनुष्य को संवेगों के वश में न होना चाहिये, उसे इन्द्रियों के वश में न होना चाहिए। मनुष्य का ऐसा ही आचरण अच्छा कहा जा सकता है, जो विवेक के नियन्त्रण में किया गया हो। विवेकी पुरुष किसी भी काम को अनासक्त बुद्धि के साथ करता है, वह अपने कर्त्तव्य मात्र की ओर देखता है; वह किसी लाभ की आशा नहीं करता। उसका न तो कोई विशेष प्रिय ही है, और न

कोई विशेष अप्रिय ही। सब लोगों को एक दृष्टि से देखना, उसके जीवन का सिद्धान्त रहता है।

इस प्रकार के जीवन का उदाहरण हम रोम के प्रसिद्ध दार्शनिक बादशाह मारकस आर्लियस में पाते हैं। मारकस आलियस अपने दुश्मनों के साथ लड़ता तो था, किन्तु उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था। अपने राज्य का सब कार्य करता था, किन्तु उसमें उसको सफलता और असफलता का विचार नहीं रहता था। मारकस आर्लियस जिस समय समर के मैदान में अपने खेमे में पड़ा रहता था, उस समय भी आध्यात्म-चिन्तन किया करता था। ऐसे समय के उसके मौलिक विचार अभी तक हमें उपलब्ध हैं।। इन्हें हम "मारकस आर्लियस के चिन्तन" (मेडिटेशन आफ मारकस आर्लियस) नामक पुस्तक में पाते हैं।

स्टोइक लोग सब चीजों की भलाई में इतना दृढ़ विश्वास करते थे कि सच्चे स्टोइक का मन दुःख से कभी विचलित नहीं होता था। जब रोम के पोसीडोनियस नामक एक प्रसिद्ध स्टोइक एक भयानक बीमारी से त्रस्त था तो उसने कहा "ऐ दुःख, तू मुझे खूब त्रास दे ले, जितनी चाहे उतनी पीड़ा दे ले, किन्तु मुझसे यह कभी नहीं स्वीकार करा सकता कि तू बुरा है"।

स्टोइसिज्म के अनुसार मनुष्यों को आवेश का निराकरण करना चाहिए। किसी प्रकार के आवेश या संवेग शुद्ध विचार में बाधक होते हैं। अतएव जो मनुष्य जितना ही आवेशों से मुक्त रहेगा, वह उतना ही सद्विचार कर सकता है। जिन संवेगों या आवेशों को हम भला समझते हैं, उन्हें भी स्टोइक लोग बुरा समझते थे। किसी परिस्थिति में दया के आवेश में आना भी बुरा है। मनुष्य दया के आवेश में आकर भी अपने विवेक को भूल जाता है, और न्याय न करके समाज का अहित कर देता है। दया के स्थान पर स्टोइक लोग प्रशान्त मन रहने और सद्भाव लाने का आदेश करते हैं। सभी प्राणियों में आत्मीयता स्थापित करनी चाहिए। आत्मीयता उपादेय है, दया नहीं। सब का शुभ चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार की मनोवृत्ति मनुष्य की अपनी निराली सम्पत्ति है। यह कर्त्तव्य करने से ही प्राप्त होती है। स्टोइक लोग दूसरे के

आचरण को बुरा-भला नहीं कहते थे। जिन लोगों का आचरण स्टोइक आदर्श से विरुद्ध भी रहा हो, उन्हें भी वे घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे।

जब हम स्टोइक सिद्धान्त की ठीक से विवेचना करते हैं, तो देखते हैं कि उसके अनुसार चल कर मनुष्य अपने-आपको यदि सुखी न बना पावे तो कम से-कम दूसरों को दुःखी नहीं बनाता है। स्टोइक सुख की जो कुछ भी अवहेलना करते हैं, वे अपने लिए करते हैं, दूसरों के लिए नहीं। इतना ही नहीं,स्टोइसिज़्म कर्त्तव्य को जीवन में प्रथम स्थान देता है। जो व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण हैं, वे अविचलित शक्ति प्राप्त करते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य का अनुभव है और संसार के सभी महात्माओं ने इस सिद्धान्त का आदेश दिया है।

स्टोइक लोगों की कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं, जो हमारे साधारण तर्क को ग्राह्य नहीं हैं। स्टोइक लोगों के कथनानुसार संसार की सभी घटनाएँ अपने-आप ही होती हैं। उनमें कोई परिवर्तन होना संभव नहीं है। कृष्ण भगवान् ने गीता में भी इसी प्रकार के सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया है। किन्तु यदि सभी घटनाओं का स्वभाव पहले से ही निश्चित है, तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य किस बात में रह जाता है, यह साधारण मनुष्य की समझ के बाहर है। हम प्रायः कर्त्तव्य का अर्थ यही लगाते हैं कि हम कुछ उचित कार्य करें। किन्तु जब यह बताया जाता है कि संसार की सभी क्रियाएँ पहले से ही निश्चित हैं, तो हमारे कर्त्तव्य के लिए स्थान कहाँ रहा ? जब तक मनुष्य को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में स्वतन्त्र मान लिया जाता है, तब तक कर्त्तव्य के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इस शंका का समाधान स्टोइक मत वाले यह कह कर करते हैं कि स्वतंत्रता दो प्रकार की होती है; एक बाह्य और दूसरी आंतरिक। मनुष्य को बाह्य स्वतंत्रता नहीं है, अर्थात् वह संसार की घटनाओं में परिवर्तन नहीं कर सकता है, पर उसे आन्तरिक स्वतन्त्रता अवश्य है, अर्थात् वह यह निश्चय कर सकता है कि हमें अपनी अन्तरात्मा से किसी घटना के प्रति सहयोग करना चाहिए अथवा नहीं।

प्रश्न

१. कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेचन में विवेक की अपेक्षा होती है, अन्तरात्मा की आवाज की नहीं। ऐसा क्यों ?

२. अन्नाभाव से मरणासन्न स्त्री-बच्चों के प्राणरक्षार्थ यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है, तो उसके कार्य को नैतिक कहा जाएगा या अनैतिक ?

३. सिनिसिजम क्या है ? इसके सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिए।

४. "सत्य खोजनेवाले व्यक्ति को सुख और दुःख में समभाव से रहना चाहिये।" इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

५. स्टोईसिज्म का मूल सिद्धान्त क्या है ? किसी प्रकार के आदेश बुरे क्यों होते हैं ?

———

ग्यारहवाँ प्रकरण

इमेनुअल कान्ट का आध्यात्मवाद

कान्ट के दार्शनिक विचार की विशेषता—यूरोप में जितने तत्त्व-वेत्ता हुए हैं, उनमें सबसे गम्भीर कान्ट माने जाते हैं। कान्ट महाशय जर्मनी के कानिग्वर्ग विश्व विद्यालय में प्रोफेसर थे। उनका जीवन बड़ा सादा और नियमित था। वे जीवन भर अविवाहिता रहे, और उन्होंने बड़ी पवित्रता से अपना जीवन निबाहा। कान्ट महाशय किसी विचार को प्रकाशित करने के पूर्व उसपर बड़ी गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करते थे। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक "दी कृटिक आफ प्योर रीजन" छियासठ वर्ष की अवस्था में प्रकाशित की। उन्होंने इस पुस्तक में विचार शक्ति की सीमाएँ बताई हैं। मनुष्य अपने तार्किक विचारों द्वारा जीवन के अन्तिम तत्त्वों के विषय में कुछ भी नहीं जान सकता। दार्शनिक समस्याओं को हल करने की वह जितनी चेष्टा करता है, वे उतनी ही जटिल होती जाती हैं। इन समस्याओं को हल करना उसकी बुद्धि के परे की बात है। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान करना, अमरत्व को जानना, किसी वस्तु के तत्व को समझना—ये सभी बातें बुद्धि के द्वारा नहीं सम्भव होतीं। बुद्धि हमारे सामान्य लौकिक अनुभव को समझने का एक साधन मात्र है। इस साधन को हम लौकिक अनुभव के परे की बातों को समझने के प्रयोग में नहीं ला सकते। यही सिद्धान्त कान्ट महाशय ने अपनी 'कृटिक आफ प्योर रीजन' नामक पुस्तक में स्थिर किया है। कान्ट महाशय ने उक्त सिद्धान्त को स्थिर करके, अर्थात् बुद्धि की सीमा बताकर उस समय के दार्शनिक विवादों को बन्द कर दिया। इस प्रकार कान्ट का निषेधात्मक कार्य बड़े ही महत्त्व का है।

पर, अब प्रश्न आता है कि हम जिन अन्तिम तत्त्वों का अनुसन्धान

कर रहे हैं, उन्हें अनुभवगम्य करने के लिए क्या तार्किक विचार के अतिरिक्त दूसरा मार्ग उपलब्ध है ? कान्ट के कथनानुसार यह मार्ग आचरण अर्थात् व्यावहारिक विचार का मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति में सदाचरण की प्रवृत्ति रहती है और वह अपने आप में निःश्रेय की प्राप्ति करने की प्रबल प्रेरणा पाता है। इस प्रबल प्रेरणा के आधार पर ही कहा जा सकता है कि निःश्रेय कोई वस्तु है। इसी के आधार पर आत्मा का अमरत्व सिद्ध होता है।

नैतिकता का आधार—कान्ट के कथनानुसार नैतिकता का आधार एक आन्तरिक अनुभूति है। इस अनुभूति का नाम उन्होंने "कैटिगोरिकल इम्परेटिव" अर्थात् "अनिवार्य आज्ञा" रक्खा है। यह अनिवार्य आज्ञा मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा से मिलती है। मनुष्य का स्वभाव दो प्रकार के तत्त्वों का बना हुआ है। एक तत्त्व के अनुसार वह सुख की इच्छा करता है, और दूसरे के अनुसार वह अपने-आप में आत्म-नियन्त्रण की अनुभूति करता है। एक तत्त्व रागात्मक[1] है, और दूसरा विवेकात्मक[2] है। रागात्मक तत्त्व मनुष्य को विषय-भोग की ओर ले जाती है, और विवेकात्मक तत्त्व उसमें उनसे मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। रागात्मक तत्त्व मनुष्य को स्वार्थी बनाता है, और विवेकात्मक तत्त्व उसे परमार्थी तथा न्यायप्रिय बनाता है। इस अन्तरात्मा से उसे वही अनिवार्य आज्ञा मिलती है जो विवेकानुसार है। वास्तव में अन्तरात्मा की आज्ञा और विवेक की आज्ञा एक ही आज्ञा हैं।

कान्ट महाशय का कथन है कि नैतिकता के नियम अखण्ड[3] हैं। वे अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञाएँ[4] हैं। वे सदा एक से ही रहते हैं। परिस्थितियों का कैसा ही परिवर्तन क्यों न हो, विवेक अथवा अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा में कोई परिवर्तन नहीं होता। कान्ट का कथन है कि भौतिक नियम अपरिवर्तनशील[5] और व्यापक[6] है। नैतिक नियम की अनिवार्यता कान्ट महाशय ने दूसरे अन्य प्रकार के नियमों से तुलना करके बताया है। दूसरे प्रकार के नियमों की अवहेलना की जा सकती है। पर, नैतिक नियम का पालन एक

---

1 Sensibility. 2. Rationality 3. Uncontradictable. 4. Categorical imperative. 5. Unchangeable. 6. Universal.

ओर मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है, वे उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा बनाये गए हैं, और दूसरी ओर उनके पालन करने में अनिवार्यता भी है। यह अनिवार्यता सामाजिक, सरकारी अथवा प्राकृतिक नियमों के पालन करने की अनिवार्यता के समान नहीं है। सामाजिक नियम कहता है कि हमें विशेष प्रकार की पोशाक पहन कर समाज में न आना चाहिये। साधु कोपीन लगा कर समाज में आ सकता है, किन्तु गृहस्थ इस प्रकार बिना वस्त्र के समाज में नहीं आ सकता। यदि वह ऐसा करता है, तो उसका आचरण निन्दनीय माना जाता है। समाज ऐसे व्यक्ति का बहिष्कार करता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति समाज का बहिष्कार सहने के लिये तैयार है, तो लँगोटी लगाकर समाज में आने से उसे कोई रोक नहीं सकता। संसार के बड़े-बड़े महात्माओं ने कभी-कभी समाज में प्रचलित व्यवहार के नियमों के प्रतिकूल आचरण किया है, और उसके लिए उन्होंने समाज से दण्ड भी प्राप्त किए हैं। समाज ने उनके कामों की निन्दा की, परन्तु वे अपने निश्चय से नहीं डिगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज के नियम अनिवार्य नियम नहीं हैं। जो व्यक्ति उन नियमों को तोड़ने के कारण दण्ड भोगने के लिए तैयार रहता है, वह उन्हें तोड़ सकता है।

जिस प्रकार समाज के नियम 'अनिवार्य आज्ञा' नहीं माने जाते, उसी प्रकार राजनैतिक नियम भी अनिवार्य आज्ञा का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। राजा की निन्दा करना राजनियम के विरुद्ध होता है। इस नियम को जो तोड़ता है, उसे राजदण्ड भोगना पड़ता है। मनुष्य की व्यवहार-कुशल-बुद्धि उसे सिखाती है कि वह समाज के अथवा राज्य के नियम को न तोड़े। पर, इन नियमों में उस प्रकार की अनिवार्यता नहीं है, जिस प्रकार की अनिवार्यता नैतिक नियम में रहती है। इन नियमों का पालन भय-वश किया जाता है।

जिस प्रकार सामाजिक और नैतिक नियम दुःख के डर और पुरस्कार की आशा से पालन किये जाते हैं, उसी प्रकार प्राकृतिक नियम भी शारीरिक क्लेश के भय अथवा शारीरिक सुख की आशा से पालन किए जाते हैं। जाड़े में गरम कपड़ा पहनना चाहिये और गर्मी में धूप में बाहर न निकलना चाहिये, यह

प्राकृतिक नियम है। पर जो बीमार होने की परवाह नहीं करता, उसके लिए इन नियमों का पालन करना अनिवार्य नहीं है। इन नियमों का पालन न करने से आत्मग्लानि और आत्मभर्त्सना की अनुभूति नहीं होती।

नैतिक नियम उक्त नियमों से विलक्षण हैं। इनकी अनिवार्यता किसी बाहरी सत्ता के दण्ड अथवा पुरस्कार देने की सम्भावना पर आश्रित नहीं हैं, यह आत्म-सन्तोष की प्राप्ति पर निर्भर करती है। जब कभी मनुष्य की अन्तरात्मा की पुकार[1] किसी सामाजिक अथवा राजनैतिक नियम के विरुद्ध होती है, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सामाजिक अथवा राज-नियम के प्रतिकूल आचरण करे; और समाज अथवा राज्य उसे जो दण्ड दे, उसको वह प्रसन्नता पूर्वक सहन करे। यही नैतिक नियम, अर्थात् अन्तरात्मा की अनिवार्यता है। नैतिक नियम का पालन दण्ड के भय अथवा पुरस्कार के प्रलोभन के कारण नहीं किया जाता, वरन् उसका पालन इसलिए किया जाता है कि वह अपने ही विवेक अथवा अन्तरात्मा का नियम है, और उसका पालन करके ही मनुष्य अपना आध्यात्मिक विकास[2] तथा निःश्रेय की प्राप्ति कर सकता है। कान्ट के अनुसार मनुष्य के जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक विकास अथवा निःश्रेय की प्राप्ति ही है; और उसका एक मात्र साधन अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा के अनुसार अर्थात् नैतिक नियम के अनुसार आचरण करना है। इसमें परावलम्बन नहीं है। जहाँ तक मनुष्य के जीवन में परावलम्बन आता है, अर्थात् वह किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा उसके दिये प्रलोभन-वश कोई कार्य करता है, वहाँ तक वह नैतिकता के उच्च स्तर से गिर जाता है।

नैतिक विचार में हेतु[3] की प्रधानता—कान्ट का कथन है कि जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की नैतिकता के ऊपर विचार करें, तो हमें उसके किसी काम के फल को न देखकर उसके हेतु की ओर देखना चाहिए। यदि किसी काम की प्रेरणा करने वाला हेतु ऊँचा है, तो वह काम ऊँचा है, और यदि काम की प्रेरणा करने वाला हेतु नीचा है, तो काम नीचा है। सुखवादी नैतिक विचार-

---

1. Conscience. 2. Spiritual development. 3. Motive.

धारा में किसी काम की नैतिकता का निर्णय करने में काम के फल को महत्त्व दिया जाता है। कान्ट का कथन है कि काम के फल उसकी नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। किसी कार्य की नैतिकता में उसी बात पर विचार किया जाना चाहिए, जो मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के नियन्त्रण में है। जिन बातों पर मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियन्त्रण नहीं है, अर्थात् जो उसकी वश की बातें नहीं हैं, उन्हें नैतिक विचार में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। बाह्य जगत् की घटनाएँ अनेक प्रकार के कारणों के परिणाम होती हैं। उन घटनाओं को पैदा करने में हमारी इच्छाशक्ति ही एक मात्र कारण नहीं होती। अतएव यदि कोई घटना वैसी घटित न हो, जिस प्रकार मनुष्य चाहता है, तो इसमें अपने-आपको ही दोषी समझ लेना विवेकहीनता है। मनुष्य वहीं तक किसी घटना के अवांछनीय परिणाम के लिए दोषी है, जहाँ तक कि उस अवांछनीय परिणाम को रोक सकना उसकी शक्ति के भीतर हो। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी प्रकार के अवांछनीय परिणाम के प्रति पूरी सावधानी रक्खे। परन्तु यदि इस सावधानी के होते हुए भी वातावरणजन्य किसी विशेष परिस्थिति के कारण जैसा वह इच्छा करता है उसके प्रतिकूल फल हो, तो उसे आत्म-भर्त्सना करना उचित नहीं।

किसी भी कार्य के दो प्रकार के परिणाम होते हैं—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक परिणाम मनुष्य की चित्तवृत्ति का सुधार और हृदय की शुद्धता है, और बाह्य परिणाम विशेष प्रकार की घटनाओं का घटित होना है। आन्तरिक परिणाम मनुष्य के वश की चीज है, बाह्य परिणाम उसके वश की चीज नहीं है। बाह्य परिणाम प्रकृति की इच्छा के ऊपर निर्भर है; आन्तरिक परिणाम मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव नैतिकता का विचार करते समय हमें मनुष्य के आचरण के बाह्य परिणाम पर विचार न करके, उसके आन्तरिक परिणाम पर ही विचार करना चाहिए। प्रत्येक भला हेतु भला ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है। उसका बाह्य परिणाम भला अथवा बुरा हो सकता है। इसी तरह प्रत्येक बुरा हेतु बुरा ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है; उसका बाह्य परिणाम भला अथवा बुरा हो सकता है।

मान लीजिए, एक मनुष्य के ऊपर एक शेर आक्रमण कर रहा है। हम

आक्रमण करते हुए शेर को देखते हैं। हम मनुष्य को बचाने के लिए शेर के ऊपर गोली दाग देते हैं। परन्तु हमारा निशाना चूक जाता है; शेर और मनुष्य के बहुत निकट होने के कारण गोली शेर को न लगकर मनुष्य को लग जाती है। इससे उसकी मृत्यु हो जाती है। सम्भव है यदि हम मनुष्य के रक्षार्थ गोली न चलाते, तो वह किसी प्रकार शेर के आक्रमण से बच जाता। शेर उसकी थोड़ी बहुत क्षति करके छोड़ दे सकता था। पर उसको बचाने के प्रयत्न में हमने उसे मार ही डाला। अब प्रश्न आता है कि हमें इस प्रकार शेर के मुँह में जाने से उस व्यक्ति को बचाना था या नहीं? फल को देखते हुए हमारा काम बुरा रहा। किन्तु क्या हमारा काम सचमुच में नैतिक दृष्टि से बुरा था?

हम एक और उदाहरण दे सकते हैं। एक रोगी, डाक्टर के पास जाता है। उसकी आँत में कोई खराबी हो गई है, इसके लिए एक बड़े आपरेशन की आवश्यकता है। डाक्टर सोचता है कि यदि वह रोगी के पेट का आपरेशन नहीं करता, तो उसकी पूरी आँत सड़ जायगी और उसकी मृत्यु हो जायगी। यदि वह आपरेशन करके दूषित भाग को निकाल दे तो सम्भवतः वह बहुत दिनों तक जीवित रहे। डाक्टर रोगी के स्वास्थ्य-लाभ के हेतु उसके पेट की चीर-फाड़ करता है। किन्तु उस चीर फाड़ के परिणाम स्वरूप उसके पेट में एक नया फोड़ा तैयार हो जाता है, जिसके बढ़ने पर उसकी मृत्यु हो जाती है। अब हमें देखना है कि नैतिकता की दृष्टि से डाक्टर का काम कैसा रहा, भला अथवा बुरा?

उक्त प्रश्नों का कान्ट महाशय का एक ही उत्तर है कि काम की भलाई अथवा बुराई को देखने के लिये हमें उसके परिणाम को न देखकर उसके हेतु को देखना चाहिए। हेतु की शुद्धता पर कार्य की पवित्रता निर्भर है। जिस कार्य का हेतु पवित्र है, उसका फल चाहे जो कुछ हो, वह पवित्र कार्य ही है। फल का होना मनुष्य की इच्छा शक्ति पर नहीं निर्भर करता है। प्रकृति में कोई एक बातें ऐसी होती हैं जिनके कारण हम जैसी इच्छा करते हैं उनके अनुसार कार्य-फल नहीं होता है। मनुष्य अपने हेतु की कितनी ही शुद्धता क्यों न रखे और वह संसार का कितना ही कल्याण क्यों न चाहे; उसके कामों के फल को बिगाड़ने के लिये कुछ आकस्मिक घटनाएँ हो ही जाती हैं; और परिणाम कुछ का कुछ हो जाता है। कान्ट ने प्रकृति के इस प्रकार के कर्म-फल में बाधा डालने

के कार्य को सौतेली माँ के समान माना है। अतएव मनुष्य को कर्मफल से अपने काम की नैतिकता पर विचार न करना चाहिए।

कितने ही लोगों के काम का हेतु भला नहीं होता, किन्तु काम का फल आकस्मिक भला हो जाता है। मान लीजिए, कोई भिखारी हमारे सामने आता है और वह भीख के लिए हाथ पसारता है। हम गुस्से में आकर तांबे का एक सिक्का उसके सिर पर फेंककर मारते हैं। सिक्का उसके सिर पर न लगकर नीचे गिर जाता है। भिखारी उस सिक्के को उठा लेता और उससे रोटी खरीद लेता है। इससे उसकी क्षुधा शान्त हो जाती है। यहाँ हमारे काम का हेतु बुरा था; परन्तु फल अच्छा ही हुआ। फिर हमें इस काम को नैतिक दृष्टि से अच्छा कहना चाहिए, या बुरा?

यदि हम कान्ट की विचार-धारा को मानें तो भिखारी के ऊपर सिक्का फेंकने के काम को हमें बुरा ही कहना पड़ेगा, उस काम का बाहरी परिणाम चाहे जो कुछ हो। कान्ट का यह विचार सर्वथा युक्ति-संगत है। मनुष्य का हेतु ही उसके चरित्र तथा स्वभाव को भला अथवा बुरा बनाता है। नैतिक आचरण का लक्ष्य बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं, वरन् आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है। नैतिक प्रयत्न-द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, वरन् आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है, और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है; बाह्य सफलता से नहीं।

कान्ट का नैतिकता ध्येय[1]—कान्ट की नैतिकता का ध्येय किसी प्रकार के लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं है। कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिकता का ध्येय अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बनाये हुए नैतिक नियम का पालन करना ही है। यह ध्येय अपने ही भीतर है। कान्ट अपने से बाहर किसी प्रकार के आदर्श की कल्पना नहीं करते थे। नीति-शास्त्र के दूसरे विद्वान् किसी ऐसे आदर्श की कल्पना करते हैं, जो इस समय आचरणकर्ता को अप्राप्य है, और जिसे उसे आगे चलकर अपने भले कामों के द्वारा प्राप्त करना है। भौतिकतावादियों और सुखवादियों ने अपना आदर्श बाहरी सफलता को बना रखा है;

1. Aim.

और आदर्शवादियों ने आन्तरिक सफलता में अपने आदर्श की कल्पना की है। दोनों प्रकार की विचार-धाराएँ अपने आप से पृथक् किसी विशेष प्रकार के लक्ष्य को कल्पनाएँ करती हैं। यही लक्ष्य उनका निःश्रेय है। किसी प्रकार का आचरण जहाँ तक इस निःश्रेय की प्राप्ति में सहायक होता है, वहाँ तक उस आचरण को भला कहा जाता है, और जहाँ तक उसकी प्राप्ति में वह बाधा डालता है, वहाँ तक उसे बुरा कहा जाता है। दोनों प्रकार की विचारधाराओं में अपने से पृथक् किसी सर्वोत्तम तत्त्व को प्राप्त करने का निर्देश है। कान्ट महाशय के विचारानुसार यह सर्वोत्तम तत्त्व अपने-आप ही है। शुद्ध भावना के अतिरिक्त दुनियाँ में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो कि स्वयं अपने-आप में भली हो। किसी वस्तु का भला अथवा बुरा होना यह मनुष्य की भावना पर निर्भर करता है। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति ही अपने-आप में भली वस्तु है।*

मनुष्य अनेक प्रकार के बाहरी पदार्थों को भला समझ कर उनको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कोई धन को भला समझता है, कोई मान-मर्यादा को और कोई दान-पुण्य को। परन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी वस्तु अपने-आप में भली नहीं है। वह वहीं तक भली है, जहाँ तक वह भली इच्छा से सम्बन्धित है, या उसका प्रकाशन करती है। यह भली इच्छाशक्ति अपने-आप से बाहर नहीं है, यह आप में ही है। भली इच्छाशक्ति के नियम को मानना ही अपने-आप का अथवा अपनी आत्मा का नियम मानना है। जिस काम में हम जहाँ तक इस भली इच्छाशक्ति की क्रिया को देखते हैं, वहाँ तक वह क्रिया भली है, और जहाँ तक इस इच्छाशक्ति की क्रिया में किसी दूसरे प्रकार के हेतुओं का अथवा प्रेरकों का मिश्रण हो जाता है, वहाँ तक वह क्रिया बुरी हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छाशक्ति स्वतन्त्र न रह कर परतन्त्र हो जाती है। जहाँ तक इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता है, वहीं तक नैतिकता है; जहाँ इच्छाशक्ति की परतन्त्रता आई, वहाँ नैतिकता का अन्त हुआ और अनैतिक आचरण प्रारंभ हुआ।

इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का विरोध मनुष्य के भाव, उद्वेग अथवा रागात्मक वृत्तियों के द्वारा होता है। जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता

* Good will is the only good that is good without qualification.

है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है। उद्वेग का गुलाम बनकर कोई भी व्यक्ति नैतिक आचरण नहीं कर सकता। नैतिक आचरण ऐसा ही आचरण है, जिसका हेतु स्वयं स्वतन्त्र इच्छाशक्ति में हो। जिस आचरण का हेतु स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बाहर हो, वह नैतिक आचरण नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी बाहरी प्रलोभन अथवा भय के कारण जो कुछ काम मनुष्य करता है, वह कान्ट महाशय के कथनानुसार अनैतिक ही है। कान्ट महाशय प्रेम, दया और श्रद्धा आदि मनोभावों को भी अपने आप में भले नहीं मानते। यदि ये मनोभाव मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की प्रेरणा के विरुद्ध आचरण कराते हैं, तो वे बुरे कहे जायँगे। दया अथवा मोह से प्रेरित होकर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के विरुद्ध काम करने को कान्ट महाशय ने मानसिक बीमारी का लक्षण माना है।

कान्ट का नैतिक नियम मनुष्य को अपने आप पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। अन्तरात्मा की 'अनिवार्य आज्ञा' का यही लक्ष्य है। वही व्यक्ति पूर्णतः नैतिक आचरण कर सकता है, जिसकी इच्छाशक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र है, और यह स्वतन्त्रता उस व्यक्ति को सम्भव नहीं, जिसने आत्म-विजय को प्राप्त नहीं किया, अर्थात् जिसने अपने प्रबल उद्वेगों[1] को नियन्त्रण में नहीं कर लिया। प्रबल काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, इत्यादि के आवेश को रोकने की जिसमें शक्ति है, वही सच्चा नैतिक व्यक्ति है। जो इनके आवेश में आकर किसी ओर बह जाता है, वह अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता को खो देता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण कदापि नैतिक आचरण नहीं हो सकता। आत्म-विजय[2] आत्म-संयम और शान्ति भाव से किया गया आचरण ही कान्ट के अनुसार नैतिक आचरण है।

कान्ट का नैतिक नियम—हमने ऊपर कान्ट के बताए नैतिक नियम के बारे में कुछ चर्चा की है। यह कहा गया है कि यह नियम स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियम है। यह नियम अन्तरात्मा की आवाज है, और यह अनिवार्य आज्ञा का रूप लिए हुए है। इस नियम का पालन करना ही नैतिकता का सर्वोच्च

1. Emotions. 2. Self-conquest.

आदर्श है। अब प्रश्न उठता है कि यह नियम क्या है? इस नियम को कान्ट ने एक ही पंक्ति में कहा है—'उसी सिद्धान्तानुसार आचरण करो, जिसको तुम मनुष्य मात्र के लिए व्यापक बनाने की इच्छा कर सकते हो।'* कोई भी नियम, जिसको हम सब लोगों के लिए व्यापक नहीं बना सकते, नैतिकता की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। नैतिक नियम में किसी प्रकार के अपवाद[1] को स्थान नहीं। नैतिक नियम का किसी प्रकार अपवाद अनैतिकता है। मनुष्य सदा यह चाहता है कि दूसरे लोग तो किसी विशेष प्रकार के नियम का पालन करें, किन्तु उसके आचरण में नैतिक नियम के अपवाद के लिए स्थान रहे। यह अपवाद का विचार ही अनैतिक आचरण का कारण होता है। नैतिक नियम की व्यापकता को समझाते हुए कान्ट महाशय ने कुछ उदाहरण दिये हैं। उनमें से एक उदाहरण वचन पूरा करने का है। यदि हम वचन पूरा करने के नियम का उल्लंघन करते हैं, तो हमें उसे नैतिक बनाने के लिए यह इच्छा करनी होगी कि सभी लोग हमारे ही समान उक्त नैतिक नियम का उल्लंघन करें, अर्थात् वचन-भंग करें। इस तरह वचन-भंग के नियम को व्यापक करके उसे नैतिक नियम बनाने की चेष्टा करेंगे। परन्तु, वचन पालने का नियम जिस प्रकार व्यापक नियम बनाया जा सकता है, वचन-भंग का नियम ठीक उसी प्रकार व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि हम वचन-भंग के नियम को व्यापक नियम बना दें; तो फिर कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के वचन देने पर विश्वास ही न करेगा। वचन में विश्वास के अभाव में वचन देने की आवश्यकता ही न होगी। फिर, जहाँ वचन नहीं दिये जायँगे, वहाँ वचन-भंग होना कैसे सम्भव है; अर्थात् वचन-भंग होने का नियम स्वगत विरोध के कारण व्यापक नियम बनने पर नष्ट हो जाता है। अतएव जो नियम व्यापक नियम न बन सके और जो किसी विशेष व्यक्ति के आचरण के लिए ही मार्ग प्रदर्शित करता हो, वह अनैतिक नियम है।

जिस प्रकार वचन-भंग को नैतिक नियम नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार चोरी, व्यभिचार, आत्म-हत्या को नैतिक नियम नहीं बनाया

---

* Act that principle which thou canst will to be an universal law. 1. Exception.

जा सकता। यदि सभी लोगों को चोरी करने की छूट दे दी जाय, तो फिर न कोई सम्पत्ति रखेगा और न चोरी ही होगी। इस तरह चोरी करने के नियम को व्यापक बनाने से वह नियम ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि सभी लोग व्यभिचार पर तुल जाँय, तो विवाह-पद्धति ही न रह जायगी; और फिर व्यभिचार भी न रहेगा। इसी प्रकार आत्म-हत्या की बात है। आत्म-हत्या करने वाला कोई भी व्यक्ति आत्म-हत्या को व्यापक नियम बनाने की कल्पना नहीं कर सकता। आत्म-हत्या के व्यापक बनने पर उसकी आवश्यकता ही न रह जायगी। इस तरह जिस नियम को हम व्यापक नियम का रूप नहीं दे सकते, वह नियम अनैतिक नियम है।

नैतिक नियम अपनी अन्तरात्मा का नियम है, जो सत्य और न्याय-प्रिय है। अपनी सत्य-प्रियता के कारण वह उस विचार को सत्य मानता है, जो पारस्परिक विरोध से रहित है। इसी प्रकार यह अन्तरात्मा उस आचरण को भी न्याययुक्त आचरण मानता है, जो अपने-आप के विरोध से रहित है। ज्ञान के जिस नियम को हम व्यापक नियम नहीं बना सकते वह नियम झूठा है। इसी तरह आचरण के जिस नियम को हम व्यापक नहीं बना सकते, वह नियम भी झूठा अथवा अनैतिक नियम है। मनुष्य की विवेकबुद्धि, जो अन्तरात्मा की शक्ति है, एक ओर उसे अपने विचार में व्यापक सत्य की ओर ले जाती है; और दूसरी ओर वह उसे आचरण में व्यापक नैतिक नियम के अनुसार काम करने के लिए बाध्य करती है। ये दो प्रकार के कार्य वास्तव में एक ही शक्ति के कार्य हैं, एक ज्ञान के क्षेत्र में है, और दूसरा क्रिया के क्षेत्र में। अतएव इन दोनों प्रकार के कार्यों का समान होना स्वाभाविक है। नैतिक आचरण वही आचरण है, जो विवेकयुक्त अथवा विज्ञानयुक्त हो।

कान्ट महाशय का कथन है कि हमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः लक्ष्य मानना चाहिए, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के सुख का साधन नहीं बनाना चाहिए।* प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये जीता है, न कि दूसरे के लिये। जिस प्रकार हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सब काम करते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सब काम करता है। अतएव जिस व्यक्ति के

* Regard humanity as an end and never as a means.

सम्पर्क में हम आवें, अपने आचरण में हमें उसके हित का उसी प्रकार ध्यान रखना चाहिए, जिस प्रकार हम अपने हित का ध्यान रखते हैं। अपने हित के लिए दूसरे व्यक्ति के हित को भूल जाना अन्याय है, और यही अनैतिकता है। मान लीजिए कि एक कारखाने का मालिक अपने नौकरों से दिन भर काम लेता है और अपना लाभ बढ़ाने के लिए वह उन्हें पर्याप्त वेतन नहीं देता। उसका यह कार्य अनैतिक है, क्योंकि वह भूल जाता है कि उसके नौकर लोग उसके लाभ को बढ़ाने के लिए काम नहीं कर रहे हैं, वरन् अपनी आजीविकोपार्जन करने के लिए काम करते हैं। जो मालिक मजदूरों के हित का उतना ही ध्यान रखता है, जितना वह अपने हित का ध्यान रखता है, वह नैतिक है। मनुष्य को प्राणिमात्र के सुख के लिए काम करना चाहिए।

उक्त कथन से हम कान्ट के नैतिक नियम के बारे में तीन प्राकार की बातें पाते हैं—(१) यह नियम व्यापक[1] नियम है, (२) यह नियम स्वतंत्र इच्छाशक्ति का[2] नियम है, और (३) लक्ष्य मनुष्यमात्र का[3] कल्याण है। नैतिक नियम के पहले गुण से यह स्पष्ट होता है कि इस नियम में किसी प्रकार के अपवाद को स्थान नहीं है। दूसरी विशेषता से स्पष्ट है कि इस नियम में किसी प्रकार के उद्वेगों अर्थात् राग-द्वेषात्मक वृत्तियों को स्थान नहीं है; और तीसरे नियम का लक्ष्य सभी मनुष्यों को अन्तिम भलाई प्रदान करना है। जिस आचरण के द्वारा अपवादों को महत्ता मिलती है, जिसमें रागात्मक वृत्तियों को स्थान दिया जाता है अथवा जो मनुष्य के कल्याण और भलाई के प्रतिकूल है, वह अनैतिक आचरण है।

कान्ट महाशय के नैतिक नियम की समालोचना

कान्ट महाशय के नैतिकता सम्बन्धी विचार बहुत ही गम्भीर हैं। ये विचार सभी देशों के नैतिकता सम्बन्धी विचारों के आधारभूत हैं। उनके विचारों को संसार के प्रमुख विद्वानों ने माना है, और जो लोग उनके विचारों की आलोचना करते हैं, वे भी उनकी गम्भीरता को मानते हैं। कान्ट के नैतिक नियम की आलोचना निम्नलिखित कारणों से की जाती है—

---

1. Universal. 2. Autonomous. 3. Humanity.

*(१) कान्ट का नैतिक नियम निरी सामान्यता पर जोर डालता है।

(२) उसका नैतिक नियम बड़ा कठोर है।

(३) इस नैतिक नियम में तपवाद को प्रधानता है।

इन तीनों प्रकार की आलोचनाओं को स्पष्ट करके एक-एक पर विचार करना आवश्यक है।

कान्ट के आलोचकों का कथन है कि कान्ट के नैतिक नियम में कोई ऐसी बात नहीं बतायी गयी, जो हमारे व्यावहारिक जीवन में काम में आवे। उनका नियम सामान्य नियम[1] है। वह केवल नैतिक नियम के बाहरी ढाँचे[2] को ही बताता है, उसके भीतर की वस्तु[3] को नहीं। आचरण के कौन-कौन से व्यावहारिक नियम हों, वह इन बातों को स्पष्ट नहीं करता। कान्ट ने कहा है कि उस नियम को अपने जीवन का नियम बनाओ, जिसको तुम व्यापक नियम बनाने की इच्छा कर सकते हो। पर प्रश्न यह है कि ऐसा कौन-सा नियम हो सकता है, जिसको हम व्यापक नियम बना सकते हैं। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया गया है। स्वयं कान्ट का कथन है कि व्यावहारिक नियम देश-काल पर निर्भर करेंगे। अतएव उनमें वे लक्षण नहीं हो सकते हैं, जिनका नैतिकता के नियम में होना आवश्यक है। नैतिकता का नियम अन्तरात्मा[4] का नियम है। इस नियम का रूप परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता। यदि उसका रूप परिस्थितियों पर निर्भर करने लगे, ता वह नैतिक नियम अपरिवर्तनशील नहीं होगा; और परिवर्तनशील नैतिक नियम सब समय और सब काल के मनुष्यों में व्यापक न होगा। जो नियम मनुष्य के बाह्य अनुभव पर आधारित रहता है, वह अन्तरात्मा का नियम नहीं हो सकता। अन्तरात्मा का नियम सांसारिक अनुभवों के ऊपर स्थित नहीं रहता, वरन् वह अन्तरात्मा के स्वरूप को ही प्रगट करता है। यदि कान्ट की इस बात को मानकर नैतिक नियम को बनावें, तो वह नैतिक नियम के ढाँचे के अतिरिक्त और कुछ न होगा। वह हमारे व्यावहारिक जीवन में काम में नहीं आ सकता, क्योंकि उनमें व्यावहारिक जीवन के लिए पथ-प्रदर्शन का संकेत ही नहीं रहेगा। अतएव कान्ट के कुछ आलोचकों ने कहा है कि कान्ट

---

* (i) Kant's law is formal (ii) It is stringent (iii) It is ascetic.

1. Formal law, 2. Form 3. Matter. 4. Conscience.

महाशय की इच्छा-शक्ति वास्तव में कुछ इच्छा ही नहीं करती, अर्थात् उसकी अन्तरात्मा की आवाज से वास्तव में कुछ निर्देश ही नहीं मिलता।

कान्ट के नैतिक नियम की दूसरी आलोचना यह है कि वह बड़ा कठोर है। उसमें किसी प्रकार के अपवाद को स्थान ही नहीं है। परन्तु प्रत्येक नैतिक नियम का कभी-न-कभी अपवाद होना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, वचन पालने के नियम को ही लीजिए। मान लीजिए कि हमने किसी व्यक्ति को वचन दिया कि ठीक पाँच बजे संध्या को हम तुम्हारे पास पहुँचेंगे। परन्तु जब हम पाँच बजे उसके पास जाने की तैयारी करते हैं, तो हमको सूचना मिलती है कि हमारा एक मित्र अचानक बीमार हो गया है और उसके लिये हमें तुरन्त चिकित्सक को बुलाना है। यदि हम चिकित्सक को पाँच बजे न बुलावें, तो सम्भव है कि उसके प्राण चले जावें। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि हमारा कर्तव्य अपने वचन-भंग की परवाह न करके मित्र की सेवा-सुश्रूषा में लगना ही है। झूठ बोलना साधारणतः बुरा है; परन्तु रोगी, आततायी और मूर्ख से सभी बातें सच्ची-सच्ची कह देना अपने और दूसरों के लिए घातक है। अतएव ऐसे लोगों से परिस्थिति के अनुसार सत्य कहना होगा, अथवा सत्य को उनसे छिपाना होगा। किसी-किसी परिस्थिति में झूठ बोलना ही मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। परन्तु हम यह इच्छा नहीं कर सकते कि सभी लोग सब परिस्थितियों में झूठ बोलें, अर्थात् झूठ बोलने के नियम को व्यापक नियम बनाने की इच्छा न रखते हुए भी कभी-कभी हम उससे काम ले सकते हैं। झूठ बोलने की नैतिकता झूठ बोलने के व्यापकत्व पर निर्भर नहीं करती, वरन् उसकी नैतिकता किसी दूसरी बात पर निर्भर करती है।

अब यदि कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को यह निर्णय करने का अधिकार हो कि वह किस परिस्थिति में झूठ बोले और किस परिस्थिति में झूठ न बोले; और जिस प्रकार की परिस्थिति में वह झूठ बोलता है; उसी प्रकार की परिस्थिति में सभी लोगों को झूठ बोलने की छूट दे दे, तो इस प्रकार के नियम से चोर और डाकू लोग भी लाभ उठावेंगे। वे यह सोच सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को हमारी परिस्थिति में झूठ ही बोलना चाहिए। किन्तु उनके इस प्रकार के सोचने से उनका झूठ बोलने का कार्य नैतिक कार्य नहीं हो जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो अन्तरात्मा का सिद्धान्त और न नैतिक नियम के व्यापकत्व का सिद्धान्त ही सामान्य व्यवहार में हमारे काम आता है। वास्तव में यहाँ पर किसी ऐसी नैतिक कसौटी की आवश्यकता है, जो व्यापक और अव्यापक दोनों प्रकार के नियमों का औचित्य अथवा अनौचित्य दर्शा सके। आदर्शवादियों के अनुसार नैतिकता की यह कसौटी अपने ऊँचे-से-ऊँचे स्वत्व की प्राप्ति है। इस स्वत्व की प्राप्ति में लोक-कल्याण की भावना निहित है।

एक तरह से देखा जाय, तो हम कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते; जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित कार्य कहा जा सकता है। कान्ट महाशय आजन्म ब्रह्मचारी रहे और उनका जीवन बड़े उच्चकोटि का था। उनके ब्रह्मचर्य के प्रति कोई भी आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु यदि इसी ब्रह्मचर्य को सर्व व्यापी नियम बना दिया जाय, तो सृष्टि का ही विनाश हो जायगा, अर्थात् ब्रह्मचर्य का नियम किसी विशेष व्यक्ति के लिए ही लागू होने पर चल सकता है। उसके व्यापक होने पर उसका स्वयं विरोध हो जाता है। अतएव यदि स्वयं विरोध हो जाना ही अनैतिकता का लक्षण है, तो ब्रह्मचर्य का पालन अनैतिक कहा जायगा। इसी प्रकार दान देने का नियम भी पूर्णतः व्यापक नहीं बनाया जा सकता। जब समाज के कुछ व्यक्ति अपना सभी धन समाजसेवा के लिए दान में दे देते हैं, तब हम उनकी महानता की प्रशंसा करते हैं, उन्हें नैतिक व्यक्ति मानते हैं; किन्तु यदि सभी लोग अपना सर्वस्व दान में देने लगें, तो दान देना भी आन्तरिक विरोध के कारण बन्द हो जायगा। सभी लोगों की दानशीलता अधिक होने पर किसी व्यक्ति के पास सम्पति ही न रह जायगी; और फिर दान देना सम्भव ही न होगा। इस तरह दानशीलता की व्यापकता की कल्पना नहीं की जा सकती। दान भी अपवाद के रूप में उचित कार्य माना जा सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि अपवाद के अभाव को ही नैतिकता का लक्षण मानना युक्तिसंगत नहीं।

कान्ट महशय ने नैतिक जीवन का आदर्श कठोर तपमय बनाया है। उनके कथनानुसार त्याग और तपस्या में ही नैतिक जीवन का सार है। नैतिकता विवेकात्मक भाव है, और इच्छाओं की तृप्ति विवेक के प्रतिकूल है। जिस प्रकार

पुराने यूनानी कहा करते थे कि देवत्व का लक्षण इच्छाओं का अभाव है, उसी प्रकार कान्ट महाशय इच्छाओं के अभाव को विवेक का लक्षण मानते हैं। इच्छाओं को अथवा राग-द्वेष को अपने कार्य में किसी प्रकार का स्थान देना, विवेक के प्रतिकूल जाना है।

कांट के विचारों की मौलिकता

कांट संसार का महान् तपस्वी दार्शनिक था। उसका जीवन उसी प्रकार सदाचार में बीता, जिस प्रकार किसी भारतीय ऋषि का बीतता है। वह सदा तत्त्व की खोज में लगा रहता था। उसके जीवन में कितनी कम सांसारिकता, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा थी, यह इसी से स्पष्ट होता है कि उसका सर्वोत्तम ग्रन्थ छियासठ वर्ष की अवस्था में प्रकाशित हुआ। वह एक ही दार्शनिक विचार को चालीस वर्ष तक सोचता गया, और जब तक उसने सारे पहलुओं पर विचार नहीं कर लिया; तब तक उसने अपना विचार संसार के सामने नहीं रखा। उसके जीवन में दिखावेपन का बिलकुल अभाव था। दार्शनिक विचारों में सदा निमग्न रहने के कारण उसने विवाह भी नहीं किया। यूरोप के विचारों की गम्भीरता दो विद्वानों के कार्यों पर निर्भर है—एक प्लेटो और दूसरा कांट। दोनों के जीवन में उन सिद्धान्तों को चरितार्थ होते देखा जाता है, जिनका वे प्रतिपादन करते हैं।

कांट महाशय के नीति-शास्त्र-सम्बन्धी विचार हमने दर्शाया तथा उन विचारों की जिस प्रकार से सामान्यतः आलोचना होती है, उसे भी बताया। सम्भवतः इस आलोचना के कारण पाठकों के मन में यह धारणा हो जाय कि कांट का कार्य नगण्य था। ऐसा सोचना भारी भूल होगी। आधुनिक युग में यदि नीति-शास्त्र के विचारों में किसी विद्वान ने गम्भीरता लाया है, तो वह कांट ने ही; और योरोप में प्लेटो के बाद कांट के विचार ही ऐसे हैं, जो तत्त्व-विज्ञान के आधार पर सभी प्रकार की बातों में आधारित हैं।

कांट महाशय के पूर्व सुखवाद और अन्तः अनुभूतिवाद ही प्रचलित थे। नैतिक बातों पर विवेक से निश्चय करने की प्रणाली, जिसे प्लेटो महाशय ने चलाई थी, लोप-सी हो गई थी। जिस प्रकार सुखवाद समाज में संघर्ष का कारण

बन रहा था, उसी प्रकार अनुभूतिवाद भी कुछ धार्मिक लोगों के अत्याचार का कारण हो रहा था। सुखवाद का नियन्त्रण होना आवश्यक है और यह नियन्त्रण अन्तः अनुभूतिवाद ने किया। परन्तु अन्तः अनुभूतिवाद ने वैयक्तिक अनुभूति को प्रधानता देकर मनुष्य के विवेक को तुच्छ बना दिया था। अन्तः अनुभूतिवाद का व्यावहारिक रूप धार्मिक और एकतन्त्रात्मक विचारों को प्रधानता देना हो जाता है। जो लोग अन्तः अनुभूति में विश्वास करते हैं, वे उसी प्रकार कट्टर विचार के होते हैं; जिस प्रकार धार्मिक पुस्तकों के विचारों को ईश्वर-वाक्य मानने वाले होते हैं। यदि अन्तः अनुभूतिवादी किसी व्यक्ति विशेष की अन्तः अनुभूति को ही मुख्य वस्तु न मानें, पर सभी लोगों की अन्तः अनुभूति को बराबर का स्थान दें; तो उनका विचार उपादेय हो। परन्तु वह विचार निरा अन्तः अनुभूतिवाद न रह जायगा, वह विवेकवाद हो जायगा। कांट महाशय ने यही किया।

कान्ट महाशय एक ओर अन्तः अनुभूतिवादी थे, और दूसरी ओर विवेकवादी। विवेकवाद और अन्तः अनुभूतिवाद का जिस प्रकार समन्वय कांट के विचारों में पाया जाता है, वैसा किसी दूसरे दार्शनिक के विचारों में नहीं पाया जाता। कांट महाशय ने नैतिक निर्णयों में अन्तः अनुभूति को ही प्रधानता दी है। उनके कथनानुसार नैतिकता में उचित अनुचित का निर्णय करने वाली शक्ति अन्तः अनुभूति ही है। पर यह अन्तः अनुमति अथवा ईश्वर की आवाज एक व्यापक वस्तु है। इससे भूल कभी नहीं होती। यह देश काल आदि से परे है। अर्थात् जिस प्रकार का निर्णय किसी विशेष नैतिक संकट में पड़ने पर आज हमारी अन्तरात्मा देगी, ठीक उसी प्रकार का निर्णय वह दूसरी बार कई वर्षों के बाद भी देगी। इतना ही नहीं, यही निर्णय दूसरे देशों और दूसरे काल के लोगों का भी होगा। यदि इस प्रकार के विचार की समानता और ऐक्य मानव जाति में न हो, तो नैतिकता अर्थ-हीन वस्तु हो जायेगी। सच्ची नैतिकता के आधार पर ही मानव समाज में एकता आ सकती है।

कांट महाशय ने दर्शाया है कि सभी मनुष्यों में विचार करने की प्रक्रिया एक ही प्रकार की होती है। एक व्यक्ति में बुद्धि जिस प्रकार काम करती है, उसी प्रकार वह दूसरे व्यक्ति में भी काम करती है, और यदि एक ही प्रकार के प्रदत्त

किन्हीं दो बुद्धिमान व्यक्तियों को दे दिये जायँ और उन प्रदत्तों पर आधारित किसी निर्णय पर पहुँचने को उनसे कहा जाय, तो वे एक ही निर्णय पर पहुँचेंगे। इसी प्रकार यदि दो नैतिक व्यक्तियों को किसी नैतिक समस्या पर विचार करने को कहा जाय, तो उनके निष्कर्ष एक से ही होंगे। यह इसलिये होता है कि मनुष्य के नैतिक निर्णयों में उसका विवेक काम करता है और यह विवेक वैयक्तिक वस्तु नहीं, वरन् एक सामान्य वस्तु है। सभी का विवेक एक-सा ही होता है।

कांट महाशय का कथन है कि मनुष्य की अन्तरात्मा भूल कभी नहीं करती। यदि मनुष्य कोई नैतिक भूल करता है, तो वह अन्तरात्मा की आवाज न सुनने के कारण अर्थात् उस आवाज की अवहेलना करने के कारण ही करता है। किसी नैतिक भूल के हो जाने के पश्चात् मनुष्य की अन्तरात्मा उसे भर्त्सना देती रहती है, इसीलिये जिन व्यक्तियों को नैतिकता के अनुसार चलने का अभ्यास हो गया है, वे किसी अपवित्र काम को करने के बाद पश्चात्ताप का अनुभव करते हैं। भूल करने वाली अन्तरात्मा एक कल्पना मात्र है*। किसी नैतिक भूल को अन्तरात्मा के सिर मढ़ना, अपने आप को धोखा देना है।

मनुष्य की अन्तरात्मा उसे सदा यही प्रेरणा देती है, कि वह ऐसा काम करे जिससे सभी की भलाई हो, केवल उसी की नहीं। उसका नैतिक नियम यह है कि उसी सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो, जिसे तुम सब लोगों और सब समय के लिये उचित समझते हो। यह नियम ऐसा है, जिसमें सभी मनुष्यों को समानता का स्थान दिया गया है। इस नियम के अनुसार राजा और रंक, पादरी और सामान्य व्यक्ति बराबर मान लिये गये हैं। यह नियम बताता है कि जिस बात को तुम अपने लिए ठीक नहीं समझते हो, उसे दूसरे के लिए भी मत करो। यह उपदेश संसार के सभी महात्माओं का है। हजरत ईसा, सुकरात और भारतवर्ष के उपनिषद्-रचयिता ऋषियों ने इसी नियम को नैतिक जीवन का सर्वोच्च नियम बताया है। जो व्यक्ति इस नियम की अवहेलना करता है; वह अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल काम करता है, क्योंकि सभी की अन्तरात्मा मनुष्य को व्यापक नियम की ओर ही ले जाती है।

---

* An erring conscience is a mere imagination.

कांट महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों की तालिका नहीं बनाई। उन्होंने यह भी नहीं बताया कि दो कर्तव्यों में कौन-सा कर्तव्य ऊँचा है, और कौन सा नीचा। मनुष्यों को सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करके उसने उनका कोई विशेष कर्तव्य नहीं बताया। इसके परिणाम-स्वरूप कांट के नीतिशास्त्र में नैतिकता का लक्ष्य क्या है, इसी पर अधिक विचार पाये जाते हैं। उनके विचारों में विशेष कर्तव्यों का उल्लेख नहीं पाया जाता। इसीलिए कहा जाता है कि कांट महाशय की भली इच्छाशक्ति ऐसी है, जो कुछ भी इच्छा नहीं करती*। पर जब इस बात पर हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, तो हम प्रायः उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जिस पर कांट पहुँचा। यदि नीतिशास्त्र का कोई विद्वान् पहले से ही बताये कि अमुक परिस्थितियों में अमुक प्रकार के व्यक्तियों का अमुक कर्तव्य है, तो वह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का ही अपहरण कर लेगा। जहाँ स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कार्य नहीं, वहाँ नैतिकता का विकास भी सम्भव नहीं। नैतिकता का मूल आधार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। अतएव कांट महाशय नैतिकता के नियम के विषय में यही कहकर रह गये कि व्यापक नियम के अनुसार चलना ही नैतिकता है।

यह बात सत्य है कि जब कभी किसी विशेष परिस्थिति में इस नियम को लगाया जायगा, तो कुछ दूर तक उसकी व्यापकता की अवहेलना हो जायेगी। अर्थात् व्यावहारिक जगत् में मनुष्य अपने आचरण को इतना व्यापक नहीं बना सकता कि वह संसार के सभी लोगों के लिये अनुकरणीय हो जाय। पर यदि वह इस प्रकार बना सके, तो यह बुरी बात न होगी। कांट महाशय ने तो हमारे सामने एक आदर्श मात्र खड़ा किया है। इस आदर्श के होने के कारण ही हम अपने आचरण को ऐसा बनाते हैं, लोक में जिसकी निन्दा न हो। पुण्य वही है, जिसे छिपाने की इच्छा हमें नहीं होती, जो प्रकाश में आने पर हमारे सम्मान का कारण होता है; और पाप वह है, जिसको हम छिपकर करते हैं—जिसे छिपाये रखने की हममें सदा इच्छा बनी रहती है और जिसके प्रकाशित होने पर हमारा सम्मान नष्ट हो जाता है, हमें शर्म के मारे सिर नीचा कर लेना पड़ता है। यदि

---

* Kant's good will is a will that wills nothing.

हम कांट महाशय के नैतिक नियम के आदर्श को ध्यान में रखें, तो हम से पुण्य होने की ही अधिक संभावना है, और हम पाप से बचे रहेंगे।

कांट महाशय का दूसरा कथन यह था कि नैतिकता में अपवाद के लिए कोई स्थान न रहे। जहाँ तक नैतिक नियम का अपवाद है, वहाँ तक अनैतिकता है। यदि कोई मनुष्य कहे कि मेरे लिए अधिक वेतन मिलना तो ठीक है, पर मेरे नीचे काम करनेवाले नौकरों के लिए वह ठीक नहीं है; तो वह अपने लिए कोई विशेष स्थान चाहता है। नैतिकता में इस प्रकार की विशेषता के लिए स्थान नहीं। आज इसी के आधार पर संसार के गरीब लोग धनी लोगों से अपने अधिकारों की माँग कर रहे हैं। सभी मनुष्य बराबर हैं और सभी को संसार में जीने का, उसकी संपत्ति के उपभोग का समान अधिकार है। यदि कोई व्यक्ति अपने विशेष अधिकार का ढिंढोरा पीटता है, तो वह नैतिक नहीं, अनैतिक व्यक्ति है। यदि कोई अपराध करने पर किसी गरीब मनुष्य को सजा होती है, तो ऐसी ही सजा उसी अपराध करने पर धनी व्यक्ति को भी होनी चाहिए। जब राजा गरीब को तो किसी अपराध के करने पर सजा देता है, पर धनी को बचा देता है; तो वह एक अनैतिक नियम से काम लेता है।

यह संभव है कि मनुष्य अपने आचरण को ऐसा न बना सके कि उसमें अपवाद का सर्वथा अभाव रहे। पर इसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि अपवाद के अभाव का आदर्श बनाना ही बुरा है। आदर्श के रहने पर मनुष्य प्रयत्न करता रहेगा। वह जब कभी भूल करेगा, तो उसे ज्ञात हो जावेगा कि उसने भूल कहाँ तक की। सभी लोग अपने पक्ष की बात को ठीक मान लेते हैं और अपने सम्बन्धी को विशेष स्थान देने की चेष्टा करते हैं। यह नैतिक नियम का अपवाद है और जहाँ तक नैतिक नियम का अपवाद होता है, वहाँ तक व्यक्ति के जीवन में अनैतिकता ही आती है।

कांट महाशय की तीसरी आलोचना उसके अपवाद की है। कांट महाशय का कथन है कि जहाँ तक हम अपने आचरण में उद्वेगों और भावों को स्थान देते हैं, वहाँ तक हमारा आचरण नैतिक नहीं होता। नैतिक आचरण वह आचरण है, जो केवल विवेक-मात्र के द्वारा संचालित है। यदि उसमें थोड़ा भी भाव (उद्वेग) को स्थान दिया गया, तो उस आचरण को नैतिक आचरण नहीं

कहा जायगा। जो लोग अपने सभी कामों में भाव से प्रेरित रहते हैं, उन्हें यह नियम बड़ा ही कठोर दिखाई देगा। यदि भावों में प्रेरित होकर नहीं, वरन् केवल कर्तव्य की दृष्टि से ही कोई काम किया जाय, तो वह काम नीरस हो जावेगा। ऐसे काम में भला मनुष्य का मन कैसे लगेगा? कर्तव्य को सरस बनाकर क्यों न किया जाय?

कांट महाशय की भाव-सम्बन्धी नैतिकता के विचारों की आलोचना इस प्रकार से करना कर्तव्य की महत्ता और उसके सच्चे स्वरूप को भुला देना है। कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रश्न वहीं आता है, जहाँ मनुष्य का विवेक उसे एक ओर ले जाता है और उसके भाव, उद्वेग अथवा स्वार्थ उसे दूसरी ओर ले जाते हैं। इन दोनों के संघर्ष में मनुष्य के मनुष्यत्व की परख होती है। मनुष्य की विशेषता, उसकी धर्म परायणता, अर्थात् विवेक के अनुसार काम करने में है। विवेकी पुरुष अनुद्विग्न मन होकर तथा अपने सभी आवेशों को जीतकर काम करता है। पर यह तभी होता है, जब वह अपने प्रतिक्षण के काम में अपने भावों का नियन्त्रण करता रहे। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है, वह संकट काल में उसी प्रकार का आचरण करता है।

जिस व्यक्ति ने अपने प्रतिक्षण के कार्य में अपने मानसिक वेगों का नियंत्रण करना नहीं सीखा, वह प्रबल भय, क्रोध, लोभ, शोक, ईर्ष्या आदि के आने पर उनके प्रवाह में बहने से अपने आपको कैसे बचा सकेगा? अतएव अपने आचरण में कर्तव्य-बुद्धि के प्रतिकूल आवेशों को तनिक भी स्थान देना अनैतिकता है। अपने आवेशों को इस प्रकार नियन्त्रण में रखने से मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवती होती है। इच्छाशक्ति का बलवान होना ही नैतिक आचरण का सर्वश्रेष्ठ परिणाम है! जिस मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवती होती है, उसे वे संशय और भय व्यर्थ नहीं सताते, जो निर्बल इच्छाशक्ति के व्यक्तियों को सताते हैं। दृढ़ इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति मौत का भी स्वागत प्रसन्नता से करता है। उसे मौत की परवाह ही नहीं रहती; और निर्बल इच्छाशक्ति का व्यक्ति सदा अधमरी अवस्था में रहा करता है। वह उन आपत्तियों के विषय में चिन्ता करता रहता है, जो उसके सामने आईं ही नहीं। उनकी कल्पना ही उसे त्रास देती रहती है।

जब मनुष्य किसी प्रकार का अभ्यास करता है, तो जो काम पहले पहल अप्रिय और कठिन लगता है, वही पीछे प्रिय और सरल लगने लगता है। जो कुछ मनुष्य करता है, उसमें उसकी रुचि होने लगती है। अतएव कर्तव्य कार्य पहले तो अप्रिय लगता है, पर पीछे वही प्रिय कार्य बन जाता है। कर्तव्य करने से मनुष्य को आत्मसंतोष होता है, यह उस कार्य के करने का सबसे बड़ा पुरस्कार है। मनुष्य का पुरुषार्थ इसी में है, कि वह अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करे। मनुष्य की प्रकृति उसे भावों में बहा ले जाती है। जब वह भावों के प्रतिकूल चलता है, और विवेक को अपना पथ-प्रदर्शक बना लेता है, तो वह उस आन्तरिक शान्ति की अनुभूति करता है, जो वर्णन करने के परे है।

कांट महाशय के विचार भारतीय दार्शनिकों के विचारों से समानता रखते हैं। उपनिषदों और गीता में नैतिकता के विषय में उसी मार्ग को सन्मार्ग बताया गया है, जिसे कांट महाशय ने बताया है। अपने आचरण को ऐसा बनाना, जिससे सभी लोगों का कल्याण हो, अपने लिए विशेष अधिकार का प्रयत्न न करना और अपने आवेगों को विवेक के नियन्त्रण में रखना—ये तीनों बातें उपनिषद् में सिखाई गई हैं। कठोपनिषद् में परम पद-प्राप्ति का मार्ग वही बताया गया है, जो कांट महाशय ने बताया है। अतएव भारतीय विद्वानों के लिए कान्ट महाशय के विचारों को जानना और उन पर मनन करना अत्यन्त लाभकारी है। यदि दो भिन्न-भिन्न स्थानों के चिन्तक एक ही सत्य को कहें, तो उस सत्य की प्रामाणिकता बढ़ जाती है। फिर उपनिषद् और गीता का काल बहुत दूर का काल है। हमारे पास जो बातें उस समय की आती हैं, वे अनेक प्रकार से विकृत होकर आती हैं। वर्त्तमान समय में तो लोग रटकर ही उन विचारों को अपने मस्तिष्क में रखते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को दार्शनिक विषय के काम में लावे, तो हम उसे प्रोत्साहित न करके उसकी भर्त्सना करते हैं। अतएव हमारे देश के पुराने दार्शनिक विचार, जो ऋषियों की स्वतन्त्र आत्म-स्फूर्ति से उत्पन्न हुए थे और जिसमें स्वतन्त्रबुद्धि को खेलने का पूरा अवकाश मिला था, हमारे लिए जड़ता के प्रतीक बन जाते हैं। वे हमारे पास रहकर भी हमारे काम नहीं आते। हमारी बुद्धि की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के निमित्त वे काम में लाये जाते हैं। फिर उनके भाष्यों से तो उनका रूप कुछ-का-कुछ हो जाता है। ऐसी

अवस्था में हमसे हजारों मील की दूरी पर रहनेवाले विद्वान् के स्वतन्त्र विचार हमारे लिये बड़ा मूल्य रखते हैं। वे एक ओर हमें सत्य के दर्शन कराते हैं, और दूसरी ओर स्वतन्त्र चिन्तन की कीमत भी बताते हैं। कांट महाशय के नैतिक तथा दार्शनिक विचारों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि जिस व्यक्ति की बुद्धि स्वतन्त्र है, वही तत्त्व के वास्तविक दर्शन कर सकता है। बुद्धि की स्वतन्त्रता का जहाँ अपहरण हुआ, वहाँ विचारों में भी जड़ता आ जाती है, और वहाँ सत्य विचार भी असत्य का प्रतीक बन जाता है।

प्रश्न

१. "अनिवार्य आज्ञा" देनेवाली शक्ति के स्वरूप को भली प्रकार से समझाइये। इसकी विवेकशीलता पर प्रकाश डालिये। कान्ट महाशय का इस विषय में क्या मत है?

२. "जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की नैतिकता पर विचार करें, तो हमें उसके किसी काम के फल को न देखकर उसके हेतु की ओर देखना चाहिये" इस प्रकार के मत को स्पष्ट कर समालोचना कीजिये।

३. कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिकता का ध्येय क्या है? इस विषय में उसके विचारों की आलोचना कीजिये।

४. कान्ट महाशय का बतलाया हुआ नैतिक नियम क्या है? इस नियम को हम कैसे प्राप्त करते हैं? इसकी अनिवार्यता कहाँ तक ठीक है?

५. कान्ट महाशय के नैतिक नियम की विशेषता को स्पष्ट समझाइये।

६. "कान्ट महाशय का नैतिक नियम बड़ा कठोर है—"इस आलोचना को स्पष्ट कीजिये। नैतिक नियम का कठोर होना मनुष्य के नैतिक विकास के लिये कहाँ तक उचित है?

७. कान्ट के नैतिक सिद्धान्त में तपवाद की प्रधानता है—यह कहने का क्या अर्थ है? क्या तपस्या से मनुष्य की नैतिकता की वृद्धि होता है?

८. कान्ट महाशय ने अपने नैतिक विचारों के द्वारा मानव-जाति की क्या सेवा की है? उन्होंने मनोवैज्ञानिक सुखवाद की प्रवृत्तियों को कहाँ तक रोका है?

———

बारहवाँ प्रकरण

सुखवाद[1]

सुखवाद क्या है?

सुखवाद आधुनिक काल का एक व्यापक नैतिक सिद्धान्त है। सुखवाद के अनुसार मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य सुख-प्राप्ति है। सुख-प्राप्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है, इसी में उसकी वास्तविक भलाई है। अतएव जिन कामों, मन्तव्यों अथवा हेतुओं से अधिक सुख की उत्पत्ति होती है, वे अच्छे हैं, और जिनके द्वारा कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति होती है, वे बुरे हैं। सुखवादी सुख को एक विशेष प्रकार की अनुभूति[2] अथवा संवेदना मानते हैं। उनके विचारानुसार विभिन्न प्रकार के सुख की संवेदनाओं को उसी प्रकार नापा जा सकता है, जिस प्रकार हम किसी भौतिक पदार्थ को माप लेते हैं। दो भिन्न-भिन्न कामों में वह काम नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा है, जिसके द्वारा अधिक परिमाण में सुख की संवेदना हमारे मन में उत्पन्न हो, और कम-से-कम दुःख की अनुभूति हो। ऐसे काम के हेतु और मन्तव्य भी अच्छे समझे जाते हैं।

सुखवाद के दो मुख्य प्रकार हैं, एक स्वार्थ[3] सुखवाद और दूसरा परार्थ[4]। स्वार्थ सुखवाद के अनुसार मनुष्य की सबसे बड़ी भलाई अपने आप के सुख का उपार्जन करने में है। जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक जीवन को जितना सुखी बना सकता है, वह उतना ही भला है। इसके विरुद्ध पारर्थ सुखवाद का

---

1. Hedonism. 2. Feeling. 3. Egoistic hedonism.
4. Altruistic hedonism.

सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को अपने सुख के लिए ही यत्न नहीं करना चाहिये, वरन दूसरे लोगों के सुख के लिए भी यत्न करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार वे काम नैतिक दृष्टि से अच्छे कहे जायँगे, जिनसे संसार में अधिक सुख की उत्पत्ति होती है। यह सुख अपना ही नहीं, वरन् दूसरों का भी होता है। उस सिद्धान्त को उपयोगितावाद[1] या लाभवाद भी कहते हैं। आधुनिक काल में स्वार्थ-सुखवाद के समर्थक बहुत कम लोग हैं। सुखवाद जहाँ भी प्रचलित है, परार्थ सुखवाद के रूप में प्रचलित है। दोनों प्रकार के सुखवादियों का दार्शनिक आधार जड़वाद[2] है। इनमें शरीर के अतिरिक्त दूसरे किसी तत्त्व की कामना नहीं की गई। शरीर नष्ट हो जाने पर मनुष्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है, यह सुखवाद और जड़वाद की पूर्वमान्यता है। अब यहाँ हम दोनों सुखवादों का एक-एक करके विवेचन करेंगे।

स्वार्थसुखवाद

संसार में सभी जगह स्वार्थ सुखवाद के प्रवर्तक पाये जाते हैं। यूनान देश में इस सुखवाद के प्रवर्त्तक अरस्टीपस और इपीक्यूरस थे, और भारतवर्ष में इस वाद के प्रवर्त्तक बृहस्पति, भारद्वाज और चारवाक आदि थे। भारतवर्ष में स्वार्थ सुखवाद का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। उनके मतों के विरोधी मतावलम्बियों के ग्रन्थों में खण्डन-मात्र पाया जाता है। विरोधियों ने उनके मत को बड़े वीभत्स और हास्यास्पद रूप में प्रकट किया है। चारवाक का निम्नलिखित सिद्धान्त हँसी उड़ाने के लिये अक्सर उद्धृत किया जाता है—'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणंकृत्वा घृतं पिवेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।'

अर्थात् जब तक जीते हो, तबतक सुखसे खाओ पिओ और मौज उड़ाओ। यदि पास में पैसा न भी हो तो, दूसरों से उधार ले लो। जब मनुष्य मर जाता है, तो उसका शरीर धूल में मिल जाता है और फिर इस संसार में आगमन कभी नहीं होता। जब पुनर्जन्म होता ही नहीं, तो मनुष्य को अपने आप को इसी जीवन में अधिक-से-अधिक सुखी बनाने के अतिरिक्त दूसरा पुरुषार्थ रह ही क्या जाता है। अनेक प्रकार के तप करके शरीर को कष्ट देना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या है?

---

1. Utilitarianism. 2. Materialism.

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक देश है। यहाँ की दार्शनिक विचारधारा में सदा आध्यात्मवाद और आदर्शवाद की प्रधानता रही है, अतएव जड़वाद और सुखवाद की हमेशा खिल्ली उड़ाई गई है। संसार के दूसरे देशों में ऐसी बात नहीं हुई। आधुनिक काल में तो पुनर्जन्म और आदर्शवादिता के सिद्धान्त की ही संसार के प्रगतिशील कहे जाने वाले देशों में खिल्ली उड़ाई जाती है। जिस प्रकार प्राचीन भारतवर्ष में चारवाकवादी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को तथा त्याग और तप के जीवन को मूर्खता का परिणाम मानते थे, उसी प्रकार आधुनिक जगत् में साम्यवादी, समाजवादी तथा पूँजीवादी लोग सुख की सामग्रियों का संग्रह करने और उपभोग करने में ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ देखते हैं। इन सब विचारधाराओं में पुनर्जन्म अथवा आदर्श स्वत्व की कल्पना कहीं नहीं पाई जाती। कोई-कोई पूँजीवादी सैद्धान्तिक रूप से यदि पुनर्जन्म और आदर्शवादिता को मानते भी हैं, तो अपने आचरण के द्वारा वे उसका खण्डन करते हैं।

यूरोप के पुराने सुखवादी सेरेनिक थे। ये अरस्टीपस महाशय के अनुयायी थे। अरस्टीपस महाशय के सुखवाद का सिद्धान्त चारवाक के सिद्धान्त के समान था। उसके कथनानुसार सुख-प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आप को जितना सुखी बना सके, उतना सुखी बनाये। यदि उसके कारण उसे किसी प्रकार का अपमान सहना पड़े, तो इसमें कोई क्षति नहीं है। अरस्टीपस प्रत्येक क्षण के सुख की प्राप्ति पर जोर देता है। यदि प्रत्येक क्षण का सुख अधिक रहा, तो जीवन भर में अधिक सुख रहेगा।

उक्त सिद्धान्त से भिन्न ईपीक्यूरस महाशय का सिद्धान्त है। परन्तु उनका आदेश है कि मनुष्य को जीवन भर अपने आप को सुखी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह विवेकहीन होकर अपने आप को भोग विलास में न खो दे। ऐसा करने से उसे सुख की प्राप्ति न होकर दुःख की ही प्राप्ति होती है। जब मनुष्य अपने आप को सदा नये प्रकार के सुखों के उपभोग में लगाये रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ थोथी हो जाती हैं और उनमें सुख को ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। अधिक सुख और भोग विलास के जीवन में मनुष्य

थोड़े दिन के बाद मानसिक बेचैनी का अनुभव करने लगता है। उसके समीप सुख की सामग्री रहने पर भी वह सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। उसमें सुखों के उपभोग की शक्ति ही नहीं रह जाती। इतना ही नहीं, अधिक सुख और ऐश आराम के जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के कारण मनुष्य सुखी न होकर दुःखी ही होता है। अतएव ईपीक्यूरस महाशय का आदेश है कि मनुष्य को अपने आप को जीवन भर सुखी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह संयम का जीवन व्यतीत करे। जीवन में न अधिक भोग विलास की वृद्धि हो, और न तप अर्थात् शारीरिक कष्ट की। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन से सब प्रकार के अतिक्रम को निकाल दे। वही जीवन सर्वश्रेष्ठ है, जिससे मनुष्य झूठे विचारों को त्याग करके गम्भीर चिन्तन से काम लेता है और विवेक-द्वारा अपने आप को संचालित करता है। ईपीक्यूरस महाशय का कथन है कि भला आदमी वही है, जो दार्शनिक है। दर्शन के बिना मनुष्य के मन में समता और शान्ति नहीं आती। दर्शन की सहायता से मनुष्य अपने आप को विलासिता से बचाता और अनेक प्रकार के निरर्थक भावों से अपने जीवन को मुक्त कर लेता है। दर्शन के द्वारा मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है, उसमें गम्भीरता और सहनशक्ति आ जाती है।

ईपीक्यूरस के उपयुक्त कथन से स्पष्ट है कि उसका मत चारवाक के सिद्धान्त से पृथक् है। पर साधारणतः ईपीक्यूरस के मत का यही अर्थ लिया जाता कि खाने-पीने और मौज उड़ाने में ही जीवन की सार्थकता है। ईपीक्यूरस ने आत्म-संयम और दार्शनिक जीवन के ऊपर जो जोर दिया है, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। इसका प्रधान कारण यह है कि ईपीक्यूरसवाद में पुनर्जन्म की चर्चा नहीं है, और न उसने शरीर के अतिरिक्त किसी दूसरी आध्यात्मिक शक्ति का विवेचन ही किया। अतएव ईपीक्यूरस का मत एक प्रकार की चतुराई से जीवन व्यतीत करने का मत हो जाता है।

परार्थ सुखवाद

वर्तमान काल के सुखवाद के प्रवर्त्तक बेन्थम और जान स्टूअर्ट मिल महाशय हैं। ये दोनों विद्वान् अंग्रेज थे। ये दोनों जड़ वादी थे। न ये ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे, और न किसी आध्यात्मिक शक्ति में। मरने के बाद

शरीर नष्ट हो जाता है और फिर कोई वस्तु नहीं रह जाती, यह उनका निश्चित मत था। अतएव सांसारिक जीवन को अधिक-से-अधिक सुखी बनाने में ही जीवन की सार्थकता को वे देखते थे।

ये महापुरुष वैयक्तिक सुखवाद के समर्थक नहीं थे। उनके कथनानुसार आदर्श जीवन वह है, जिसमें समाज के अधिक-से-अधिक लोग सुख प्राप्त करें। उनके कथनानुसार नैतिक जीवन का आदर्श अधिक सुख की प्राप्ति ही होना चाहिये। यह सुख किसी व्यक्ति विशेष का न होकर समाज का होने से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। जब मनुष्य अपने ही सुख की चिन्ता में रहता है, तो वह दूसरे लोगों के सुख की परवाह नहीं करता। कभी-कभी अपने सुख की वृद्धि के लिए वह दूसरे लोगों को दुःख में डाल देता है। इस प्रकार संसार में सुख की वृद्धि न होकर, दुःख की ही वृद्धि होती है।

बेन्थम और मिल महाशय अपने समय के प्रख्यात समाज-सुधारक थे। वे नास्तिक होने पर भी बड़े पवित्र आचरण के व्यक्ति थे। वे समाज में स्वार्थ की वृद्धि देख रहे थे, जिसके कारण समाज के अधिक लोगों को दुःखी रहना पड़ता था। उनके मतानुसार वही कार्य अच्छा है, जिसके द्वारा समाज के अधिक-से-अधिक लोग सुखी हो सकें। जिस काम से समाज के अधिक लोग दुःखी होते और थोड़े लोग सुखी होते हैं, वह काम नैतिक दृष्टि से बुरा माना जाना चाहिए। वे चाहते थे कि मनुष्य को अपने सुख के उपार्जन करने की अधिक-से-अधिक सुविधा दी जावे, पर उसकी स्वतन्त्रता इस प्रकार की हो, कि वह दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचा सके। आदर्श समाज वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने सुख की वृद्धि की पूर्ण स्वतन्त्रता हो और यह स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्ति की किसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होती हो।

जिस समय बेन्थम और मिल महाशय ने अपने विचारों का इङ्गलैंड में प्रचार किया, उस समय ऐसे विचारों की एक विशेष आवश्यकता थी। उस समय धर्म के ठेकेदार, साधारण जनता को उनके सुखों से यह कह कर वंचित करते थे, कि गरीब लोगों को संसारिक सुख की आवश्यकता ही नहीं, उन्हें स्वर्ग में ही पूरा सुख मिल जायगा। अर्थात् स्वर्ग के सुख उनके लिए सुरक्षित हैं, अतएव सांसारिक दुःखों की उन्हें परवाह न करनी चाहिये। इस प्रकार धर्मोपदेशक

स्वयं तो अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते थे, पर सामान्य जनता को धर्म के नाम पर उनसे विरत करने की चेष्टा करते थे। आज भी धर्म के नाम पर धर्म के पुजारी और पूँजीपति यही कर रहे हैं। संसार में सुखवाद का प्रचार इसी तरह के धर्म प्रचारकों की चेष्टा के परिणाम स्वरूप हुआ है। यह एक प्रकार की प्रतिक्रिया है। मनुष्य जड़वाद और सुखवाद की ओर इसलिये जा रहा है, कि समाज के धार्मिक गुरु, जिन्हें त्याग और तप का आदर्श समाज के समक्ष रखना चाहिए था, स्वयं जड़वादी और सुखवादी बन गये हैं। वे अपने धर्मोपदेश में एक बात कहते हैं, और अपने आचरण में दूसरी ही बात को प्रदर्शित करते हैं।

परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार

परार्थ सुखवाद का आधार मनोविज्ञान का वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु[1] सुख के लाभ और दुःख से बचने की इच्छा को माना जाता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को "मनोवैज्ञानिक सुखवाद" कहा जाता है। हम पहले कह आये हैं कि उस मत के अनुसार सभी कामों के हेतु एक से ही होते हैं। अतएव हेतु की दृष्टि से न किसी काम को भला और न बुरा कहा जा सकता है। चोर, अपने सुख के लिये चोरी करता है। इस प्रकार दानी पुरुष भी दान सुखप्राप्ति के निमित्त करता है*। अतएव यदि हेतु पर विचार किया जाय, तो न चोर का काम बुरा है, और न दानी का भला। दोनों के काम एक ही हेतु से होने के कारण एक से ही हैं। यदि उनपर कोई नैतिक विचार हो सकता है, तो उनके मन्तव्यों[2] के आधार पर, अर्थात् हमें यह

---

1. Motive. 2. Intentions.

इस प्रसंग में बेन्थम महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है

* Nature has placed mankind under the guidance of two sovereign masters, pain and pleasures. It is for them alone to point out what we ought to do as well as to determine what we shall do. On the one hand the standard of right and wrong, on the other the chain of causes and effects are fastened to their throne.

Principles of moral Legislation Chap. IV.

देखना पड़ेगा, कि उनमें से किसने संसार में अधिक सुख की वृद्धि की कामना की है।

बेन्थम महाशय अपने सुखवाद की सिद्धि के लिए निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है, वह उसे भला समझता है। अतएव भलाई का काम वह है, जिसके द्वारा अधिक सुख की प्राप्ति हो; और बुरा काम वह है, जिसके परिणाम-स्वरूप अधिक कष्ट मिले। संभवतः ऐसा कोई भी काम न होगा, जिससे कुछ सुख और दुःख दोनों ही उत्पन्न न हो, पर हमें अपेक्षाकृत सुख और दुःख को देखना है। जिस काम में अधिक सुख और कम दुःख हो, वही अच्छा है।*

मिल महाशय ने सुखवाद की सिद्धि के लिए कुछ तार्किक युक्तियाँ दी हैं। उनकी पहली युक्ति यह है—प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, अतएव सुख चाहने योग्य वस्तु है, इसलिए अधिक सुख की प्राप्ति करना नैतिक आचरण का आदर्श होना चाहिये।†

मिल महाशय की दूसरी युक्ति, जो पदार्थ सुखवाद को सिद्ध करती है, निम्नलिखित है—प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए भला अर्थात् उपादेय है, संसार

---

* Intense, long, certain, speedy, fruitful pure—
Such marks in pleasure and in pain endure.
Such pleasure seek if private be thy end,
If it be public let them wide extend
Such pains avoid whatever thy view,
If pains must come, let them extend to few.

Principles of moral Legislation Chap. IV.

† 'The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it. The only proof that a sound is audible is that people hear it. In like manner the only proof it is possible to produce that any thing is desirable is that people do actually desire it.'

J. S. Mills Utilitarianism. Chap. IV.

के सभी लोगों का सुख सब लोगों के लिए भला है। इसलिए सबको सबके सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सुख सभी चाहते हैं, अतएव सबके सुख के अतिरिक्त जीवन का दूसरा क्या आदर्श हो सकता है। *

सुखवाद की आलोचना

सुखवाद संसार का एक व्यापक सिद्धान्त है। समाज के अधिक लोग सुख की ही इच्छा करते हैं। जब वे ऊँचे-ऊँचे आदर्श की बातें करते हैं, और त्याग और तपस्या के गुणगान गाते हैं, तब भी अपने आचरण में वे प्रायः सुखवादी ही बने रहते हैं। पर इस कारण सुखवाद के सिद्धान्त को नैतिक दृष्टि से ही नहीं मान लिया जा सकता। संसार में सच्चे नैतिक आदर्श पर चलने वाला चाहे एक भी व्यक्ति न हो, तो भी नैतिक आदर्श झूठा नहीं हो जायगा। यदि सुख की कामना सभी लोग करते हैं, और कर्त्तव्य-शास्त्र भी उन्हें सुख की खोज की सलाह देता है, तो कर्त्तव्यशास्त्र की आवश्यकता ही क्या होगी? जिस बात को मनुष्य स्वभावतः करते हैं, उसमें कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के विचार का स्थान ही नहीं रहता। कर्तव्य के विचार की महत्ता मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकने में ही है। यदि यह मत सच है कि सभी मनुष्य सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही सब काम करते हैं, तो इससे यह कदापि तात्पर्य नहीं निकलता कि उन्हें सुख के लिए ही आचरण करना चाहिये।

मनुष्य क्या करता है, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि उसे क्या करना चाहिए। कर्त्तव्य-शास्त्र अपहरण के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करता है, न कि आचरण की वास्तविकता पर।

---

*"No reason can be given why the general happiness is desirable except that each person so far as he believes it to be attainable desires his own happiness. This, however, being a fact, we have not only the proof which the case admits of, but all which is possible to produce that happiness is good to that person, general happiness, therefore, is good to the aggregate of all persons."

J. S. Mills Utilitarianism. Chap. IV.

नैतिकता मनुष्य की आध्यात्मिक वृद्धि का साधन मानी जाती है। सुख की इच्छा मनुष्य और पशुओं में समानरूप से है। यदि मनुष्य सुख की वृद्धि करना मात्र अपने जीवन का लक्ष्य बना ले, तो उसमें और पशुओं में भेद ही क्या रहेगा। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसमें भले और बुरे का विचार करने की शक्ति है। यह शक्ति पशुओं में नहीं है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। मनुष्य का विवेक उसे अनुचित सुखों के ग्रहण करने से रोकता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने आपको सुखों के भोग से रोकता है, वह अपनी विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति और विवेक को उतना ही बली बना लेता है। इन आध्यात्मिक शक्तियों का विकास सुख के उपभोग से नहीं होता, वरन् अपने आप को सुख की ओर जाने से रोकने से होता है। जिस व्यक्ति में भोग-लिप्सा जितनी कम होती है, उसका चरित्र, इच्छा-शक्ति, विवेक और सूक्ष्म विषय पर विचार करने की शक्ति उतनी ही अधिक होगी। अतएव मनुष्य के समक्ष सुखवादी आदर्श रखना, उसे मनुष्यत्व से गिराकर पशुओं की श्रेणी में ले जाना है।

सुखवाद मनुष्यों को सुखी न बनाकर दुःखी ही बनावेगा। यदि संवेदनाओं से उत्पन्न हुए सुख के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में कोई दूसरा लक्ष्य नहीं रखता, तो वह अपने लिये अधिक-से-अधिक सुख की सामग्री एकत्र करने की चेष्टा करेगा। सुख की उत्पत्ति बाह्य भोग-सामग्री के ऊपर निर्भर है। संसार में भोग्य-वस्तुएँ परिमित हैं, और मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं। अतएव सुख का आदर्श लेकर मनुष्य सदा दुःखी ही रहेगा। वह भोग-सामग्री के अभाव से दुःखी तो होगा ही, दूसरे सामान्य लोगों को देखकर भी ईर्ष्या के कारण और भी दुःखी होगा। सुख की इच्छा के कारण संसार में भोग-सामग्री के लिए भारी छीना- झपटी उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

वास्तव में आधुनिक काल के महान् युद्धों का कारण सुखवाद की मनोवृत्ति ही है। पूँजीपति अपने सुख के लिए श्रमिक लोगों को चूस लेते हैं और फिर सुखवाद की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर श्रमिक वर्ग के लोग इन पूँजीपतियों के विनाश के लिये उद्यत हो जाते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को, एक सम्प्रदाय दूसरे

सम्प्रदाय को, और एक वर्ग के लोग दूसरे वर्गों के लोगों को इस प्रकार सदा विनाश करने के लिए तत्पर रहते हैं। यह आधुनिक जड़वाद और सुखवाद का ही परिणाम है।

सुखवाद के अनुसार सुख प्राप्त करना ही सर्वोच्च कर्त्तव्य है। सुख-प्राप्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई भी उपादेय वस्तु संसार में नहीं। इस सिद्धान्त का आधार यह मनोवैज्ञानिक तथ्य बताया जाता है, कि सभी लोग सुख की चाह करते हैं, और दुःख से मुक्ति चाहते हैं। प्राणिमात्र की सभी चेष्टाओं का हेतु सुख को प्राप्त करना और दुःख से अपने आप को बचाना होता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है, और सुख-प्राप्ति को कर्त्तव्य माननेवाले सिद्धान्त को नैतिक सुखवाद कहा जाता है। प्रायः सभी नैतिक सुखवादी मनोवैज्ञानिक सुखवाद को उसका आधार बनाते हैं। सभी मनुष्य सुख के हेतु ही काम करते हैं, अतएव सुख के अतिरिक्त दूसरी कोई उपादेय वस्तु नहीं, इसलिये सुख को प्राप्त करना अथवा उसकी वृद्धि करना परम कर्त्तव्य है।

(मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वयं एक भूल है। सभी लोग सुख की इच्छा नहीं करते और मनुष्य के सभी कार्यों का हेतु सुख की प्राप्ति ही नहीं होता। मनुष्य के कार्यों का हेतु आत्म-सन्तोष प्राप्त करना होता है। आत्म-सन्तोष से आनन्द की उत्पत्ति होती है। पर यह आत्म-सन्तोष सदा सुख की प्राप्ति अथवा उसके उपयोग से नहीं होता। सुख इन्द्रियजन्य संवेदनाओं की अनुभूति का नाम है, और आत्मसन्तोष मानसिक स्थिति का सुख बाह्य पदार्थों की प्राप्ति पर अथवा उसके उपभोग पर निर्भर है, और आत्म-सन्तोष मनुष्य के विचारों पर निर्भर है। सुखवादियों ने प्रायः सुख और आत्मसन्तोष का ऐक्य कर दिया है। वे आनन्द और सुख को भी एक ही वस्तु मान लेते हैं, पर यह उनकी भारी भूल है। मनुष्य सदा आत्म-सन्तोष और आनन्द के लिये काम करता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह सुख के लिये ही सदा प्रयत्न करता है। कभी-कभी उसको सन्तोष सुख की प्राप्ति से प्राप्त होता है, और कभी सुख के त्याग से। जब कोई व्यक्ति एकादशी का व्रत रखता है, तो अपने व्रत को निवाहने में ही उसे संतोष होता है, अर्थात् अच्छे-से-अच्छे भोजन के त्याग में ही उसका आत्म-सन्तोष होता है। यदि एकादशी का व्रत लिये हुए कोई व्यक्ति भूल से अन्न खा ले, तो उसे सन्तोष की उत्पत्ति के बदले आत्म-भर्त्सना का

मानसिक क्लेश होता है। भूख के समय अन्न खाने से सुख की अनुभूति होनेपर भी व्रती मनुष्य को आत्मसंतोष नहीं होता। अतएव जहाँ तक उसे याद रहता है, वह इस प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा नहीं करता। उसे व्यभिचार से सुख की अनुभूति होती है, पर सन्तोष की अनुभूति नहीं होती; अतएव साधारणतः मनुष्य अपने आप को व्यभिचार से रोकता है। जब वह सुख के पीछे उचित अनुचित के विचार को भूल जाता है; और जिधर उसकी इन्द्रियाँ ले जाती हैं, उधर ही जाने लगता है, तो हम उसे मानवता से गिरा हुआ व्यक्ति मानते हैं। पशु-जीवन में ही प्राणी सुख के हेतु सभी काम करता है, मनुष्य-जीवन में वह इस मानसिक स्तर से ऊँचा उठ जाता है, और आवश्यकता पड़ने पर प्रसन्नता के साथ अनेक कष्ट झेलता है। हम उसी व्यक्ति को भला कहते हैं, जो उचित कार्य करता और लोक-कल्याण के लिये सुख का त्याग करता है। देशभक्त अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये न केवल सभी प्रकार के सुखों का त्याग करता और अनेक प्रकार के कष्टों को झेलता है, वरन् वह अपने प्राणों को भी देश-हित के लिये निछावर कर देता है। कितने ही देशभक्त हँसते-हँसते फाँसी पर लटक जाते हैं। यदि मनुष्य के सभी कामों का हेतु सुख की प्राप्ति होता, तो देशभक्त का देश के लिये कष्ट सहना और अपने प्राणों का बलिदान करना कैसे सम्भव होता।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद भ्रमात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में आत्मसंतोष और सुख का ऐक्य करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है, कि जिस प्रकार प्रकृति के अन्य प्राणी अपने सुख के लिये सभी प्रकार की क्रियायें करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी सुख की ही प्राप्ति के लिये सभी प्रकार की चेष्टाएँ करता है। पर ऊपर दिये हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट है, कि आत्मसंतोष सुख से भिन्न वस्तु है, और इसके लिये मनुष्य सुख का त्याग करता है। मनुष्य का आत्म-सन्तोष किसी बाहरी वस्तुओं पर अथवा उनके उपभोग पर निर्भर नहीं करता, यह उसके विचारों पर निर्भर करता है। जब मनुष्य अपने आदर्श के अनुसार आचरण नहीं करता है, तो उसे आत्मसन्तोष न होकर आत्मग्लानि होती है, और उससे बचने के लिये, जहाँ तक सम्भव है, मनुष्य अपने आदर्श के

प्रतिकूल आचरण नहीं करता। जब तक मनुष्य विवेकहीन नहीं हो जाता, तब तक वह सुख ही को अपनी चेष्टा का हेतु नहीं बनाता।

यह बात सत्य है कि मनुष्य सुख की इच्छा करता है और सुख की प्राप्ति उसके कुछ कामों का हेतु होता है। पर इस हेतु के पूर्व उसका विवेक कार्य करता है, और विचारवान् मनुष्य पहले अपने विवेक से यह निर्णय करता है, कि उसे किसी विशेष सुख की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये अथवा नहीं। पीछे वह किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसके कार्यों का प्रधान हेतु सुख-प्राप्ति का विवेक ही होता है। जब मनुष्य विवेक से काम नहीं लेता, तो वह मानवता के स्तर से गिर जाता है और उसका आचरण पशुवत हो जाता है।

ऊपर दर्शाया गया है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वयं असिद्ध है। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद यदि सत्य भी हो, तो उसके आधार पर नैतिक सुखवाद सिद्ध नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में पारस्परिक विरोध है। मान लीजिये सभी मनुष्य सुख की चाह करते हैं, तो फिर सुख-प्राप्ति को नैतिक आदर्श बनाने की आवश्यकता क्या है? नैतिक आदर्श कोई ऐसी वस्तु होती है, जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। जिस वस्तु की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसके लिये ही किसी प्रकार की नैतिक प्रेरणा आवश्यक है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-शास्त्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। जब स्वाभाविक प्रवृत्ति और औचित्य में विरोध होता है, तभी कर्त्तव्य की आवश्यकता होती है, और कर्त्तव्य-शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति में होता है। यदि मनुष्य का कर्त्तव्य वही मान लिया जाय, जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है, तो कर्त्तव्य कर्त्तव्य के निर्णय की आवश्यकता ही न होगी। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार न होकर उसका उन्मूलन करने वाला सिद्धान्त है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद की पुष्टि करने में वास्तविकतावाद की भूल होती है। यह एक प्रकार का नैतिक हेत्वाभास है, जिसे अमेरिका के कर्त्तव्य शास्त्र के विद्वान् व्हीलराइट महाशय ने दर्शाया है। कर्त्तव्य-शास्त्र विधेयात्मक

विज्ञान शास्त्र है, यह वास्तविकतावादी विज्ञान नहीं। वस्तु-स्थिति ही विधि निषेध का आधार नहीं बन सकती। उचित और अनुचित विचार इस मान्यता को लेकर चलते हैं, कि मनुष्य वास्तविक परिस्थिति के प्रतिकूल आचरण कर सकता है, और ऐसा आचरण करना उचित है। मान लीजिये कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु सुख की प्राप्ति है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुख की प्राप्ति को उसकी क्रियाओं का हेतु होना ही चाहिये। "है" से "चाहिये" का निष्कर्ष निकालना कर्त्तव्य अथवा नैतिक विचार के प्रतिकूल है। यदि एक भी मनुष्य ऐसा न हो, जो किसी भले आदर्श के लिये सुख का त्याग कर सकता हो, तो भी सुख की प्राप्ति को जीवन का आदर्श नहीं बनाया जा सकता। औचित्य और नैतिकता का आधार वास्तविकता नहीं, वरन् मनुष्य का आदर्श होता है। मनुष्य जो कुछ है, उससे उसे जो कुछ होना चाहिए इसका निर्णय नहीं किया जा सकता।

सुखवाद के अनुसार मनुष्य को सबसे अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए। बहुत से लोगों का सुख अपने सुख से अधिक होता है; अतएव सुखवाद का यह सिद्धान्त हो जाता है, कि अधिक-से-अधिक लोगों के लिए अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार का काम करना चाहिये जिससे अपना और साथ-साथ दूसरों का भी सुख हो; यह सुख अधिक-से-अधिक लोगों के लिए अधिक-से-अधिक परिमाण में होना चाहिये।

उक्त सिद्धान्त से यह बात मान ली गयी है कि सुख मापा जा सकता है। जिस प्रकार थर्मामीटर लगाकर किसी मनुष्य का ताप मापा जा सकता है, उसी प्रकार सुख की भी माप हो सकती है। इस प्रकार की मान्यता के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का आदर्श अधिक-से-अधिक लोगों का सुख ही होना चाहिये। पर वास्तव में सुख की माप नहीं हो सकती। किस व्यक्ति को किस बात में कितने सुख की अनुभूति हो रही है, यह कौन बतायेगा? हम अपने ही एक सुख की तुलना दूसरे सुख के साथ करते समय ठीक-ठीक से नहीं बता सकते कि कौन सा सुख अधिक है। सुख व्यक्तिगत अनुभव है। इसका माप किसी भौतिक पदार्थ के समान होना संभव नहीं। अतएव सुख के विषय में "अधिक-से-अधिक" का विचार असंगत है। सुखवादियों ने मान लिया है कि जिस प्रकार चीनी के दो ढेरों को तौल कर बताया जा सकता है, कि कौन सा ढेर बड़ा है,

उसी प्रकार सुख को भी तौल कर बनाया जा सकता है कि सुख का कौन-सा ढेर बड़ा है।

अपने ही व्यक्तिगत सुखों को एकत्र करके मापा नहीं जा सकता, फिर विभिन्न व्यक्तियों के सुख की माप-तौल करना तो और भी असंभव है। एक ही प्रकार का अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के मन में कम अथवा अधिक सुख उत्पन्न करता है। इससे सब लोगों के सुख का अन्दाज लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(मिल महाशय ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख अपने लिये भला ही होता है, अतएव सभी लोगों का सुख सभी लोगों के लिए भला होगा, अर्थात् वह उनके कल्याण की वस्तु होगी और उसे सभी लोग चाहेंगे। पर वस्तुस्थिति दूसरे ही प्रकार की है। एक मनुष्य का सुख दूसरे के लिए दुःख हो जाता है। मान लीजिये, कि एक साथ काम करने वाले दो व्यक्तियों को एक कारखाने में बराबर वेतन मिलता है। उनके वेतन में, मान लीजिये, वृद्धि हो गयी। एक का वेतन डेढ़ा हो गया और दूसरे का सवाया। यदि हम मिल के सिद्धान्त को मानें, तो दोनों को ही अधिक सुखी होना चाहिए। पर इस प्रकार की वृद्धि से एक अधिक सुखी होता है, और दूसरा दुःखी होता है। संभव है कि दोनों के सुख और दुःख को मिला देने पर दुःख की मात्रा ही अधिक निकले। जब चोर पकड़ा जाता है, तो साहूकार प्रसन्न होता है, और चोर दुःखी। ऐसी स्थिति में चोर के पकड़े जाने के कार्य का मूल्य कैसे आँका जा सकता है।)

सुखवाद के सिद्धान्त की यह मान्यता है कि अपने सुख और दूसरों के सुख में विरोध न हो। पर वास्तव में जो व्यक्ति अपने सुख का विचार रखकर काम करता है, वह दूसरों को सुखी नहीं बना सकता; और जो दूसरों के सुख को ध्यान में रखता है, उसे अपने सुख का त्याग करना पड़ता है। दूसरे के सुख के लिये प्रयत्न करनेवाला व्यक्ति सुखवादी नहीं हो सकता। यदि वह सुख को ही सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु मानता, तो वह अपने लिए ही सबसे अधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता। सुखवाद के सिद्धान्त को त्याग कर ही मनुष्य दूसरों के सुख के लिये यत्न कर सकता है।

अपना सुख एक संवेदना उत्पन्न करने वाली वस्तु है, पर दूसरे का सुख संवेदना नहीं है। दूसरे का सुख मनुष्य का विचार मात्र होता है। यह विचार मनुष्य को संतोष भले ही दे, वह वैसी संवेदनाएँ उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसी अपना सुख उत्पन्न करता है। दूसरे लोगों के सुख के लिये यत्न करने वाला व्यक्ति एक आदर्श के लिये यत्न करता है, न कि सुख के लिये। इस तरह सुखवाद और सब की भलाई के सिद्धान्त में पारस्परिक विरोध है।

कुछ सुखवादी दार्शनिकों ने सब सुखों को एक ही प्रकार का नहीं माना है। स्टुअर्ट मिल महाशय के अनुसार सुख भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। शराबी और वेश्यागामी का सुख जिस प्रकार का है, उसी प्रकार का सुख कवि और दार्शनिक का नहीं है। एक सुख पाशविक अर्थात् तामसिक है, और दूसरा सुख सात्विक है। इस प्रकार सुखों में प्रकार भेद को मानने से सुखवाद का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। यदि सुख भी कई प्रकार के हैं, तो फिर कौन से सुख को नैतिकता का माप-दण्ड बनाया जाय। किसी व्यक्ति के आचरण को एक व्यक्ति एक प्रकार के सुख से नाप सकता है, और दूसरा दूसरे प्रकार के सुख से। दोनों ही कह सकते हैं, कि उनका ही मापदण्ड ठीक है। ऐसी स्थिति में हमें एक दूसरे मापदण्ड की खोज करनी पड़ेगी, जो विभिन्न प्रकार के सुखों में एक को उच्चकोटि और दूसरे को निम्नकोटि का प्रमाणित करे। वास्तव में इस प्रकार का मापदण्ड हमारे विचारों में सदा काम करता है। हम उस सुख को अच्छा कहते हैं, जिससे सब लोगों का कल्याण होता है। इन्द्रिय सुख, जो एक ही व्यक्ति को आनन्द देता है, कभी भी उच्च कोटि का सुख नहीं माना जाता। विवेक और विचार से जो सुख उत्पन्न होता है, उसी को ऊँचा माना जाता है। पर जब हम विवेक और विचार को सुख के ऊँचे और नीचे होने का निर्णायक मान लेते हैं, तो सुखवाद को मापदण्ड मानना छोड़ देते हैं। वह माप-दण्ड कैसा, जिसे स्वयं को प्रमाणित करने के लिए दूसरे मापदण्ड की आवश्यकता हो।

(उपर्युक्त युक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि सुखवाद का सिद्धान्त त्रुटि-पूर्ण है। वास्तव में सुख, चाहे वह एक व्यक्ति का हो अथवा सब का अथवा अधिक-से-अधिक लोगों का, नैतिकता का मापदण्ड नहीं बन सकता। सुख को नैतिकता का मापदण्ड मान लेने से नैतिकता की वृद्धि न होकर उसका

ह्रास ही होता है। सुखवादी अपने तथा अपने राष्ट्र के सुख की वृद्धि करने के लिये बड़े-बड़े संग्राम उपस्थित करते हैं। ये संग्राम सुख की वृद्धि न कर दुख की ही वृद्धि करते हैं। इस प्रकार सुखवाद का अपने आप से ही विरोध हो जाता है। नैतिकता प्राकृतिक जीवन में नहीं, वरन् उसके ऊपर विजय प्राप्त करने में है। इसके लिये आत्म-नियन्त्रण और तप की आवश्यकता होती है।)

अन्तः अनुभूतिवादी सुखवाद

अन्तः अनुभूतिवादी सुखवाद के प्रवर्तक सिजविक महाशय हैं। सिजविक महाशय सुख को संसार की सबसे मूल्यवान् वस्तु मानते थे। परन्तु उन्हें यह भी ज्ञान था कि अपने ही सुख को अपने कार्यों का लक्ष्य बना लेना उचित नहीं। ऐसा करने से समाज में कलह हो जाने की सम्भावना है। प्रत्येक मनुष्य अपना सुख चाहता है; और यदि अपने सुख की प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मान लिया जाय, तो फिर मनुष्यों को अपने सुख के हेतु दूसरों को कष्ट देनेसे रोकने के लिए कोई साधन न रह जायगा। परन्तु सिजविक महाशय यह भी जानते थे, कि स्वार्थ सुखवाद से, परार्थ सुखवाद नहीं निकाला जा सकता है। उन्हें मिल महाशय की तार्किक भूलों का पर्य्याप्त ज्ञान था और उपयोगितावाद के आन्तरिक विरोध को भी वे भली भाँति जानते थे। अतएव एक नये सिद्धान्त के आधार पर ही उन्हें पदार्थ सुखवाद की सिद्धि करनी थी। इसलिए उन्होंने अन्तः अनुभूतिवाद की शरण ली।

सुखवाद की सिद्धि—सिजविक के सिद्धान्त के दो मुख्य अंग हैं—पहला सुख को सबसे मूल्यवान् वस्तु मानना, और दूसरा अपने तथा पराये दोनों के सुख के लिये समान प्रयत्न की आवश्यकता दर्शाना। सिजविक ने इन दोनों बातों को सिद्ध करने के लिए कुशल युक्तियों से काम लिया है। सुख को ही उचित पुरुषार्थ दर्शाने के लिये सिजविक ने निम्नलिखित उक्ति दी है—

मनुष्य अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त करने की सर्वदा चेष्टा किया करता है। इन पदार्थों को प्राप्त करने के प्रयत्न को यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें, तो हम प्रयत्न की वस्तु को भौतिक पदार्थ नहीं, वरन् उस पदार्थ के ज्ञान को पावेंगे। मनुष्य को धन सन्तोष नहीं देता, वरन् अपने पास धन रहने का

ज्ञान सन्तोष देता है। इसी प्रकार किसी भोग्य पदार्थ का ज्ञान ही वास्तविक मूल्यवान् वस्तु है। इस प्रकार हमें अनेक पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। इन पदार्थों का ज्ञान स्वयं मूल्यवान् वस्तु नहीं है, वरन् इन ज्ञानों से उत्पन्न होनेवाला सुख ही मूल्यवान् वस्तु है। जब कोई मनुष्य किसी विषय का चिन्तन करता है, तो वह न बाह्य वस्तु के लिये चिन्तन करता है, और न उस वस्तु के विचार के लिए चिन्तन करता है, वरन् वस्तु के चिन्तन करने से उत्पन्न होने वाले सुख के लिये चिन्तन करता है। विषय स्वयं प्यारा नहीं है, विषय से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिये विषय प्यारा है। इस प्रकार सिजविक महाशय के कथनानुसार मनुष्य सब प्रकार के कामों को सुख के लिये ही करता है। यदि वह किसी विषय का चिन्तन करता है, तो वह सुख के लिये, और यदि वह किसी काम से या उसके चिन्तन से विरत होता है, तो वह सुख के विनाश के कारण। यदि हम इस प्रकार अन्तर्दर्शन के द्वारा यह निश्चय करने की चेष्टा करें कि मानव-जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु क्या है, अर्थात् मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ क्या है, तो हम उसे सुख के अतिरिक्त और कुछ न पावेंगे। इस प्रकार सिजविक ने सुख को स्वतः मूल्यवान् वस्तु सिद्ध किया है। दूसरी वस्तुओं का मूल्य सुख से आँका जाना चाहिए। परन्तु सुख का मूल्य अन्य किसी वस्तु के द्वारा नहीं आँका जा सकता।

व्यावहारिक विवेक का कार्य—सिजविक महाशय के सिद्धान्त का दूसरा अंग अपने और पराये सुख की वृद्धि की एक सी आवश्यकता को सिद्ध करता है। इसके लिए सिजविक महाशय विवेकवाद की शरण लेते हैं। मनुष्य का विवेक अथवा सद्विचार उसे अपने सभी कार्यों में न्याययुक्त होने के लिए प्रेरित करता है। न्याययुक्त होने की प्रेरणा मनुष्य की अन्तः अनुभूति है। इस प्रेरणा को सिजविक ने व्यावहारिक विवेक कहा है। यह व्यावहारिक विवेक[1] एक ओर मनुष्य को अपने और पराये सुख की कीमत एक ही तरह करने के लिए बाध्य करता है, और दूसरी ओर वह भिन्न-भिन्न समय के अपने ही सुख को एक बराबर मूल्य का समझने के लिए बाध्य करता है। जब मनुष्य इस

1. Intuitionistic Hedonism.

व्यावहारिक विवेक की अवहेलना करता है, अर्थात् जब वह अपनी अन्तरात्मा की आवाज के प्रतिकूल काम करता है, तो उसे आत्म-भर्त्सना की अनुभूति होती है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने सुख को अधिक मूल्यवान् मानने और दूसरे के सुख की परवा न करने की होती है। इस प्रवृत्ति का विरोध अन्तरात्मा के न्याय का नियम करता है, अर्थात् मनुष्य की अन्तरात्मा उसे दूसरे व्यक्तियों के सुख की वृद्धि के लिए प्रेरित करती है। इसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति जीवन भर के सुख को भुलाकर क्षणिक सुख की ओर दौड़ने की होती है। इस प्रवृत्ति का विरोध भी मनुष्य की अन्तरात्मा अपने न्याय के द्वारा करती है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने आचरण को नैतिक बनाना चाहता है, उसे अपने और दूसरे लोगों के सुख के लिए समान रूप से प्रयत्न करना आवश्यक होता है। दूसरे, उसे क्षणिक सुख के फेर में न पड़कर जीवन भर रहने वाले सुख के लिए चेष्टा करना पड़ता है।

सिजविक के सिद्धान्त की आलोचना—सिजविक महाशय के सिद्धान्तों में दो विरोधी विचारधाराओं का मिश्रण पाया जाता है। साधारणतः अन्तः अनुभूतिवाद सुखवाद का विरोधी है। अन्तः अनुभूतिवाद में त्याग, तपस्या और 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' करने के सिद्धान्त पर जोर दिया जाता है, और सुखवाद में सुख को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मान लिया जाता है। सिजविक ने एक ओर जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु सुख को बताया और दूसरी ओर इसे सभी में बराबर बाँटने की आवश्यकता को अन्तः अनुभूति के आधार पर सिद्ध किया। इस प्रकार उन्होंने जड़वादी विचारधारा का आध्यात्मवादी विचार-धारा से सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सुखवाद का सिद्धान्त मिल और बेन्थम महाशय का है, और व्यावहारिक विवेक का सिद्धान्त, जिसका आधार मनुष्य की अन्तः अनुभूति है, कांट महाशय का है। इस प्रकार सिजविक के विचारों में मिल और बेन्थम के विचारों का, कांट के विचारों से समन्वय करने के यत्न को हम देखते हैं।

---

1. Practical reason.

परन्तु इस यत्न में आन्तरिक विरोध है। सुखवाद और अन्तः अनुभूतिवाद या विवेकवाद को एक ही सिद्धान्त में ले आना ऊँट और बैल की जोड़ी बनाकर गाड़ी को चलाना है। सुखवाद सुख को ही परम पुरुषार्थ मानता है, और कांट के विवेकवाद का सार सुख-त्याग है। पहले सिद्धान्त में इन्द्रियों की तृप्ति करना भला माना गया है और दूसरे में इन्द्रिय-सुख की इच्छा को अपने आचरण में स्थान देना कर्त्तव्य से च्युत होना बताया गया है। इस प्रकार सुख को परमपुरुषार्थ मान कर कांट महाशय के सिद्धान्त का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। इससे यह निश्चित है कि यह बेमेल तत्त्वों का ऐक्य करना ही एक अनधिकार चेष्टा है।

सुखवाद की आलोचना हम पहले ही कर आए हैं। मनुष्य अपने सभी कामों में सुख की ही खोज नहीं करता है। आधुनिक मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक सुखवाद के सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण मानता है। मनुष्य अपने कामों से आत्म-सन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है, न कि सुख। यह आत्म-सन्तोष कभी सुख की प्राप्ति से होता है, और कभी सुख-त्याग से।

सिजविक ने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, वह ठीक नहीं है। सिजविक ने इस विश्लेषण में वस्तु के विचार और उससे होने वाले सुख में भेद किया है। परन्तु इस प्रकार भेद सम्भव नहीं। किसी भी विचार के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक। रागात्मक पहलू को दूसरे दो पहलुओं से पृथक नहीं किया जा सकता। यह सम्भव नहीं कि हम किसी वस्तु की प्राप्ति के सुख को चाहें और उस वस्तु को न चाहें। इस प्रकार मनुष्य किसी वस्तु के प्राप्त करने की चेष्टा में जो आत्म-संतोष की अनुभूति करता है, वह उस वस्तु के सुख के कारण ही नहीं करता, वरन् उस वस्तु के ज्ञान के कारण भी करता है। मनुष्य को संतोष देने वाली वस्तु उसका स्वत्व ही है। मनुष्य की इच्छाएँ उसका स्वत्व बन जाती हैं। उसे तब तक आत्म-सन्तोष नहीं होता, जब तक कि वह अपने संतोष को ऊँचा-से-ऊँचा नहीं देख लेता। मनुष्य के पाशविक स्वत्व के लिए सुख की आवश्यकता है; परन्तु उसका विवेकी स्वत्व अपने आपको पूर्ण अथवा वृहद देखना चाहता है। अपनी पूर्णता का ज्ञान ही मनुष्य को संतोष देता है। यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। सिजविक ने सुख को सर्वोत्कृष्ट पदार्थ सिद्ध करके वही भूल की है, जो सुखवादियों

ने अथवा उपयोगितावादियों ने की है। उन्होंने अपने आप को तार्किक भूलों से बचाने की चेष्टा की है, पर वे अपने आप को मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक भूलों से बचा न सके।

सिजविक ने व्यावहारिक विवेक के दो अंग बताए हैं। व्यावहारिक विवेक मनुष्य को अपने और पराये सुख को एक ही दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करता है। परन्तु इस प्रकार की प्रेरणा वास्तविक है या कोरी कल्पना मात्र, यह नहीं सिद्ध किया गया है। फिर अपने और पराये सुख में सदा विरोध रहता है। जिस व्यक्ति को अपने सुख की चिन्ता का अभ्यास रहता है, उसमें दूसरे के सुख की परवाह करने की योग्यता नहीं रहती, और जो व्यक्ति दूसरे लोगों की सुख-वृद्धि करने का अभ्यास करता है, उसे अपने सुख की परवाह नहीं रहती। वास्तव में ऐसा ही व्यक्ति दूसरे लोगों की सुख-वृद्धि की परवाह करता है, जो शारीरिक सुख को सुख समझता ही नहीं। अपने और दूसरों के सुख की प्राप्ति की चेष्टा समान रूप से करना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार अपने एक समय के सुख और जीवन भर के सुख के बीच न्याय के नियम को बर्तना सम्भव नहीं। सुख की कीमत करने वाला व्यक्ति प्रायः वर्तमान सुख को ही मूल्यवान मानता है, उसे भावी सुख की परवाह नहीं रहती। जिस तरह पराये सुख का विचार सुख नहीं है, उसी प्रकार भावी सुख का विचार भी सुख नहीं है। यदि पराये अथवा भावी सुख के विचार अपने और वर्तमान सुख के उपभोग से हमें रोकते हैं, तो इस रोकने की प्रक्रिया से सुखवाद की सिद्धि नहीं होती, वरन् उसका खंडन ही होता है। सच्चा सुखवादी वर्तमान काल के अपने ही सुख की सबसे अधिक कीमत करता है। जब वह दूसरों के सुख की परवाह करने लगता है, तथा अपने जीवन भर सुखी रहने का विचार मन में लाता है, तो वह सुखवादी नहीं रह जाता; बल्कि विवेकवादी बन जाता है।

इस प्रकार सिजविक ने अन्तः अनुभूति अथवा विवेकवाद को सुखवाद के सिद्धान्तों से मिलाकर सुखवाद का पक्ष पुष्ट न करके उसके आधार-स्तम्भ को ही गिरा दिया है।

प्रश्न

१. नैतिक सुखवाद क्या है ? मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में क्या भेद है।

२. स्वार्थ सुखवाद और परार्थ सुखवाद में क्या भेद है ? इस प्रसंग में ईपीक्यूरस महाशय के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उसे स्पष्ट कीजिये।

३. परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? बेन्थम महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिये और मिल के विचारों से उनकी तुलना कीजिये।

४. "सुखवाद मनुष्य को सुखी न बनाकर दुःखी ही बनायेगा"—यह कथन कहाँ तक सत्य है ? इस विषय में ग्रीन महाशय की युक्तियों को स्पष्ट कीजिये।

५. मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार कहाँ तक बन सकता है ? क्या यह कहना ठीक है कि यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सत्य है, तो नैतिक सुखवाद को अवश्य ही मिथ्या होना चाहिये।

६. सिजविक महाशय के सुखवाद की विशेषता क्या है ? मनुष्य का व्यावहारिक विवेक उसके कर्त्तव्य के निर्णय में कहाँ तक काम करता है ?

—*—

तेरहवाँ प्रकरण

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद का सिद्धान्त—प्रकृतिवाद नैतिकता का एक पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक जीवन ही भला जीवन है, और अप्राकृतिक जीवन ही बुरा है। जो आचरण प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है, उसे हमें भला आचरण कहना चाहिए, और जो उन नियमों की अवहेलना करता है, उसे हमें बुरा आचरण अर्थात् अनैतिक आचरण कहना चाहिए। जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को भी प्रकृति के नियमों का पालन करना उचित है। मनुष्य यदि प्रकृति से अपने कर्त्तव्य के विषय में शिक्षा नहीं लेता, तो उसे सन्मार्ग मिलना कठिन है। मनुष्य के मन में अपने कर्त्तव्य के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें उठती हैं, पर इन कल्पनाओं का कोई ठोस आधार नहीं रहता। प्रकृति की क्रियायें प्रत्यक्ष हैं। इन्हें आधार मानकर हम किसी निश्चित मत पर पहुँच सकते हैं, और अपने जीवन के लिए उचित मार्ग निकाल सकते हैं।

प्रकृतिवाद की आवश्यकता—प्रकृतिवाद रूढ़वाद का विरोधी है। साधारणतः मनुष्य अपने धर्माधर्म का निर्णय धार्मिक पुस्तकों से करते हैं, इन धार्मिक पुस्तकों में किसी महान् पुरुष की कही हुई बातें लिखी रहती हैं। दूसरे लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार इनमें परिवर्तन कर देते हैं। कभी-कभी धर्म-पुस्तकों के उपदेश, देश और काल के प्रतिकूल होते हैं। महान् पुरुषों ने जो उपदेश दिए थे, वे उस समय के लिए उपयुक्त थे, और वे किसी विशेष देश के लोगों के लिए दिए गए थे। पर उनके धर्मोपदेशों का प्रचार अनेक देशों में हो गया है, और अब समय भी बदल गया

है। अतएव उनके बहुत से उपदेश देश और काल के उपयुक्त नहीं हैं, पर धर्म के पुरोहित उनके उपदेशों पर लोगों की श्रद्धा बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। इसलिए वे धर्म पुस्तकों पर अनेक प्रकार की टीकायें और वार्तायें लिखते हैं। इस प्रकार पुराने पैगम्बरों के कहे हुए थोड़े से सीधे-सादे वाक्य बड़ी-बड़ी पोथियों का रूप धारण कर लेते हैं। जब कभी मनुष्य को धर्म का निर्णय करना पड़ता है, तो उसे धर्म के इन पुरोहितों की शरण लेनी पड़ती है। ये लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय अपनी पोथियों के आधार पर करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वतन्त्र-चिन्तन की शक्ति को खो देता है।

धर्म पुस्तकों में कहे गये उपदेशों में विरोध होते हैं। दुनियाँ में कई धर्म हैं, और उनकी धर्म-पुस्तकें विभिन्न प्रकार की बातों को धर्म बताती हैं। जब दो धर्म-पुस्तकों की बातों में विरोध हो, तो सत्-असत् का निर्णय कैसे किया जाय? मनुष्य धर्म-पुस्तकों को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर अनेक प्रकार के अत्याचार करता है, और बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ भी लड़ता है। इससे जीवन सुखी न होकर दुःखी ही होता है। विज्ञान-युग के पूर्व यूरोप में ईसाई धर्म का खूब प्रचार था। सभी लोग पादरियों को देवता के समान पूजते और उनकी बातों को बिना किसी नुक्ताचीनी के मानते थे। लोगों की इस मानसिक स्थिति से पादरियों ने लाभ उठाया। उन्होंने अपने जीवन को खूब विलासी बना लिया और रुपए इकट्ठा करने के लिये वे स्वर्ग के टिकट बेचने लगे। जो कोई उनके आचरण की नुक्ताचीनी करता था, वे उसके प्राण ले डालते थे। स्वतन्त्र चिन्तन करने वाला अधर्मी समझा जाता था, और धर्म पर किसी प्रकार आक्षेप करने वाले अथवा बाइबिल में लिखी बातों के प्रतिकूल किसी सत्य को दर्शाने वाले व्यक्ति को वे जिन्दा ही जला डालते थे। इस प्रकार धर्म के नाते सत्य का गला घोंटा जाता था। स्वतन्त्र चिन्तन पाप समझा जाता था। जिस प्रकार हमारे पण्डे और पुरोहित शास्त्र के विरुद्ध किसी बात को सह नहीं सकते और स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले व्यक्ति का दमन करते हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप में पादरी लोग बाइबिल के विरुद्ध किसी भी सिद्धान्त का प्रचार होने नहीं देते थे। जो ऐसे सिद्धान्त अथवा मत का प्रचार करता था, उसका वे दमन करते थे। सारे यूरोप में रूढ़िवाद फैला हुआ था।

इसके कारण समाज के कुछ लोग सुख और आराम से रहते थे। और बाकी लोग पादरी और जमींदारों की गुलामी किया करते थे। वे इसी को अपना धर्म समझते थे।

उक्त सामाजिक स्थिति को बदलने के लिए ही प्रकृतिवाद का प्रचार हुआ। प्रकृतिवाद पुरानी रूढ़ियों और विचार परम्पराओं की आलोचना करता है। प्रकृतिवाद मनुष्य की बुद्धि को आप्त-वचन, परम्परागत विचार तथा धर्म पुस्तकों के बन्धन से मुक्त करने की चेष्टा करता है। प्रकृतिवादी विश्वास करता है, कि जिस प्रकार पुराने लोग अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सके, उसी प्रकार हम भी अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सकते हैं। यदि कोई एक व्यक्ति कर्त्तव्य-पथ को जान लेता है, तो हम भी अपने कर्त्तव्य-पथ को जान सकते हैं, हमें उसकी मानसिक गुलामी करने की आवश्यकता क्या है? प्रकृतिवादी पुस्तकों को गुरु न बनाकर प्रकृति को ही अपना गुरु बनाता है। मनुष्य सड़ी-पुरानी विचारधारा में पड़कर मरता रहता है, उसे इससे मुक्त करना प्रकृतिवाद का उद्देश्य है। प्रकृति सदा नये विचार उत्पन्न करती है, और मनुष्य को उचित और अनुचित का ज्ञान कराती रहती है।

प्रकृतिवादी उसी सत्य को सच्चा मानता है, जो अनुभव-गम्य है। वह किसी के कहे हुए सत्य को नहीं मानता। यदि कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति कोई बात कहे, तो प्रकृतिवाद के अनुसार उसकी प्रामाणिकता का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभव के आधार पर करना चाहिए। कोई बात, चाहे वह कितने ही विद्वान व्यक्ति अथवा धर्म-ग्रन्थ की कही हुई क्यों न हो—और उसको कितने ही लोग क्यों न मानते हों, यदि वह अपने अनुभव में सत्य नहीं उतरती, तो उसे कदापि न मानना चाहिये।

प्रकृतिवाद के प्रकार—सुखवाद के समान प्रकृतिवाद कई मतों का सूचक शब्द बन गया है। इसके अन्तर्गत कई विरोधी सिद्धान्तों का समावेश होता है। कुछ प्रकृतिवादी विवेकवादी[1] (सदविचारवादी) हैं, जो चैतन्यसत्ता को संसार का तत्व अथवा संचालनकर्त्ता मानते हैं; और कुछ प्रकृतिवादी जड़वादी[2] हैं,

---

1. Rationalistic. 2. Materialistic.

जिन्हें चैतन्य सत्ता के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं है। प्राचीन समय के कुछ यूनानी दार्शनिक अपने आपको प्रकृतिवादी कहते थे, पर वे चेतन सत्ता को जगत् का तत्त्व और उसकी क्रियाओं का संचालन करने वाला मानते थे। इस तरह स्टोइक मत के प्रवर्तक जेनो महाशय अपने मत को प्रकृतिवाद अथवा स्वभाववाद कहते थे। पर उनके कथनानुसार संसार की सभी क्रियाओं का संचालन-विश्वव्यापी विवेक के द्वारा अर्थात् चेतन सत्ता के द्वारा होता है। यही चेतन सत्ता हमारे मन में भी विचार के रूप में काम करती है। जब हम विवेक से काम लेते हैं, तो हम इस चेतन सत्ता से अपना एकत्व स्थापित करते हैं। जिस प्रकार सामष्टिक विवेक सारे जगत का संचालन करता है, उसी प्रकार अपनी क्रियाओं को भी विवेक के द्वारा संचालित करने से समष्टि के साथ हमारी एकता स्थापित होती है। इस एकता को ध्यान में रखकर आचरण करना ही प्राकृतिक आचरण करना है। जो मनुष्य अपने आप को किसी प्रकार के प्रलोभनों में डालकर अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करता है, वह अप्राकृतिकता को चरितार्थ करता है।

अपने आप पर सम्पूर्ण नियन्त्रण रखने में ही विवेकशीलता है। इस प्रकार के नियन्त्रण की योग्यता प्राप्त करने के पूर्व मानसिक अभ्यास (ट्रेनिंग) की आवश्यकता है। यह अभ्यास अपनी इन्द्रियों को वश में लाने का अभ्यास है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने में अभ्यस्त नहीं है, वह समय आने पर प्रलोभनों और मानसिक वेगों के विरुद्ध काम नहीं कर सकता। ये उसके विवेक को बेठिकाने कर देते हैं। अतएव धर्म-संकट के समय उचित काम कर सकने की योग्यता प्राप्त करने के लिए और इन्द्रियों को वश में रखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। यह अभ्यास कठोर जीवन-यापन का अभ्यास है। आराम से रहने वाले लोग अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। जिसे जितेन्द्रिय होना है, उसे तप और त्याग के अभ्यास की आवश्यकता है। उसे अनेक प्रकार के व्रत और उपवास करने पड़ेंगे। इस तरह स्टोइक मत के अनुसार इन्द्रियनिग्रह का जीवन ही प्राकृतिक जीवन है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी है, और भूख तथा शीतोष्ण को सह सकता है, वह

प्रकृतिवाद को अपने जीवन में उतना ही चरितार्थ करता है । स्टोइक मत में विवेकवाद और प्रकृतिवाद का एकत्व है ।

दैविक प्रकृतिवाद[1]—आधुनिक युग के आरम्भ में यूरोप में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त का प्रवर्तन फ्रान्स के क्रान्तिकारी विद्वान् जेकीस रूसो महाशय ने किया । रूसो महाशय जड़वादी नहीं थे । वे चैतन्य सत्ता के अस्तित्व में विश्वास करते थे । पर वे समाज की रूढ़ियों और उसमें प्रचलित रूढ़िवादी धर्म के विरोधी थे । वे उनका उन्मूलन करना चाहते थे । वे कृत्रिमता को हटाकर स्वाभाविकता को मनुष्य के जीवन में लाना चाहते थे । उन्होंने स्वाभाविक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया । इस स्वाभाविक धर्म को हम पुस्तकों तथा समाज के रूढ़िवादी विचारों से न सीखकर प्रकृति देवी से सीखते हैं । रूसो महाशय के कथनानुसार प्रत्येक वस्तु, सृष्टिकर्त्ता के हाथों से आने के कारण, सुन्दर होती है, और वह मनुष्य के हाथ में आकर ही भ्रष्ट होती है।* अतएव भला आचरण वही है, जो प्राकृतिक है, और जिसमें किसी प्रकार की झूठ और कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं है । यदि मनुष्य अपने ऊपर आप को निर्भर कर दे, तो वह अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों और पापों से मुक्त रहेगा । सभ्यता मनुष्य को चतुर और चालाक बनाती है, वह उसे भला नहीं बनाती । भला बनने के लिए मनुष्य को प्रकृति-देवी की शरण लेनी चाहिये ।

जड़वादी प्रकृतिवाद—उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रकृतिवाद से भिन्न जड़वादी प्रकृतिवाद है । जड़वादी प्रकृतिवाद के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रवर्त्तक इंगलैंड के दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर महाशय हैं । अब प्रकृतिवाद का जो रूप उन्होंने दिया, उसे प्रकृतिवाद का वास्तविक रूप माना जाता है । अतएव प्रकृतिवाद के सिद्धान्त को समुचित रूप से जानने के लिए हरबर्ट स्पेन्सर महाशय के विचारों की मुख्य बातों को समझना आवश्यक है ।

---

1. Spritualistic naturalism.

*"Every thing is beautiful as it comes from the hands of the Author of things: every thing corrupts in the hands of man".—

Emile

जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार

जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार जीवन-विज्ञान के वे सिद्धान्त हैं, जिनका अन्वेषण श्रीडार्विने महाशय ने किया है। डार्विन के अनुसार प्राणियों के जीवन के विकास में निम्नलिखित चार क्रियायें काम करती हैं।

(१) जीवन के लिए युद्ध[1]
(२) आकस्मिक नवीनता का उदय[2]
(३) प्राकृतिक चुनाव[3]
(४) वंशानुक्रम द्वारा प्रसार[4]

संसार में अनेक प्राणी हैं। वे अपनी सन्तानों की उत्पत्ति करते रहते हैं। थोड़े ही समय में ये इतने बढ़ जाते हैं, कि उनके लिए भोजन की कमी हो जाती है। ऐसी अवस्था में उनमें भोजन के लिए आपस में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस युद्ध में एक प्राणी दूसरे से भोजन छीनने की चेष्टा करता है, उस पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है, अथवा उसे नष्ट कर डालता है। प्राणी का सांसारिक जीवन ही एक संग्राम है। इसमें बलवान प्राणी निर्बल को सदा नष्ट करते रहते हैं, और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं।

जीवन की लड़ाई करते समय एक ही प्रकार के प्राणियों में कुछ नवीनता आती है, अर्थात् नये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इनका उत्पन्न होना आकस्मिक होता है। यदि ये नये गुण उस प्राणी के जीवन-संग्राम में सहायक हुए, तो वह प्राणी बच जाता है। वह दूसरे प्राणियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। पर कभी-कभी किसी जाति के प्राणियों में ऐसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जो उन्हें जीवन-संग्राम में सहायता न देकर उनके विनाश का कारण बन जाते हैं। जिन प्राणियों में जीवन-संग्राम में सहायता देने वाले गुणों का विकास हो जाता है, वे बच जाते हैं। उनका बच जाना ही प्राकृतिक चुनाव कहलाता है।

---

1. Struggle for Existence. 2. Chance variation.
3. Natural Selection. 4. Transmission through heredity.

प्राणी के अच्छे गुण वे कहे जायंगे, जो संग्राम में उसके सहायक हों, अर्थात् जिनके कारण वह संसार में अपना जीवन सुरक्षित रख सके; और बुरे गुण वे कहलायेंगे, जिनके कारण उसका विनाश हो।

प्राकृतिक चुनाव में वे प्राणी बच जाते हैं, जिनमें प्राकृतिक वातावरण के अनुसार अपने आप को बना लेने की योग्यता होती है, अर्थात् जिनमें ऐसे गुण हैं, जिससे वे बदलते हुए प्रकृति के वातावरण के अनुसार अपने आचरण को बना लेते हैं। जिन प्राणियों में यह गुण नहीं होता, वे नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति किसी प्राणी के प्रति दया नहीं करती, वह सदा योग्य प्राणी की रक्षा करती है, और अयोग्य लोगों को संसार से निकाल बाहर करती है। योग्य प्राणी वह है, जो प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करता है, अर्थात् जो अपने आप को अपने वातावरण के अनुसार परिवर्तित करता रहता है।

प्राकृतिक चुनाव होने पर जो प्राणी बच जाते हैं, उनकी सन्तान ही संसार में रहती है। वंशानुक्रम के अनुसार योग्य प्राणियों की संतान संसार में समृद्ध होती है, अर्थात् ससार में बच रहनेवाले प्राणी वे हैं, जिनके पूर्वज अपने आप को प्राकृतिक वातावरण के अनुसार बनाने में समर्थ हुए।

मानव समाज के विकास का प्राकृतिक क्रम—उस प्राकृतिक जीवन-विकास के नियम को जब हम मानव समाज के विकास में घटित करके देखते हैं, तो उसकी सत्यता बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। मानव समाज में वे लोग ही उन्नति करते हुए दिखाई देते हैं, जिनमें कुछ ऐसे गुण हैं, जिससे वे दूसरे मनुष्यों से जीवन संग्राम में विजय प्राप्त कर सकें, और अपने आप को वातावरण के अनुसार बना सकें। जिन लोगों में मानसिक जड़ता रहती है, और जो इसके कारण रूढ़िवादी बने रहते हैं, वे वातावरण के अनुसार बना लेनेवाले व्यक्तियों के विरुद्ध जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो लोग सदा किसी नई बात की खोज में रहते हैं, और किसी भी प्रकार के नये आविष्कार से लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं, वे जीवन-संग्राम में सफल होते हैं। पुराने समय में लोग तीर, तलवार, भाले आदि से लड़ते थे। जब बारूद का आविष्कार हुआ, तो जिन लोगों ने इससे पहले-पहल लाभ उठाया, वे दूसरे लोगों पर सरलता से विजय प्राप्त कर सके। उसी प्रकार आधुनिक काल में केवल शूर-वीरता पर

भरोसा करनेवाले व्यक्ति विजयी नहीं होते। जो लोग चतुराई से काम लेते हैं, और वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाते हैं, वे ही विजयी होते हैं। पहले पहल अमेरिका ने एटमबम (अणुबम) बनाया, अतएव वह सरलता से जापान पर विजय प्राप्त कर सका।

मनुष्य केवल वैज्ञानिक आविष्कारों से ही नहीं, बल्कि नये प्रकार के सामाजिक विचारों से भी बली होता है। जो लोग नये विचारों का स्वागत करते हैं, और योग्य विचारों के अनुसार अपने सामाजिक रीति-रिवाजों में परिवर्तन करते रहते हैं, वे जीवित रहते हैं और अनेक प्रकार की उन्नति करते हैं। इसके प्रतिकूल रूढ़िवादी लोग सदा अवनत रहते और दूसरों के गुलाम हो जाते हैं। पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि प्रत्येक प्रकार की नवीनता कल्याण-कारी नहीं होती। प्रकृतिवाद के अनुसार वह नवीनता भली है, जिससे मनुष्य को प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त हो, अर्थात् जिससे मनुष्य अपने आप को वाता-वरण के अनुसार बनाने में समर्थ हो।

स्पेन्सर महाशय का प्रकृतिवाद

सुखवाद की आलोचना—स्पेन्सर महाशय के प्रकृतिवाद का प्रधान आधार डार्विन महाशय के जीवन-विकास का प्राकृतिक सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त सुखवाद के सिद्धान्त से भी उन्होंने अपने विचार का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सुखवाद की समालोचना करते हुए हरबर्ट स्पेन्सर महा-शय कहते हैं, कि सुख के मापने का कोई मापदण्ड नहीं हो सकता। किसी क्रिया में किसी व्यक्ति को कम और किसी को अधिक सुख मिलता है। फिर सब के सुख को जोड़ना भी कठिन है। सुख व्यक्तिगत अनुभव है, इसके द्वारा आचरण की भलाई और बुराई का अन्दाज कैसे लगाया जा सकता है? स्पेन्सर महाशय के विचारानुसार आचरण की भलाई और बुराई प्रत्यक्षरूप से दिखाई देनी चाहिए, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति किसी भी आचरण को देखकर यह कह सके, कि वह भला है अथवा बुरा। इसके लिये हमें प्राकृतिक परिणाम पर विचार करना होगा।

प्रकृतिवाद का नैतिक आदर्श—प्रकृतिवाद के अनुसार वह आचरण

भला है, जिससे मनुष्य को जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त होती है। हरबर्ट स्पेन्सर ने "सम्पूर्ण जीवन"[1] को मनुष्य के आचरण का आदर्श निश्चित किया है। जीवन की सम्पूर्णता अपने आपको वातावरण के अनुसार बनाने से प्राप्त होती है। वातावरण के अनुसार आचरण करना ही भला है, और उसके प्रतिकूल आचरण बुरा है, क्योंकि इससे जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति तो दूर रही, उसके अन्त हो जाने की ही सम्भावना है। जिस प्रकार हम चींटी के भोजन इकट्ठा करने के उद्योग को भला कहते हैं, क्योंकि इससे उसके प्राण की रक्षा होती है, उसी प्रकार हम मनुष्य के उस उद्योग को भला कहेंगे, जिससे उसके प्राण की रक्षा हो और जिससे वह अधिक-से-अधिक काम कर सके।

सम्पूर्णता का माप, जीवन की लम्बाई और चौड़ाई—जीवन की सम्पूर्णता दो प्रकार से मापी जाती है, एक जीवन की लम्बाई, और दूसरी उसकी चौड़ाई से। जीवन की लम्बाई आयु से जानी जाती है। अच्छा कार्य वह है, जिससे मनुष्य दीर्घजीवी हो। जिस प्रकार के आचरण से मनुष्य अल्पायु हो जाता है, वह आचरण बुरा है। नैतिकता के माप के लिये वैयक्तिक जीवन को ही नहीं बल्कि, पूरे समाज के जीवन को ध्यान में रखना चाहिए।

जीवन की चौड़ाई जीवनोपयोगी कार्यों की संख्या से मापी जाती है। कितने ही लोग सौ वर्ष तक जीते हैं; पर संसार में कोई महत्व का काम नहीं करते। उन्हें दुनियाँ के अधिक लोग जानते भी नहीं। कुछ लोग तीस-पैंतीस वर्ष ही जीते हैं; पर वे बड़े-बड़े महत्व के कार्य कर जाते हैं। वे जितने काल तक जीते हैं, सदा किसी-न-किसी महान् कार्य में लगे रहते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार दूसरे प्रकार के लोग पहले प्रकार के लोगों से उच्चकोटि के हैं। नैतिक दृष्टि से उनका आचरण अच्छा माना जायगा। जो व्यक्ति अपने जीवन में जितना ही अधिक जीवनोपयोगी क्रियायें करता है, वह उतना ही उच्चकोटि का व्यक्ति है, उसका आचरण उतना ही अच्छा है।

सुखवाद का स्थान—किसी भी प्रकार के आचरण की नैतिकता उस आचरण में सुख की उत्पत्ति से ज्ञात होती है, और जीवन को विनाश करनेवाली क्रियायें दुखदाई होती हैं। जब हम दूध पीते हैं, तो सुख की अनुभूति

1. Complete Living.

करते हैं, जब सड़े-गले फल को खा लेते हैं, तो दुःख का अनुभव करते हैं। मित्रों से मिलना, भोज में शामिल होना, अथवा विवाह करना सभी को अच्छा लगता है। अकेले रहना, लड़ना-झगड़ना और कष्ट सहना बुरा लगता है। पहले प्रकार की क्रियायें जीवनोपयोगी हैं, और दूसरे प्रकार की जीवन-विनाशक। इस प्रकार हम देखते हैं, कि जीवनोपयोगी कार्यों में सुख और दुःख को आचरण की भलाई और बुराई का मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। कभी-कभी सुख देने वाले काम जीवन के लिये हितकर नहीं होते, और कभी-कभी कष्टदायक काम जीवन के लिये उपयोगी होते हैं। विलासिता, शराबखोरी आदि से सुख होता है, पर इनसे जीवन का विनाश होता है। इसी तरह बीमारी की अवस्था में कड़वी दवा पीने से कष्ट होता है, पर यह कार्य जीवनोपयोगी है। सुख और जीवनोपयोगी क्रियाओं में इस प्रकार का वैषम्य संसार की अपूर्णता के कारण पाया जाता है। स्पेन्सर महाशय एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना भी करते हैं, जब सभी जीवनोपयोगी क्रियायें सुखदाई और जीवन को हानि पहुँचाने वाली सभी क्रियायें दुःखदाई होंगी। हमारी वर्तमान अवस्था में सुख को भले काम अथवा जीवनोपयोगी कार्यों का संकेत मात्र माना जा सकता है, सुख को आचरण की भलाई अथवा बुराई का माप नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिवाद के मापदंड का उपयोग—स्पेन्सर के मापदंड के अनुसार झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना आदि काम इसलिये बुरे हैं, कि इनसे मनुष्य के जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति में बाधा होती है। पहले तो उसके जीवन का अन्त शीघ्र हो जाने की सम्भावना रहती है, और दूसरे जीवन में इन कामों के कारण मनुष्य अपने आप को समाज से बहिष्कृत करा लेता है, और इसके कारण वह अपने जीवन को उतना विकसित नहीं कर पाता, जितना अन्यथा वह कर सकता है। सत्य भाषण, न्यायोचित कार्य और संयम जीवन को आयु प्रदान करते हैं, और उसे समाज के लिये अधिक उपयोगी बनाते हैं, इसीलिए ये काम भले काम हैं। स्पेन्सर महाशय तप और त्याग, एकान्तवास तथा अविवाहित जीवन को भला जीवन नहीं कहेंगे, क्योंकि इस प्रकार के कामों से व्यक्ति अपने आपको निकम्मा बनाता है, और जीवनोपयोगी क्रियाओं से अपने आपको वंचित करता है। जिस बात से मनुष्य की क्रिया-

शीलता में बाधा पड़ती है, स्पेन्सर महाशय के अनुसार वह अनैतिक और त्याज्य है। वही काम भला है, जिससे मनुष्य की कार्यशीलता को प्रोत्साहन मिले।

प्रकृतिवाद की आलोचना

प्राकृतिक और नैतिक आचरण में भेद—प्राकृतिक आचरण को भला आचरण मानना प्रकृतिवाद का मूल सिद्धान्त है। जिस प्रकार निम्न वर्ग के प्राणियों के आचरण की अच्छाई और बुराई उनकी प्रकृति के अनुसार मापी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के आचरण को प्रकृति के अनुसार चलने से मापा गया है। वातावरण के अनुसार कार्यशीलता को भला और वातावरण के विरुद्ध चलने को प्रकृतिवाद में बुरा माना गया है। प्रकृतिवाद का यह मूल सिद्धान्त दोषपूर्ण है। यदि इस सिद्धान्त को हम मान लें, तो मनुष्य का नैसर्गिक आचरण आदर्श आचरण होगा। फिर किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा की आवश्यकता ही क्या रहेगी? प्रत्येक प्राणी वातावरण की अनुकूलता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसके लिए नैतिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे दूसरे प्राणी जीवन के संग्राम में काम करते हैं, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी काम करे, तो वह भी दूसरे प्राणियों के समान पशुवर्ग में होगा। मनुष्य विवेकशील प्राणी है; विवेक मनुष्य की विशेषता है, और इस विवेक का सबसे महत्व का कार्य धर्म और अधर्म के निर्णय में देखा जाता है। दूसरे प्राणियों में विवेक-शक्ति नहीं होती है, अतएव प्रकृति उनको जैसा काम करने के लिये प्रेरित करती है, वे वैसा ही काम करने लगते हैं। उनके जीवन में सुख-दुःख विनियमन का नियम काम करता है, अर्थात् सुखदायी कामों को वे करते हैं और दुःखदायी कामों से अपने आपको बचाते हैं। मनुष्य में इस प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल आचरण करने की क्षमता है। वह जिस काम को भला समझता है, उसे कर सकता है, चाहे उसमें उसे कितना ही कष्ट क्यों न हो और उसके प्राण का अन्त ही क्यों न हो जाय। वातावरण की अनुकूलता की प्राप्ति को मनुष्य का नैतिक आदर्श मान लेना, उसे विवेकशीलता से गिराना और पशुवत् बनाना है।

चरित्र विकास के प्रतिकूल—वातावरण की अनुकूलता की प्राप्ति करना स्वाभाविक है। इसमें मनुष्य को अपने विवेक अथवा इच्छाशक्ति से काम

नहीं लेना पड़ता। मनुष्य में मानसिक दृढ़ता तभी आती है, जब उसे वातावरण के प्रतिकूल आचारण करना पड़ता है। जिस मनुष्य को वातावरण के प्रतिकूल आचारण करने का जितना अधिक अभ्यास है, उसकी इच्छाशक्ति और चरित्र उतने ही दृढ़ होते हैं। यदि पशु-जीवन ही मानव-जीवन का आदर्श बन जाय, तो मनुष्य और पशु में भेद ही क्या रहेगा? और जब यह भेद नहीं है, तो मनुष्य को कर्तव्य शास्त्र या नैतिकता के विचार की आवश्यकता क्या होगी?

पाशविक जीवन का नियम है, कि उनमें जो शक्तिशाली होता है, वह दूसरों को अपने नियन्त्रण में कर लेता है। यदि निर्बल को बली पशु मार डाले, तो इसे बुरा नहीं समझा जाता, क्योंकि उसके लिए यह स्वाभाविक है। पशु अपने पुत्र अथवा बूढ़े माता-पिता की सेवा करते हुए नहीं देखे जाते, पर मनुष्य-जीवन में निर्बलों को नष्ट करने की चेष्टा न करना, अपने आश्रित सम्बन्धियों की सहायता और सेवा करना भला माना जाता है। इस प्रकार का आचरण प्राकृतिक आचरण नहीं, अपितु सांस्कृतिक विकास का परिणाम है। मनुष्य में अपने स्वार्थ के प्रतिकूल काम करने की योग्यता है। वह अपने स्वार्थ को अपने विवेक के नियन्त्रण में रख सकता है, और जिस काम को वह भला समझता है, उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है। यह क्षमता पशुओं में नहीं है। उनमें विचार करने की शक्ति ही नहीं, तब भले और बुरे का विवेक उनमें कैसे आ सकता है। पशु भोगेच्छु होता है, और वह इसके परे नहीं जा सकता। मनुष्य भी भोगेच्छु होता है, पर वह अपनी भोगेच्छाओं के परे जा सकता है। वह अपनी इच्छाओं को अपने विवेक के नियन्त्रण में रख सकता है। वह भयावनी स्थिति में निडर हो सकता है, और अपने काम और क्रोध के आवेशों को रोक सकता है। अतएव मानव-स्वभाव की समानता पशु-स्वभाव से नहीं की जा सकती और मनुष्य के आचरण का आदर्श वह नहीं बनाया जा सकता, जो पशु के आचरण का है।

क्रियावाद और नैतिकता का ऐक्य—हरबर्ट स्पेन्सर महाशय के कथनानुसार वह जीवन भला है, जिसमें जीवन को प्रकाशित करनेवाली अधिक-से-अधिक क्रियायें होती हों। अर्थात् हरबर्ट स्पेन्सर महाशय क्रियाओं की भलाई और बुराई का माप क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। पर यह सम्भव है,

कि जो व्यक्ति अपने जीवन भर में क्षणभर भी निकम्मा नहीं रहता, वह गुमराह हो। उसके काम से अन्त में संसार का कल्याण न होकर उसका विनाश हो। नेपोलियन और हिटलर के जीवन में सदा क्रियाओं की वृद्धि देखी जाती थी। जितने काम इन लोगों ने किये, उतने उनके समकालीन किसी व्यक्ति ने नहीं किये। पर तिस भर भी उनके जीवन को हम सफल जीवन नहीं कहते। इसका कारण यह नहीं, कि उनके जीवन में क्रियाओं की कमी पाई जाती है, वरन् उनके काम का समाज के लिये अकल्याणकारी होना है। नेपोलियन और हिटलर ने अपने जीवन में एक प्रकार से प्रकृतिवाद के नियम को ही चरितार्थ किया है। वे बलवान होकर संसार पर शासन करना चाहते थे। यह एक स्वाभाविक इच्छा है, और प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार है। पर इसी इच्छा ने उनका विनाश कर डाला। प्रकृतिवाद के मानने से सभी लोगों की मति उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार की मति उक्त दो तानाशाहों की थी, और फिर वे अपने आचरण में दूसरों के हित की चिन्ता न करके, अपने आपको ही सबसे उन्नतिशील बनाने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार प्रकृतिवाद का प्रचार मानव-समाज का विनाशक है। क्रियाओं की भलाई और बुराई का मापदण्ड हमें क्रियाओं के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व को मानना पड़ेगा। वे ही क्रियायें भली हैं, जो मनुष्य के निश्चित आदर्श के अनुसार हों। जिन क्रियाओं में लक्ष्य का ध्यान नहीं, वे भली नहीं कही जा सकतीं। ऐसी क्रियाओं से अपने आपको रोकना ही नैतिकता का पालन करना है। अस्तु, हर स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता, कि क्रियाओं को न करने वाला व्यक्ति क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति से निम्नकोटि का है। लोक कल्याण की क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति को ही हम ऐसी क्रियाओं के न करनेवाले व्यक्ति से भला कह सकते हैं।

आध्यात्मिक प्रयत्न की अवहेलना—कितने ही लोगों के जीवन में देखा जाता है, कि बाह्य क्रियायें बहुत कम होती हैं, पर उनका आन्तरिक जीवन बड़े ही उच्च कोटि का होता है। कितने ही दार्शनिकों के जीवन में कोई भी विशेष महत्व की घटना घटित नहीं होती। उनके विचार भी कभी-कभी दूसरे ही व्यक्ति लिखते हैं। पर तो भी हम उनके जीवन को उच्च स्तर का मानते हैं। बुद्ध भगवान् भिक्षुकों को न केवल अनेक बाह्य क्रियाओं से अपने आपको रोकने का

आदेश देते थे, वरन् वे आन्तरिक क्रियाओं को रोकने की भी शिक्षा देते थे। जिस स्थिति में चित्त का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है, उस स्थिति को मानव-जीवन की सर्वोच्च स्थिति माना गया है। यह स्थिति समाधि-स्थिति कहलाती है। स्पेन्सर महाशय के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार की स्थिति के लिये अभ्यास करना अपने जीवन को व्यर्थ खर्च करना है। पर हम जानते हैं, कि जिस मनुष्य में अपने आवेशों को रोकने की शक्ति नहीं है, वह न केवल अपने आपको है, वरन् दूसरे लोगों को भी दुःखी बनाता है। ऐसी क्रियाओं के करने से, जिनसे संसार का दुःख बढ़ता है: कुछ नहीं करना ही अधिक भला है।

अवसरवादिता का प्रोत्साहन—प्रकृतिवाद मनुष्य को अवसरवादी बना देता है। प्रकृतिवाद के अनुसार वही सिद्धान्त भला है, जिसके अनुसार हम अपने आपको सबसे अधिक सफल कर सकें, अर्थात् जिससे अपने स्वार्थ की सबसे अधिक सिद्धि हो। संसार के अधिक लोग इसी बुद्धि के होते हैं। वे रामपुरी में रामभक्त और कृष्णपुरी में कृष्णभक्त बन जाते हैं। जिस बात को समाज के सभी लोग अच्छा कहते हैं, वे भी उसी को अच्छा कहने लगते हैं। यदि समाज में सब लोग तम्बाकू पीते अथवा मद्यपान करते हैं, तो वे भी तम्बाकू पीने या मद्यपान करने लगते हैं। जब इसे समाज के लोग बुरा समझते हैं, तो वे भी उसे बुरा कहने लगते हैं।

फिर ऐसे लोग शक्तिशाली लोगों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कह सकते। वे प्रायः सभी अन्यायों को उचित समझते हैं। भारतवर्ष में ऐसे लोगों का बाहुल्य है। हमारे देश के अवसरवादी कलतक अंग्रेज सरकार के भक्त थे, आज ये ही लोग कांग्रेस-भक्त हो गये हैं, और गान्धीजी की अहिंसा और चर्खा का गुणगान करने लगे हैं। यही लोग कल साम्यवादी अथवा संघवादी बन सकते हैं। प्रकृतिवाद इस अवसरवाद की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। इस तरह वह मनुष्य के चरित्र को उन्नत न कर, उसे नीचे गिराता है।

अवसरवादिता से चरित्र का विनाश—चरित्र की उन्नति परिस्थितियों का सामना करने से होती है। यदि समाज, राष्ट्र अथवा अन्य अधिकारी भूल कर रहे हैं, तो उनकी भूलों को बताना, उन्हें सन्मार्ग पर चलाने की चेष्टा करने में ही मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण है। इस प्रयत्न में अपने प्राणों से भी

हाथ धोना पड़े, तो भी उसे करना चाहिये । संसार में उच्च कोटि के लोग वे नहीं होते, जो परिस्थिति के अनुसार अपने आपको मोड़ते रहते हैं; वरन् वे होते हैं; जो सत्य के लिये परिस्थितियों का सामना करते और अनेक प्रकार के कष्ट सहते तथा अपने प्राण तक विसर्जन करने को तैयार रहते हैं । भगवान बुद्ध, ईशा, सूकरात, लूथर, दयानन्द आदि को हम उनकी अवसरवादिता के कारण नहीं, वरन् सिद्धान्तवादिता के कारण स्मरण रखते हैं ।

जीवन की चौड़ाई मापने में कठिनाई—स्पेन्सर महाशय ने सम्पूर्ण जीवन का जो माप-दण्ड निश्चित किया है, वह भ्रमात्मक है । जीवन की सम्पूर्णता उसकी लम्बाई और चौड़ाई से नापी गई है । जीवन की लम्बाई मापना तो सरल है, पर जीवन की चौड़ाई को मापना वैसा ही कठिन काम है, जैसा सुखों की अच्छाई को मापना । जान स्टूअर्ट मिल महाशय ने सुखों में भेद माने हैं, और किसी काम की मौलिकता को जानने के लिए इतने को ही पर्याप्त नहीं माना कि वह अधिक सुख दे, अपितु उन्होंने यह भी बताया है कि सुख के प्रकार को जानकर इसे निश्चित किया जाय । पर सुखों की भलाई और बुरा को निश्चित करना असंभव है । इतना ही नहीं, जब हम सुखों के भले और बुरेपन को निश्चित करने लगते हैं, तो सुखवादी नहीं रहते । इसी प्रकार जीवन की चौड़ाई को मापना भी कठिन है, और उसके निश्चित करने के प्रयत्न में प्रकृतिवाद का सिद्धान्त ही विनष्ट हो जाता है । जीवनोपयोगी क्रियाओं से चौड़ाई की माप करने के लिये आदेश दिया गया है । पर हम कैसे जानेंगे कि कौन-सी क्रियायें अधिक जीवनोपयोगी हैं । जुलाहा कपड़ा बुनता है, किसान खेती करता है, कवि कविता करता है और दार्शनिक अपने दर्शन के विचार में निमग्न रहता है । ऊपरी दृष्टि से क्या जुलाहे और किसान के काम कवि और दार्शनिक के काम से अधिक जीवनोपयोगी नहीं हैं ? पर हम प्रायः कवि और दार्शनिक के कामों को ही अधिक कीमत देते हैं । इसका कारण क्या है ? फिर जो काम एक व्यक्ति की दृष्टि से महत्व का है, वही काम दूसरे व्यक्ति की दृष्टि से महत्वहीन हो सकता है । ऐसी स्थिति में, इसका कैसे निश्चय किया जा सकता है, कि किस व्यक्ति के जीवन में कितनी अधिक मौलिकता अर्थात् चौड़ाई है ।

यदि उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाय, कि वह कार्य महत्व का है,

जिससे अधिक लोगों की भलाई हो, तो फिर हमें खोज करनी पड़ेगी, कि लोगों की वास्तविक भलाई किस बात में है। केवल जीना अथवा सदा क्रिया-मात्र करते रहना भला नहीं कहा जा सकता है। मानव-जीवन की भलाई को जानने के लिए उसकी विशेषता पर विचार करना होगा और उसी विशेषता के अनुसार उसकी भलाई निश्चित करनी होगी। मानव-जीवन की विशेषता क्रिया में नहीं, विचार में है; और सम्भव है कि वे ही काम भले हों, जिनसे मनुष्य की इस विशेषता की वृद्धि होती है। और प्रकृतिवाद ने बाहरी वृद्धि सफलता को नैतिकता का माप-दण्ड बनाया है। बाहरी सफलता परिस्थितियों पर निर्भर है। इससे नैतिकता मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति पर निर्भर न हो, किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर हो जाती है। पर इस प्रकार की नैतिकता के लिये किसी व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता। मनुष्य अपनी आन्तरिक उन्नति और सफलता के लिये ही जिम्मेदार हो सकता है, और इसी से उसकी नैतिकता भी मापी जानी चाहिए। कितने ही लोग बड़े-बड़े कामों का आयोजन अपने मन में रखते हैं, पर वे उन कामों के प्रारम्भ करने के पूर्व अथवा आरम्भ करते ही चल बसते हैं। क्या हम इन लोगों के जीवन को उन लोगों के जीवन से कम महत्व का समझेंगे, जो अपने स्वार्थ के लिए दुनियाँ भर को उथल-पुथल कर डालते हैं? इमेनुअल कान्ट ने चौसठ वर्ष की अवस्था में "क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन" नामक पुस्तक प्रकाशित की। यह पुस्तक संसार के लिए जर्मनी की सब से बड़ी देन मानी जाती है। यदि कान्ट इस पुस्तक को न लिखता, तो यूरोप का दार्शनिक विचार ही निम्न स्तर का रहता। संसार में हम कान्ट का नाम भी न सुनते। पर यदि कान्ट ६३ वर्ष की अवस्था ही में मर जाता, तो वह संसार को यह पुस्तक न दे सकता। इस पुस्तक के लिये वह चालीस वर्ष तक सोचता रहा और जब उसे इसमें लिखे सिद्धान्तों पर पूरा भरोसा हो गया, तभी उसने उन्हें पुस्तक रूप में लिखा। यदि हम उसकी बाहरी कृति से ही उसकी सरलता की माप करें, तो हमें कहना पड़ेगा कि पुस्तक के लिखने के कारण ही उसका जीवन सफल है; और यदि वह उसे न लिखता, तो वह असफल था।

यह दृष्टिकोण भौतिक है, नैतिक नहीं। नैतिक दृष्टिकोण में मनुष्य के आन्तरिक भावनाओं और हेतुओं पर विचार किया जाता है, न कि उसकी बाह्य-

सफलता पर। यदि कोई व्यक्ति जीवन में एक भी ऐसा काम करता है, जिसमें लोक-कल्याण के लिए उसे अपने प्राणों का त्याग करना पड़ता है, तो नैतिक दृष्टि से वह स्वार्थ के हेतु अनेक काम करने वाले व्यक्तियों से कहीं ऊँचा माना जायेगा। अभिमन्यु के एक ही काम ने उसे चिरस्मरणीय बना दिया। उसे हम नैतिक दृष्टि से ऊँचा व्यक्ति इसलिए नहीं मानते हैं, कि वह बहुत दिनों तक जीवित रहा अथवा उसने संसार में बहुत दिनों तक बहुत से काम किये। वरन् उसे उच्च कोटि का व्यक्ति इसलिये ही मानते हैं, कि वह जिसे अपना कर्त्तव्य समझता था, उसके लिये उसने अपने प्राण निछावर कर दिये। इस तरह हम देखते हैं कि न तो जीवन की लम्बाई और चौड़ाई और न बाह्य सफलता ही नैतिकता का माप-दण्ड बन सकता है। नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक उन्नति ही हो सकती है। यह उन्नति किस प्रकार की हो, यह विचारणीय विषय है।

निट्शे का शक्तिवाद[1]

शक्तिवाद का ऐतिहासिक महत्त्व—शक्तिवाद के अनुसार प्रकृति शक्ति की उपासना सिखाती है। नीतिशास्त्र में शक्तिवाद के सिद्धान्त के प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रेडरिक निट्शे महाशय थे। इनके विचार ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। निट्शे महाशय वैज्ञानिक नहीं थे, वे प्रतिभावान साहित्यकार और कवि थे। जो कुछ वे लिखते थे, उसमें तार्किक युक्तियों की प्रबलता उतनी नहीं रहती जितनी प्रत्युत्पन्न-बुद्धि और कल्पना की रहती थी। परन्तु प्रबल कल्पना जितनी शक्तिशाली होती है, उतना शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार नहीं होता। निट्शे महाशय के विचार अन्तः अनुभूति अथवा इलहाम के रूप में हैं। अतः जो लोग अन्तः अनुभूतिवादी हैं और अपने आपको ईश्वर का विशेष व्यक्ति मानते हैं, वे उनसे बहुत प्रभावित हुए हैं।

ऐसे तो शक्तिवाद का सिद्धान्त तभी से चला आया है, जब से मानव-समाज बना। शक्तिशाली व्यक्ति जो कुछ कहता है, उसे सभी लोग ठीक

---

1. The will to power.

मान लेते हैं। सभी लोग शक्तिवान व्यक्ति की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हैं। यदि वे ऐसा न करें, तो शक्तिवान व्यक्ति उसका विरोध करने वाले लोगों को कुचल डाले। फिर शक्तिवान व्यक्ति दूसरे लोगों को अनेक प्रकार से पुरष्कृत भी कर सकता है। संसार के अधिक लोगों के आचरण के प्रेरक, भय और प्रलोभन ही होते हैं। अतएव शक्तिवान व्यक्ति का विरोध कोई नहीं करता। प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक नामक पुस्तक में इस शक्तिवाद का खंडन किया है। शक्तिवाद को पूर्व पक्ष मान कर यह दर्शाया गया है, कि शक्तिवाद के आधार पर कोई समाज ठहर नहीं सकता, अतएव यह न्याय का सिद्धान्त नहीं है।

शक्तिवाद साधारण लोगों के सिद्धान्त के रूप में सदा चला आया है, पर निट्शे महाशय ने इसे दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया। इनके विचारों का प्रचार जर्मन में बहुत हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप जर्मन राष्ट्र में संसार के साधारण नैतिक विचारों की अवहेलना करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। जर्मन का प्रत्येक नागरिक अपने आपको संसार का विशेष व्यक्ति मानने लगा और अपनी महत्ता को सिद्ध करने के लिये वह युद्ध के लिये उतारू हो गया।

शक्तिवाद के मुख्य तत्त्व—शक्तिवाद का कथन है, कि शक्ति ही नीति है। स्वयं प्रकृति शक्ति की उपासिका है। प्रकृति में शक्ति का खेल-मात्र देखा जाता है। प्राणियों के जीवन के विकास का आधार शक्ति-प्रकाशन की इच्छा[1] है। जो व्यक्ति जितना अधिक शक्ति का प्रकाशन करता है, वह उतना ही महान् है। ऐसा ही मनुष्य भला मनुष्य है।

डार्विन महाशय का कथन है, कि सभी प्राणी अपने जीवन के लिए लड़ाई करते हैं। परन्तु जीने की इच्छा के अभाव में इस प्रकार की लड़ाई अर्थ-हीन हो जाती है। केवल जीने के लिए कोई भी जीना नहीं चाहता। कोई भी व्यक्ति अपने शक्ति के प्रकाशन के लिए ही जीना चाहता है। जबतक मनुष्य शक्ति का प्रकाशन नहीं करता, तब तक उसके जीवन में किसी प्रकार का आनन्द नहीं रहता। जीने की इच्छा ही मनुष्य को योद्धा बना देती है। वह दया-रहित होकर दूसरों

---

1. Will to Power

से लड़ता है। निट्शे का कथन है, कि प्रकृति हमें लापरवाह और शक्तिवान होने के लिए आदेश देती है; वह केवल योद्धा को ही प्यार करती है*।

निट्शे महाशय के अनुसार नैतिक जीवन का उद्देश्य मनुष्य को पूर्णता प्राप्त कराना है। पर प्रत्येक मनुष्य को पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। संसार में दो प्रकार के लोग हैं—एक सामान्य योग्यता वाले, और दूसरे विशेष योग्यता वाले। ये भेद जन्मजात होते हैं। सामान्य योग्यता वाले लोगों के लिए एक प्रकार का आचरण नैतिक होता है, और विशेष योग्यता वाले लोगों के लिए दूसरे प्रकार का विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को निट्शे ने "सुपरमैन", दैवी पुरुष, कहा है। दैवी पुरुष की नैतिकता सामान्य पुरुषों की नैतिकता से भिन्न होती है। दैवी पुरुष जिन नैतिक मूल्यों की कीमत करता है, उनका ज्ञान सामान्य व्यक्तियों को नहीं रहता। सामान्य लोगों का विश्वास होता है, कि किसी विशेष प्रकार के आचरण हर समय के लिए सही अथवा गलत होते हैं, इस प्रकार के विचार को दैवी व्यक्ति नहीं मानता है। निट्शे महाशय का कथन है, कि किसी काम को अपने आप से उचित अथवा अनुचित मानना एक प्रकार की मूर्खता है। दूसरे को किसी प्रकार के कष्ट देने, उसे यन्त्रणा देने, उसका शोषण करने अथवा उसका विनाश करने में कोई स्वगत दोष नहीं है, क्योंकि जीवन इसी प्रकार का है। मनुष्य को जीने के लिए दूसरे को कष्ट और यन्त्रणा देना, उनका शोषण अथवा विनाश करना आवश्यक होता है, इसके बिना जीना सम्भव नहीं †।

---

*"Careless, mocking, forceful—so does wisdom wish us, she is a woman, and never loves any one but a warrior—**zurathertur.**

† The talk of intrinsic right and intrinsic wrong is absolutely nonsensical, intrinsically, an injury, an oppression, an exploitation, an annihilation can be nothing wrong, in as much as life is essentially...some thing whicn functions by injuring, oppressing, exploiting and annihilating, and is absotulely inconceivable without such a character—Beyond Good and Evil.

निट्शे महाशय का कथन है, कि सामान्य योग्यता के लोग नैतिकता में समानता के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। वे दैवी पुरुष से भी आशा करते हैं, कि वह अपनी विशेषता छोड़ कर दूसरे लोगों के साथ समानता का व्यवहार करे। जब वह उनके इस प्रकार के परामर्श को नहीं मानता, तो वे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके उसे गिराने की चेष्टा करते हैं। दैवी पुरुष जैसा खुले मन का रहता है, साधारण मनुष्य ठीक उसके विरुद्ध रहता है। शक्तिहीन मनुष्य शक्तिशाली मनुष्य से ईर्ष्या करता है। शक्तिहीन मनुष्य की नैतिकता गुलाम की नैतिकता होती है, और शक्तिशाली की नैतिकता स्वामी की नैतिकता होती है। शक्तिहीन व्यक्ति छल-कपट और षड्यन्त्रों से काम लेता है, और शक्तिशाली पुरुष अपने आत्म-प्रकाशन के लिए स्वच्छ और खुले साधनों को काम में लाता है। गुलाम मनुष्य की नैतिकता में निषेद्धात्मक आदेशों की भरमार रहती है, जो व्यक्ति इन निषेद्धात्मक आदेशों की परवाह करता है, वह संसार में कभी ऊँचा नहीं रहता।

दैवी पुरुष सामान्य लोगों के नैतिक नियमों को घृणा की दृष्टि से देखता है। जो काम वह करना चाहता है, वही काम उसके लिये नैतिक है। वह नये मूल्यों का निर्माण करता है। वह पुराने मूल्यों को बदल कर उनके स्थान पर नये नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है। सामान्य लोगों की नैतिकता के प्रतिबन्धों के परे जाना उसका स्वाभाविक गुण है। शक्ति-हीन लोग ऐसे व्यक्ति को दुराचारी कहते हैं। परन्तु वह वास्तव में उच्च कोटि की नैतिकता को मानता है। शक्ति-हीन लोग सबों को गिराकर एक बराबर कर देना चाहते हैं, परन्तु शक्तिवान व्यक्ति उनके इस प्रयत्न को विफल कर देता है। वह देखता है कि जिस सिद्धान्त पर सामान्य लोगों के काम चलते हैं, वह मनुष्यत्व का विनाशक है। वह दूसरों के ऊपर पहले आक्रमण करता है, इसलिए उसकी विजय होती है। शक्तिहीन व्यक्ति के विचार सदा उलझे रहते हैं, परन्तु दैवी पुरुष के विचार सदा सुलझे रहते हैं। उसकी इच्छा-शक्ति को पश्चात्ताप और आत्मग्लानि आदि की भावनायें कमजोर नहीं करतीं।

वर्तमान समय में हमारी जैसी सभ्यता है, उसमें किसी दैवी पुरुष का आविर्भाव होना बड़ा कठिन है। वर्त्तमान सभ्यता में गुलाम मनोवृत्ति के लोग एक

दूसरे से मिलकर संख्या के बल से ही दैवी पुरुष पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ईसाई धर्म सभी लोगों को समानता की शिक्षा देता है, अतएव यह धर्म गुलाम लोगों का सहायक है, और दैवी पुरुष के आविर्भाव को रोकता है। परन्तु भविष्य में आने वाली सभ्यता दैवी पुरुष के आगमन में सहायक होगी। दैवी पुरुष जब शक्ति प्राप्त कर लेंगे, तो वे मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाली संस्था, धर्म आदि वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देगें।

निट्शे महाशय का मत स्पेन्सर महाशय के मत से कई बातों में भिन्न है। स्पेन्सर महाशय के कथनानुसार जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने की चेष्टा करना सभी लोगों के लिए उचित है। इसके लिए मनुष्य को अपने सामने ऐसे आदर्शों को रखना चाहिए, जो उसे जीवन-संग्राम में सफल बनावें। निट्शे के नैतिक आदर्श सभी मनुष्यों के लिए न होकर केवल दैवी पुरुषों के लिये हैं। इस आदर्श के अनुसार दैवी पुरुष को अपने जीवन में सदा वीरता और शक्ति का प्रकाशन करते रहना चाहिए। इस प्रकार वह एक नये समाज का शिलान्यास करेगा, जो वर्तमान समाज से अधिक स्वस्थ और सुखी होगा। निट्शे महाशय के कथनानुसार प्रत्येक दैवी पुरुष अपने आध्यात्मिक विकास में निम्न-लिखित तीन प्रकार की अवस्थाओं को पार करता है।

(१) ऊँट की अवस्था (२) सिंह की अवस्था और (३) बच्चे की अवस्था। ऊँट की अवस्था में दैवी पुरुष दूसरों का अनुकरण करता है, और उनकी आज्ञा का पालन करता है, सिंह की अवस्था में वह अपनी शक्ति को पहचानता है, और उसे कैद करने वाली शृंखलाओं को तोड़ देता है। परन्तु वह कुछ नई सृष्टि नहीं करता। दैवी पुरुष के विकास की अन्तिम अवस्था बालक की अवस्था है। इस अवस्था में जब दैवी पुरुष पहुँच जाता है, तो वह अपने ही सुख के लिए अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है।

शक्तिवाद की समालोचना

व्यापकता का अभाव—शक्तिवाद का सिद्धान्त कुछ विशेष व्यक्तियों के लिये है, जिन्हें निट्शे महाशय ने सुपरमैन अर्थात् दैवी पुरुष कहा है। परन्तु नैतिकता का सिद्धान्त व्यापक सिद्धान्त है। जिस सिद्धान्त को हम सभी लोगों

पर समानरूप से लागू नहीं कर सकते, वह नैतिकता का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। यदि नैतिकता के दो आदर्श मान लिए जायँ—एक सामान्य व्यक्ति के लिए और दूसरा विशेष व्यक्ति के लिए, तो फिर प्रश्न आता है कि हम स्वयं किस सिद्धान्त को मान कर चलें। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को विशेष व्यक्ति मानने लगेगा। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो अपने आप को गुलामों की कोटि में रखना पसन्द करेगा। फिर यदि सभी लोग अपने आप को विशेष पुरुष समझ लें, और इसके कारण समाज में प्रचलित सामान्य नैतिक नियमों की अवहेलना करने पर उतारू हो जायँ, तो वे न केवल समाज का ही वरन् अपना भी विनाश कर डालेंगे। कहा जाता है कि दो सिंह एक ही गुफा में नहीं रह सकते। प्रत्येक दैवी पुरुष अपने आप को सिंह समझता है। ज्यों-हीं कई ऐसे पुरुष एक साथ एक स्थान पर आयेंगे, त्यों-हीं वे एक दूसरे से लड़ने और एक दूसरे का विनाश के लिएउतारू हो जायेंगे। इस प्रकार निट्शे महाशय के नैतिक सिद्धान्त के अनुसार चलने से मानव-समाज में सुख शान्ति की वृद्धि न होकर उसमें सदा लड़ाई की स्थिति ही बनी रहेगी।

प्रत्येक शक्तिशाली व्यक्ति अपने आप को सही मानता है, पर इसके कारण वह वास्तव में सही नहीं हो जाता। यदि शक्ति को ही सही मान लिया जाय, तो शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए कोई प्रतिबन्ध ही न रह जाय। इस तरह शक्तिवान् व्यक्ति में दम्भ बढ़ जाता है, और निर्बल में आत्महीनता की भावना आ जाती है। "शक्ति ही नीति है" के सिद्धान्त का अनुसरण करके जर्मन राष्ट्र ने संसार के सभी राष्ट्रों को अपना शत्रु बना लिया और इस प्रकार उसने न केवल दूसरों की क्षति की, वरन् अपने आप का भी सर्वनाश कर डाला।

"शक्ति ही नीति" का सिद्धान्त वास्तव में नैतिकता के सभी सिद्धान्तों का विनाशक है। शक्तिवान् व्यक्ति ऐसे ही नैतिक नियमों की अवहेलना करते हैं, परन्तु जब वे किसी नैतिक नियम के प्रतिकूल जाते हैं, तो उन्हें आत्मभर्त्सना होती है। किन्तु यदि वे नैतिक नियमों के प्रतिकूल चलकर अपने आपको ठीक मानने लगें, तो वे संसार में अनैतिकता का प्रचार बड़े वेग के साथ कर डालेंगे। शक्ति

की नीति को माननेवाले लोग निर्बल लोगों के कष्ट को कष्ट ही नहीं मानते। अपने क्रूर कर्मों को रोकने के लिए उनके पास कोई भी नैतिक अस्त्र नहीं रहता। ऐसे लोग धर्म को भी व्यर्थ की वस्तु मानते हैं। परन्तु प्रकृति स्वयं ऐसे लोगों को उन्नत नहीं करती। शक्ति को नीति माननेवाले लोग थोड़े समय के लिये प्रतिभा दिखाते हैं, और फिर अपना चमत्कार दिखाकर अल्प काल में ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न

१. प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक कौन हैं? प्रकृतिवाद के विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं के भेद को समझाइये।

२. जड़वादी प्रकृतिवाद के आधार को स्पष्टतः समझाइये। प्राणियों के प्राकृतिक व्यवहार क्या मनुष्य की नैतिकता के आधार बन सकते हैं? आदर्श प्राकृतिक आचरण को हम कहाँ तक नैतिक आचरण कह सकते हैं?

३. स्पेन्सर महाशय के नैतिक विचारों में सुखवाद और प्रकृतिवाद का समन्वय कहाँ तक पाया जाता है? स्पेन्सर महाशय ने प्रकृतिवाद का समर्थन किन-किन युक्तियों से किया है?

४. स्पेन्सर महाशय के विचारानुसार सम्पूर्ण जीवन का माप क्या है? इसकी आलोचना कीजिये।

५. प्रकृतिवाद में मनुष्य के चरित्र के विकास के लिये कोई स्थान नहीं पाया जाता—यह कहना कहाँ तक सत्य है? चरित्र के निर्माण के लिये किन-किन तत्त्वों की आवश्यकता होती है?

६. प्रकृतिवाद में अवसरवादिता को प्रधानता दी जाती है—यह कहना कहाँ तक सत्य है? अवसरवादिता के मत के प्रचार का नैतिक परिणाम क्या हो सकता है?

७. "शक्ति ही नीति है"—इस सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।

८. निट्शे महाशय के प्रकृतिवाद की तुलना स्पेन्सर के प्रकृतिवाद से कीजिये। समाज में निट्शे के विचारों के प्रचार से क्या परिणाम हो सकता है?

———

चौदहवाँ प्रकरण

आदर्शवाद

आदर्शवाद पुराना मत है। यह संसार के सभी सभ्य देशों में प्रचलित रहा है। यूरोप में आदर्शवाद पुराने समय में प्लेटो महाशय के विचारों में पाया जाता है। आधुनिक काल में यूरोप में आदर्शवाद के प्रवर्तक जर्मनी के दार्शनिक हीगेल, फिक्टे, शैलिंग महाशय थे। इनके अनुयायी इंगलिस्तान में ब्रेडले, ग्रीन आदि महाशय हुए हैं। यहाँ इनके विचारों का उल्लेख किया जायगा।

प्लेटो का आदर्शवाद

प्लेटो के विचारों की पृष्ठभूमि—प्राचीन काल के यूनानियों ने कर्तव्याकर्तव्य के ऊपर बड़ा गम्भीर विचार किया है। इनका विचार धार्मिक रूढ़ियों से स्वतन्त्र था। यूनान में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रधान प्रवर्तक महात्मा सुकरात और उनके शिष्य थे। इन शिष्यों में प्रधान प्लेटो थे। महात्मा सुकरात ने अपने समय के प्रचलित भ्रामक विचारों का खोखलापन दर्शाया। वे सदा नवयुवकों से बहस करते रहते थे। उनको यह समझाने की चेष्टा करते थे, कि जिन बातों को तुम सोचते हो, कि हम उन्हें भली प्रकार से जानते हैं, उन्हें ही तुम भली प्रकार से नहीं जानते। समाज में प्रचलित भलाई और बुराई के विचार निराधार हैं। मनुष्य जब तक अपने विचारों को ठीक नहीं कर लेता, तब तक न तो वह सद्गुणी हो सकता है, और न सुखी। उसने दर्शाया कि बहुत से लोगों को यह प्रमाद रहता है, कि वे सत्य को जानते हैं, पर यदि उनसे उस सत्य के स्वरूप का निरूपण करने के लिए कहा जाय, तो ज्ञात होगा कि उन्हें सत्य का ज्ञान नहीं है, और वे अपने इस अज्ञान के विषय में भी नहीं जानते। वे अज्ञानी होकर भी अपने आपको ज्ञानी मान बैठे हैं। इस प्रकार

सुकरात प्रत्येक ज्ञानवान समझे जानेवाले व्यक्ति को मूर्ख सिद्ध करके छोड़ता था।

सुकरात के इस काम से यूनान के प्रभावशाली लोग अप्रसन्न हो गये। वह यूनान के नवयुवकों को अपनी ही तरह बहस करना सिखाता था। फिर वे अपने बड़ों से बहस करते और उनका कहा नहीं मानते थे। जिन बातों को बड़े लोग ठीक मानते थे, ये नवयुवक उनके प्रति सन्देह करते थे। इस प्रकार सुकरात ने उस समय की प्रचलित रूढ़ियों को व्यर्थ मानने की मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी। उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ, कि रूढ़िवादियों ने सुकरात को राज्य के द्वारा समाज-द्रोही ठहराकर प्राणदण्ड दिलाया। सुकरात के प्रति ये अभियोग थे,कि वह पुराने देवताओं के प्रति अश्रद्धा का भाव उत्पन्न करता है, और नवयुवकों का दिमाग बिगाड़ देता है। वास्तव में अभियोग ठीक ही थे। महात्मा सुकरात नवयुवकों में स्वतत्र चिंतन की शक्ति को बढ़ाते थे। जब मनुष्य में विचार की स्वतन्त्रता आ जाती है, तो रूढ़िवादियों की प्रभुता के दिन अन्त हो जाते हैं। स्वतन्त्र विचार के उत्पन्न होने पर समाज में चारों ओर विप्लव होने लगता हैं। फिर समाज में सभी प्रकार के नए विचार आते हैं। फिर धर्म, राजनीति, नैतिकता और समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होने लगता है। इस प्रकार महात्मा सुकरात यूनान देश के विप्लवकारी विचारों के जन्मदाता थे।

महात्मा सुकरात ने जिस काम को प्रारम्भ किया, उसे बहुत कुछ उनके शिष्य प्लेटो महाशय ने पूरा किया। महात्मा सुकरात अपने जीवनकाल में सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ न कर पाये। दर्शन के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य प्लेटो ने ही किया। प्लेटो को अपने गुरु सुकरात के प्रति इतनी अटूट श्रद्धा थी, कि उसने जो कुछ लिखा उसे अपने गुरु सुकरात के मुँह से कहलवाया है। अतएव प्लेटो की रचनाओं को पढ़कर यह जानना कठिन होता है, कि कौन से विचार सुकरात के हैं, और कौन से प्लेटो के। प्लेटो महाशय के नैतिक विचार उनके प्रेटोगोरस, सिंपोजियम, रिपब्लिक, जार्जियास और फेडरस नामक ग्रन्थों में पाए जाते हैं। इन सभी ग्रन्थों में प्रधान ग्रन्थ रिपब्लिक है।

भलाई का स्वरूप—प्लेटो महाशय ने उस समय के झूठे नैतिक विचारों

को पूर्व पक्ष बनाकर अपने ग्रन्थों में उनका खण्डन किया है। इस प्रकार उन्होंने रिपब्लिक में थ्रेसीमेकस से और जार्जियास में कालीक्लस से झूठे सिद्धान्त को कहलवाया है। नैतिकता का झूठा सिद्धान्त वही है, जिसको लौकिक सफलता प्राप्त करनेवाले संसार के अधिक लोग आज भी काम में लाते हैं। इस झूठे सिद्धान्त के अनुसार वही वस्तु भली है, जो मनुष्य को प्रसन्न करे और ठीक वही है, जिसे बलवान व्यक्ति दूसरों से मनवा सकें। बलवान की इच्छा ही नैतिकता है। जो लोग बलवान होते हैं, वे जन साधारण पर अपना शासन जमा लेते हैं। वे शासन प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के साधनों को काम में लाते हैं। जब वे एक बार अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, तो ऐसे राज्य-नियम बना लेते हैं, जिनसे उनकी सत्ता की रक्षा होती रहती है। प्रचार के द्वारा वे जनता को यह सिखाते हैं, कि उनके बनाए नियमों का पालन करना ही जनता का कर्तव्य है। जो व्यक्ति उनके विरुद्ध आवाज उठाता है, उसे दबा दिया जाता है। इस प्रकार सब जगह उन्हीं की तूती बोलती है। जिसके पास शक्ति है, उसी की बात सही है; शक्ति ही नैतिक औचित्य है, और दुर्बलता ही पाप है।

इस मत का खंडन करने के लिये प्लेटो को तत्त्व का निरूपण करना पड़ा। वास्तव में भली वस्तु किसी व्यक्ति की राय के ऊपर निर्भर नहीं करती। मनुष्य की राय बदलती रहती है, क्योंकि उसको तत्त्व का ज्ञान नहीं रहता। तत्त्व के स्वरूप-निरूपण के बिना भलाई और बुराई के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता। पर तत्त्व को कैसे जाना जाय? तत्त्व को इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन्द्रिय-ज्ञान सदा भ्रामक होता है। एक ही बात विरोधी गुणों को भिन्न-भिन्न अथवा एक ही समय में प्रदर्शित करती है। उदाहरणार्थ खुजली अच्छी भी लगती है, और बुरी भी; वही पानी कभी गरम और कभी ठंढा लगता है। एक ही वस्तु दूर से देखने पर छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है, पर एक ही वस्तु एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न गुणधारी नहीं हो सकती। अतएव इन्द्रिय-ज्ञान भ्रामक है, और इन्द्रियों के द्वारा तत्व ज्ञान होना संभव नहीं। तत्त्व को जानने के लिये विचार अथवा विवेक की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेकशील है, उसे उतना ही अधिक तत्त्व का ज्ञान होगा और सच्ची भलाई को वह उतना ही अधिक जानेगा।

तत्त्वदर्शी को पदार्थों के दिखावे से भ्रम में न पड़ना चाहिए, उसे प्रत्येक वस्तु के तात्त्विक रूप को जानने की चेष्टा करनी चाहिये। बलवान की इच्छा ही नैतिकता है, यह तत्वज्ञान नहीं, अविचारवान व्यक्तियों की राय-मात्र है, जो ऐन्द्रिक ज्ञान के आधार पर बनी हुई है। जो व्यक्ति भलाई के तात्त्विक रूप को जानने की चेष्टा करता है, वह ऐसी बात न करेगा।

भलाई की एकता—प्लेटो महाशय के विचारानुसार मनुष्य के सभी सद्गुणों का मूल श्रोत एक ही है। किसी मनुष्य के अनेक सद्गुण एक ही भलाई के विभिन्न रूप हैं। पवित्रता, न्याय-शीलता, विवेक-शीलता, आत्मसंयम और वीरता आदि सम्पूर्ण भलाई के विभिन्न हिस्से नहीं, वरन् विभिन्न परिस्थितियों में एक ही भलाई के प्रकाशन हैं। इस भलाई के तत्त्व को जानना मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। संसार में जिस भलाई को हम मानते हैं, वह उसकी छाया-मात्र है। तात्त्विक रूप से भलाई को जानने के लिये मनुष्य को बाह्य इन्द्रियों से सहायता न लेकर अपने ही भीतर डूबना पड़ेगा।

सद्गुणों का आधार—प्लेटो की रिपब्लिक नामक पुस्तक में थ्रेसीमेकस ने सुकरात के यह सिद्धान्त सामने रक्खा कि संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, एक चतुर; और दूसरे भले। भले मनुष्य भोले-भाले होते हैं, और चतुर मनुष्य बड़े सयाने होते हैं। चतुर मनुष्य भले मनुष्यों को सदा अपना लदुआ टट्टू बनाये रखते हैं। भले मनुष्य झूठ नहीं बोलते, दूसरों को धोखा नहीं देते और दूसरों को कष्ट देने में सदा हिचकते हैं। चतुर मनुष्य इसके प्रतिकूल होते हैं; वे झूठ बोलते हैं, दूसरों को धोखा और कष्ट भी देते हैं, परंतु उनकी झूठ, धोखा और हिंसा पकड़ में नहीं आती। वे अनेक प्रकार के प्रचारों के द्वारा संसार में सच्चे, भले और परोपकारी बने रहते हैं। इस प्रकार चतुर मनुष्य सदा सुखी रहते हैं, और भले मनुष्य सदा दुखी।

इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए प्लेटो को मनुष्य के स्वभाव का निरूपण करना पड़ा। मनुष्य के सद्गुण उसकी विशेषता पर ही आधारित हो सकते हैं। किसी भी वस्तु का सद्गुण उसकी विशेष योग्यता के ऊपर निर्भर है। कोई वस्तु जब अपने जातीय धर्म का पालन अच्छी तरह से करती है, तभी हम

उसे अच्छी वस्तु कहते हैं। आँखों का काम है, देखना, अतएव जहाँ तक आँखों से भली प्रकार से देखा जा सकता है, वहाँ तक हम उसे अच्छी कहते हैं। हँसुआ का काम है, पौधों को काटना; अतएव जहाँ तक वह काटने का काम भली प्रकार से करता है, वहाँ तक ही वह भला कहा जा सकता है। यदि हँसुआ और दूसरे काम करे, पर काटने के काम में न आवे; तो हम उसे अच्छा हँसुआ न कहेंगे। इसी प्रकार मनुष्य की जीवात्मा जब वही काम करती है, जिसके करने की विशेष योग्यता उसमें है, तब वह सद्गुणी बनती है अर्थात् अच्छी कहलाती है। मनुष्य के सद्गुणों की कसौटी उसकी बाहरी सफलता नहीं, वरन् उसकी आन्तरिक सफलता है। जहाँ तक मनुष्य अपनी आत्मा के गुणों को अधिक-से-अधिक प्रकाशित करता है, वहाँ तक वह जीवन में सफल है।

मनुष्य की आत्मा की तीन प्रकार की शक्तियाँ है—इच्छा, उद्वेग और ज्ञान। ये तीन प्रकार के काम भी करती हैं। इनके उचित रूप से प्रकाशित होने में सद्गुण है, और अनुचित रूप से प्रकाशित होने में दुर्गुण। इच्छा के सदुपयोग से आत्म-संयम[1], उद्वेग से वीरता[2] और ज्ञान से विवेकशीलता[3] के सद्गुण उत्पन्न होते हैं। इन प्रधान सद्गुणों के अतिरिक्त न्यायप्रियता का सद्गुण[4] भी है। जब मनुष्य की सभी शक्तियाँ ठिकाने से काम करती हैं, तो मनुष्य की आत्मा में न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्य का सच्चा सुख आत्मा के स्वभाव को अधिक-से-अधिक प्रकाशित करने में है, न कि सांसारिक भोग्य सामग्री अथवा शक्ति प्राप्त करने में। भोग्य सामग्रियों से प्राप्त सुख मनुष्य की इन्द्रियों को तृप्त करता है, उसकी आत्मा नहीं। ऐन्द्रिक सुख अस्थायी होता है और आत्मा स्थायी सुख को खोजा करती है। स्थायी सुख आत्मा के बनाये नियमों पर चलने से ही प्राप्त होता है। यह सुख आत्मा की विशेष शक्तियों के प्रकाशन से मिलता है। सच्चा सुख विलासता में नहीं, बल्कि आत्म-नियंत्रण में मिलता है। आत्म-नियन्त्रण से आध्यात्मिक चिन्तन आता है, और उससे तत्त्व के दर्शन होते हैं। यह तत्त्व है क्या ?

---

1. Temperence. 2. Courage. 3. Wisdom. 4. Justice.

पदार्थों का तात्त्विक रूप—जिस भलाई अथवा सद्गुण को हम मनुष्य-जीवन में देखते हैं, वह तात्त्विक भलाई अथवा सद्गुण की छाया-मात्र है। प्लेटो महाशय के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक सांसारिक रूप होता है, और दूसरा तत्त्विक रूप। किसी भी वस्तु का तात्त्विक रूप अमर है, पर उसका सांसारिक रूप बदलता रहता है। संसार के पदार्थों में प्राप्त सौन्दर्य सच्चे सौन्दर्य की नकल, आभास अथवा छाया-मात्र है, इसी तरह सांसारिक जीवन में प्राप्त भलाई और सद्गुण वास्तविक भलाई और सद्गुण के नकल, आभास तथा छाया-मात्र हैं। हम तत्त्व को सीधे नहीं देख पाते। हम गुफे में जञ्जीरों से बँधे उन मनुष्यों के समान हैं, जो केवल बाहर की वस्तुओं की छाया-मात्र देख सकते हैं। ये पदार्थ पीछे से आनेवाली रोशनी से प्रकाशित होते हैं। ये परछाइयाँ सच्चे पदार्थों के सदृश होती हैं, परन्तु जाग्रत पुरुष परछाईं-मात्र को देखकर संतोष नहीं करेगा, वह वास्तविक पदार्थों को जानने की भी चेष्टा करेगा। संसार का भौतिक सुख, संसार में प्राप्त लौकिक सौदर्न्य, अथवा सत्य वास्तविक पदार्थ के संकेत मात्र हैं। इनको जानकर मनुष्य तात्त्विक पदार्थों को भी जानने की चेष्टा करता है। पर इनके जानने में उसकी इच्छायें और इन्द्रियाँ ही बाधक हो जाती हैं। जबतक मनुष्य बहिर्मुखी बना है, तबतक उसे किसी भी वस्तु के तात्त्विक रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। तात्त्विक ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के प्रलोभनों से अपने आपको रोकना और नित्य तत्त्व का चिन्तन करना आवश्यक है। यह तत्त्व विज्ञान की वस्तु है, यह इन्द्रिय ज्ञान से दूर है। यह नित्य है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्लेटो महाशय ने एक नहीं, वरन् अनेक तात्त्विक पदार्थ माने हैं। सब तात्त्विक पदार्थों में एकता लाने-वाला पदार्थ ईश्वर कहा गया है। इसी को अन्तिम भलाई भी माना है, अर्थात् यह शिवरूप है। इसे जानना ही परम पुरुषार्थ है। इसका ज्ञान तब तक संभव नहीं, जब तक मनुष्य अपने पूरे जीवन में सद्गुणी नहीं बनता, अर्थात् वह सभी सद्गुणों को अपने आचरण में प्रदर्शित नहीं करता।

सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता—निश्रेय की प्राप्ति और सद्गुणों की वृद्धि के लिए न्यायप्रिय सुव्यवस्थित समाज की आवश्य-कता होती है। सद्गुणी समाज में सद्गुणी व्यक्ति होते हैं, और सद्गुणी व्यक्ति

होने के लिये सद्गुणी समाज की आवश्यकता होती है। समाज व्यक्तियों का बना है। अतएव जबतक समाज में आत्म-संयमी, वीर, विवेकी और न्यायप्रिय व्यक्ति न होंगे, तब तक समाज इन गुणों को प्रदर्शित कैसे कर सकता है? पर व्यक्ति समाज के विचारों से प्रभावित होता है। उसे शिक्षा-दीक्षा भी समाज ही देता है। इस दृष्टि से भले व्यक्ति का बनना तबतक संभव नहीं, जबतक समाज भला न हो।

सुव्यवस्थित समाज में तत्वदर्शी पुरुष का प्रधान स्थान होता है। उनके नियंत्रण में ही धन कमाने वाले व्यक्ति और समाज के सैनिक रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव में इच्छा और उद्वेगों का विवेक के नियंत्रण में रहना आवश्यक है, उसी प्रकार धनवानों और सैनिकों को, जो कि क्रमशः इच्छा और उद्वेग के भावों के प्रतीक हैं, दार्शनिकों के नियंत्रण में रहना आवश्यक है। दार्शनिक पुरुष अपने जीवन में विवेक की प्रधानता को चरितार्थ करते हैं।

मनुष्यों में जन्मजात भेद होते हैं; किसी मनुष्य में एक तत्त्व की अधिकता होती है और किसी में दूसरे की। किसी में धन कमाने की इच्छा प्रबल होती है, किसी में यश की, तो किसी में ज्ञान की। सुव्यवस्थित समाज वह है, जिसमें पहले दो प्रकार के व्यक्ति तीसरे प्रकार के व्यक्ति के अधीन रहते हैं, अर्थात् उनकी सलाह मान कर चलते है। धन कमानेवालों में से व्यापारी और किसान होते हैं, यश कमाने वालों में सैनिक होते हैं और ज्ञान के इच्छुक समाज के निःस्वार्थ सेवक होते हैं। राज्य जब उसके निःस्वार्थ सेवकों के हाथ में रहता है, तभी वह उन्नतशील रहता है और जनता सुखी रहती है। जब वह दूसरे लोगों के हाथ में आता है, तो एक ओर उसका नैतिक पतन हो जाता है, और दूसरी ओर सारी जनता का दुःख बढ़ जाता है।

समाज का आदर्श पुरुष भौतिक सुख का इच्छुक नहीं रहता। भौतिक सुख क्षण-भंगुर है। अतएव वह उसे त्याग कर स्थायी आनन्द को खोजने की चेष्टा करता है। यह आनन्द पदार्थों के तत्त्व को जानने से प्राप्त होता है; अतएव वह सदा तत्वज्ञान में ही रमण करता है।

आधुनिक आदर्शवाद[1]

आदर्शवाद का लक्ष्य—आदर्शवाद के अनुसार नैतिक आचरण का

1. Modern idealism

लक्ष्य जीवन के सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति है। यह आदर्श अपने बाहर किसी वस्तु की प्राप्ति में नहीं, वरन् अपने आप में ही है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का ध्येय सम्पूर्ण आत्म-साक्षात्कार[1] करना है। यह आत्म-साक्षात्कार अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्पूर्ण विकास में है। मनुष्य अनेक बाहरी वस्तुएँ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह दूसरों की सेवा और समाज को ऊँचा उठाने की चेष्टा भी करता है। पर इस सेवा का वास्तविक अर्थ अपनी चेतना को उच्च स्तर का बनाने में है। मनुष्य के जीवन की मौलिकता उसके विचारों को भले बनाने में है। जो कुछ बाहरी भलाई वह कर सकता है, उसकी कीमत विचारों को भले बनाये जाने से ही आँकी जानी चाहिये।

आधुनिक आदर्शवाद के प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान हीगेल महाशय थे। इन्हीं के विचारों का अनुकरण इंग्लैण्ड में टामस हिल ग्रीन महाशय ने किया और पीछे फ्रेडरिक हेनरी ब्रेडले ने भी किया। ये इंग्लैण्ड में आदर्शवाद के प्रवर्तक हैं। ग्रीन महाशय के विचार उनकी पुस्तक "प्रोलेगेमोना टू एथिक्स" में पाये जाते हैं और ब्रेडले महाशय के विचार "स्टडीज़ इन एथिक्स" में पाये जाते हैं।

आदर्शवाद का आधार—आदर्शवाद प्रकृतिवाद का विरोधी सिद्धान्त है। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य की कोई स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नहीं है। प्रकृति उसे जिस ओर ले जाती है, वह उसी ओर जाता है। मनुष्य प्रकृति को पहले से ही पाता है, उसके अनुसार अपना आचरण बनाने में ही उसके जीवन की सफलता है। भला आचरण सफल आचरण है, अर्थात् वातावरण के अनुसार आचरण भला आचरण है। इस सिद्धान्त का खण्डन ग्रीन महाशय करते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य स्वयं ही अपने वातावरण को बनाता है। जिस संसार में मनुष्य रहता है, वह बाह्य प्रकृति-द्वारा ही निर्मित नहीं रहता, वरन् मनुष्य का विचार उसमें कार्य करता है। मनुष्य बाहर से कुछ निष्प्रकारक ज्ञान[2] ग्रहण करता है, इसमें प्रकार के भेद मनुष्य का मन ही उत्पन्न करता है। मनुष्य का मन एक काले तख्ते के समान नहीं है, जैसा कि साधारणतः उसे समझ लिया-

1. Complete self-realization. 2. Indeterminate knowledge.

जाता है; वरन् वह एक कारीगर के समान है, जो केवल ईंट, रोड़ा आदि बाहर से प्राप्त करता है। इमारत की तैयारी कारीगर के बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार संसार के विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान बिना मन की क्रिया के नहीं हो सकता। संसार को जैसा हम जानते हैं, वैसा वह हमारे मन के द्वारा ही बनाया गया है।

इस विचार-धारा को विज्ञानवाद कहा जाता है। सत्य, विज्ञान अथवा मनुष्य के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विचार या ज्ञान ही सत्य है। संसार के अनेक प्रकार के भेद ज्ञान के ही द्वारा बनाये गये हैं। अतएव मनुष्य के आदर्श भी उसी के बनाये हुए हैं। मनुष्य का स्वभाव ही आदर्शमय है। मनुष्य का मन एक ओर अनेक प्रकार के ज्ञानमय संसार का निर्माण करता है और दूसरी ओर वही मन क्रियामय संसार की रचना भी करता है। जिस प्रकार अपने ज्ञान में एकता प्राप्त करने के लिये मनुष्य का मन अनेक प्रकार के वैज्ञानिक नियमों का आविष्कार करता है, उसी प्रकार अपनी क्रियाओं में एकता प्राप्त करने के लिये वह अनेक आदर्शों के निर्माण के साथ-साथ एक निःश्रेय[1] की कल्पना करता है। जिस प्रकार अपने ज्ञान के बाहर संसार में किसी प्रकार की नियमितता अथवा क्रम-बद्धता नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य की समझ के बाहर आचरण की भलाई और बुराई निरर्थक है।

विज्ञानवाद के अनुसार किसी प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति किसी बाह्य पदार्थ के बारे में ज्ञान प्राप्त करनेपर उतनी निर्भर नहीं करती, जितनी अपने ही विषय में ज्ञानवृद्धि पर निर्भर करती है। पदार्थ-विज्ञान की वृद्धि विचारों का विकास मात्र है। इसी तरह किसी प्रकार के आचरण की उन्नति अपने आप की उन्नति ही है। आन्तरिक सफलता ही बाहरी सफलता के रूप में दिखलाई देती है।

आदर्शवाद का मापदण्ड--आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य को उच्चतम स्वत्व[2] को ही नैतिकता का माप-दण्ड होना चाहिये। इस विचारधारा में मनुष्य के अनेक स्वत्व माने गये हैं। ये स्वत्व एकादि क्रम से हैं। ये सभी विभिन्न

---

1. Summum Bonum. 2. Ideal se'f.

प्रकार की इच्छाओं के बने हुए हैं। हमारी कुछ इच्छायें नीचे स्तर की होती हैं, और कुछ ऊँचे स्तर की। कुछ इच्छायें हमारी शारीरिक आवश्यकताओं अथवा भोगों से ही सम्बन्ध रखती हैं और कुछ हमारे मानसिक और आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखती हैं। जो मनुष्य जितने ही ऊँचे स्तर की इच्छाओं को तृप्त करने की चेष्टा करता है और अपनी अधिक ऊँची इच्छाओं की तृप्ति के लिये निम्नकोटि की इच्छाओं का जितना ही त्याग करता है, वह उतना ही ऊँचा है। उच्चकोटि की इच्छाओं को तृप्त करने से ही मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है और इसीसे उसको उच्च कोटि के स्वत्व का साक्षात्कार होता है।

मनुष्य के मन में सभी प्रकार की इच्छाएँ हैं—कुछ पाशविक हैं, और कुछ दैविक। पाशविक इच्छाओं को तृप्त करके ही मनुष्य आत्म-संतोष प्राप्त नहीं करता। पाशविक इच्छाओं को तृप्त करने का सुख क्षणिक होता है। मनुष्य चाहता है कि वह स्थायी सुख को प्राप्त करे। स्थायी सुख विवेकयुक्त आचरण से प्राप्त होता है। विवेक मनुष्य को अपने आपका दूसरे के साथ आत्मसात्[1] करने के लिये प्रेरणा देता है। अपने सुख से ही सन्तुष्ट न रहकर दूसरे लोगों को सुखी बनाने की चेष्टा करते रहने में ही मनुष्य को स्थायी सुख मिलता है। फिर मनुष्य का विवेक उसे प्रेरणा देता है कि वह आत्म-संयम प्राप्त करे।

जब हम आदर्शवाद की तुलना कांट महाशय के सिद्धान्त से करते हैं, तो हम आदर्शवाद की मुख्य-मुख्य बातों को स्पष्टतः समझ जाते हैं। कांट महाशय सभी प्रकार की इच्छाओं को त्याज्य मानते थे। कान्ट महाशय नीचे और ऊँचे कोटि में इच्छाओं का विभाजन नहीं करते थे। इसी तरह उनके अनुसार सभी आवेग ही त्याज्य हैं। आचरण में इच्छाओं और भावों को स्थान देने से आचरण अनैतिक हो जाता है। इच्छारहित अर्थात् निष्काम कार्य नैतिक है। इच्छाओं का विनाश नैतिक आचरण का ध्येय है। आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य को किसी प्रकार की इच्छाओं का त्याग न करना चाहिये। प्रत्येक इच्छा को अपने जीवन में उचित स्थान देना चाहिये। जब तक मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाएँ तृप्त नहीं हो जातीं, तब तक उच्चकोटि की इच्छाओं

---

1. Identification.

का विकास नहीं होता। शारीरिक सुख की इच्छा का भी मानव-जीवन में स्थान है। बाल्यकाल में शारीरिक सुख की इच्छा का प्राबल्य होना स्वाभाविक है। पर विकासोन्मुख जीवन शारीरिक सुख को ही ध्येय नहीं बना लेता। जीवन का लक्ष्य शारीरिक सुख का भोग न होकर विवेक के अनुसार जीवन को चलाना होना चाहिये। विवेक के अनुसार चलने से मनुष्य स्वतः ही शारीरिक सुख को जीवन में गौण स्थान देगा और सामाजिक भावना तथा आध्यात्मिक इच्छाओं की तृप्ति को प्रथम स्थान देगा।

कांट महाशय नैतिक जीवन में त्याग को प्रमुख स्थान देते थे। पर आदर्शवाद में त्याग को अपेक्षाकृत[1] भली वस्तु मानी है। त्याग का मूल्य लाभ पर विचार करके आँका जाना चाहिये। उन्नत जीवन में त्याग निम्न स्तर की वासनाओं का होता है, पर इनके साथ-साथ उच्च कोटि की वासनायें दृढ़ भी होती हैं। त्याग मनुष्य के स्वभाव का अंग है, यह विकास का लक्षण है। यदि हम निम्न कोटि के भोगों का त्याग न करें, तो उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति को भी प्राप्त न कर सकेंगे। त्याग यह दर्शाता है कि मनुष्य का जीवन ऊँचे स्तर पर उठ गया है। इसीलिये त्याग श्लाघ्य है। पर त्याग के लिये त्याग अथवा तपस्या के लिये तपस्या करना निन्द्य है। नैतिक जीवन का ध्येय मनुष्य को वैयक्तिक सुख के स्तर से ऊपर उठाकर सामाजिक सुख में भाग लिवाना है। आदर्शवाद का ध्येय मनुष्य को अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने में सहायता देना है। यह आदर्श स्वत्व ऐसा है, जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य प्राणि-मात्र से अपनी एकता की अनुभूति करने लगता है। यह आदर्श स्वत्व विवेकयुक्त है। अतएव इसमें वैयक्तिक इच्छाओं का दमन न होकर उनका विकास होता है। व्यक्ति अपने आपको खोता नहीं, वरन् अपने-आपको एक महान् सत्ता के अंग के रूप में अनुभव करता है।

नैतिकता के सर्वोच्च आदर्श का ज्ञान किसी भी मनुष्य को नहीं है। जबतक मनुष्य इस आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे उसका ज्ञान होना संभव नहीं। पर इस आदर्श की उपस्थिति के विषय में कोई संदेह भी नहीं किया जा सकता।

---

1. Relative.

मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति ही इस आदर्श की वास्तविकता को प्रकट करती है। प्रत्येक मनुष्य अपने-आप में अपने जीवन को उत्तरोत्तर भला बनाने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार की प्रेरणा ही यह सिद्ध करती है कि ऐसा भी कोई पद है, जिस पर पहुँचने पर मनुष्य अपने-आप में पूर्णता की अनुभूति करता है। हमारी नैतिक कमी की अनुभूति और अपने-आपको भले बनाने की इच्छा ही पूर्णता की वास्तविकता को प्रमाणित करती हैं। यह पूर्णता बाहर से नहीं आएगी। यह प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान है। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं!

नैतिक आदर्श के दो लक्षण[1]—नैतिक आदर्श के प्रमुख विद्वान् ग्रीन महाशय ने मनुष्य की नैतिक उन्नति के दो लक्षण माने हैं—सामञ्जस्य[2] और व्यापकता[3]। जिस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य पारस्परिक विरोधी बातों को नहीं करता, वही नैतिक सिद्धान्त ऊँचा है। कोई दो सिद्धान्त देखने में आपस में विरोधी हों, परन्तु यदि वे मन के विकास की दो अवस्थाओं को प्रकाशित करते हैं, तो वे पारस्परिक विरोधी नहीं माने जायेंगे। मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे उसे अपनी ही बातों का अपने-आप विरोध न करना पड़े। जबतक मनुष्य के आचरण में लक्ष्य की एकता रहती है, तबतक इस प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं होता। लक्ष्य की एकता को सदा ध्यान में रखने पर विभिन्न प्रकार के आचरण में सामञ्जस्य बना रहता है।

नैतिक आचरण का दूसरा लक्षण व्यापकता है। जिस व्यक्ति के आचरण का लक्ष्य जितना ही अधिक व्यापक है, वह उतना ही श्रेष्ठ व्यक्ति है। व्यक्तिगत लाभ की इच्छा से किये गये काम की अपेक्षा परिवार के हेतु किये गये कार्य अधिक नैतिक हैं। इसी तरह परिवार के लाभ के लक्ष्य से जाति के लाभ का लक्ष्य अधिक श्रेष्ठ है और इससे भी श्रेष्ठ देश और मानव-समाज के कल्याण का लक्ष्य है। अतएव जो व्यक्ति अपने आचरण का लक्ष्य मानव-समाज की भलाई करना रखता है, वह समाज का सर्वोत्तम व्यक्ति है।

मनुष्य के आदर्श स्वत्व में सभी प्राणियों के हित का समावेश होता है।

---

1. Characteristics. 2. Coherence. 3. Comprehensiveness.

जिस मनुष्य का नैतिक आदर्श जितना संकीर्ण रहता है, उसे अपने-आपका विरोध करने का उतना ही अधिक अवसर भी मिलता है। अतएव जिस व्यक्ति के आचरण में नैतिकता के एक लक्षण की कमी पाई जाती है, उसके आचरण में दूसरे लक्षण की भी कमी पाई जाती है। जो आचरण जितना व्यापक होता है, उसमें अव्यापक आचरण की अपेक्षा उतना ही अधिक लक्ष्य से सामञ्जस्य पाया जाता है। संसार भर के कल्याण के हेतु जो लोग काम करते हैं, उन्हें अपने आप का विरोध करने का भी कम अवसर मिलता है।

पूर्णता की कल्पना—आदर्शवादी चिन्तकों के अनुसार मनुष्य की पूर्णता सुख[1] की वृद्धि में नहीं वरन् सद्गुणों[2] की वृद्धि में है। आदर्शवादी अपने और दूसरों के सुख की वृद्धि की चेष्टा नहीं करते, वरन् अपने को और दूसरों को सद्गुणी बनाने की चेष्टा करते हैं। उपयोगिता वादियों[3] का मत है कि नैतिक आचरण वह है, जिससे अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक सुख मिले। आदर्शवादी वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के सुखवाद का विरोध करते हैं। मनुष्य के आचरण का ध्येय सुख न होकर सद्गुण होना चाहिये। दूसरों का सच्चा कल्याण हम उनके सुख की वृद्धि करके नहीं, वरन् उनमें सद्-गुणों की वृद्धि करके करते हैं। सुख की लिप्सा को बढ़ाना न केवल व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से बुरा है, वरन् वह सामाजिक कल्याण की दृष्टि से भी बुरा है। सद्गुण विवेकयुक्त आचरण से बढ़ता है। अतएव मनुष्य में जितनी ही अधिक विवेक की वृद्धि होती है, वह उतना ही अधिक अपने आचरण को नैतिक बनाता है।

आदर्शवाद में व्यक्ति और समाज—हीगेल महाशय के कथनानुसार व्यक्ति को समाज के लिए आत्म-समर्पण कर देने से ही नैतिक आदर्श की प्राप्ति होती है। नैतिकता का आदर्श व्यापक आदर्श है। अतएव मनुष्य जितना ही अपने आपको समाज की इच्छा के ऊपर छोड़ देता है, वह उतने ही उच्च आदर्श की ओर जाता है। जहाँ कहीं व्यक्ति और राष्ट्र की इच्छाओं में विरोध हो, वहाँ व्यक्ति को राष्ट्र की इच्छा की पूर्ति में लग जाना चाहिए। मनुष्य इस प्रकार

---

1. Pleasures. 2. Virtues. 3. Utilitarians.

अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को खोकर दूसरी व्यापक स्वतन्त्रता की अनुभूति करता है।

ग्रीन महाशय उक्त सिद्धान्त के विरोधी हैं। हीगेल के सिद्धान्त से देश के निरंकुश शासकों को लोगों की स्वतन्त्रता छीनने के लिए नैतिक आधार मिल जाता है। इससे उनकी निरंकुशता और भी बढ़ जाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और मानव समाज के नैतिक विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज मनुष्य को अपनी शक्तियों का साक्षात्कार करने के लिए अधिक-से-अधिक अवसर दे; राज्य किसी भी व्यक्ति के आचरण में तबतक हस्तक्षेप न करे, जबतक उस व्यक्ति का आचरण दूसरे व्यक्तियों के लिए हानिकर न हो। ग्रीन का कथन है कि समाज के अस्तित्व का नैतिक आधार ही प्रत्येक व्यक्ति की पूर्णता प्राप्त करने की स्वतन्त्रता देना है। नैतिक पूर्णता व्यक्तिगत वस्तु है, सामाजिक नहीं। कोई बिरला व्यक्ति ही नैतिकता के उस आदर्श को चरितार्थ करता है, जिसकी कल्पना आदर्शवादी करते हैं। नैतिक आदर्श वैयक्तिक आदर्श है। अतएव जब-तक इस आदर्श से वैयक्तिक पूर्णता की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती, तब तक वह व्यर्थ है। समाज स्वयं कोई व्यक्ति नहीं है, और व्यक्तियों की पूर्णता के अतिरिक्त समाज की पूर्णता का भाव अर्थ-हीन होता है।

समाज के नैतिक विचारों में उन्नति भी समाज के श्रेष्ठ लोगों के प्रयत्न से होती है। पहले-पहल समाज इन लोगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है अथवा उनका दमन करता है; पीछे वह उनका अनुकरण करता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति समाज को प्रसन्न रखना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना ले, तो वह न तो अपने आप का कोई नैतिक विकास कर सकेगा और न समाज की उन्नति में ही किसी प्रकार की सहायता पहुँचा सकेगा। राजनैतिक दृष्टि से यह भले ही उचित हो कि व्यक्ति को अपने आप को समाज के अनुकूल बनाना चाहिए और उसकी प्रमुख सत्ता[1] का कहना मानना चाहिए। परन्तु नैतिक दृष्टि से उसे अपनी अन्तरात्मा[2] से बढ़कर किसी भी दूसरी सत्ता को न मानना चाहिए। अन्तरात्मा की आवाज को मानना उसका प्रथम कर्तव्य है। जो बात

---

1. Authority. 2. Conscience.

अन्तरात्मा कहती है और जो विवेकयुक्त[1] है, वह अन्त में न केवल अपना ही, वरन् मनुष्य मात्र का लाभ करती है।

आदर्शवाद में अनिवार्य आज्ञा[2] का स्थान—आदर्शवाद अनिवार्य आज्ञा के सिद्धान्त में विश्वास करता है। परन्तु यह सिद्धान्त कांट के अनिवार्य आज्ञा के सिद्धान्त से कुछ भिन्न है। कांट के कथनानुसार नैतिकता का नियम ही अन्तरात्मा की प्रेरणा के रूप में आता है। यही प्रेरणा अनिवार्य-आज्ञा बन जाती है। आदर्शवाद के कथनानुसार अन्तरात्मा किसी विशेष नियम के अनुसार चलने की प्रेरणा हमारे भीतर उत्पन्न नहीं करती, वरन् वह प्रत्येक मनुष्य में अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। यही प्रेरणा अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को सदा पहले से उत्तम बनाने की प्रेरणा का अनुभव करता है। इस प्रेरणा को मानना ही उसका मुख्य कर्तव्य है। इस प्रेरणा के अनुसार चलने में उसके सामने जितनी कठिनाइयाँ आती हैं उनका स्वागत वह प्रसन्नतापूर्वक करता है।

कांट महाशय के विचारानुसार मनुष्य के आचरण का मापदण्ड सब समय के लिए निश्चित है। पर आदर्शवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का मापदण्ड उसके मानसिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। जितनी उदारता की आशा हम एक शिक्षक से करते हैं, उतनी संसार के एक साधारण व्यक्ति से नहीं करते। इसी प्रकार जितना आत्म-संयम एक भिक्षु के लिये अनिवार्य है, उतना आत्म-संयम सामान्य गृहस्थ के लिये अनिवार्य नहीं है। मनुष्य के नैतिक आदर्श का विकास धीरे-धीरे होता रहता है। अपने लौकिक जीवन में कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता कि उसने नैतिकता के अन्तिम आदर्श की प्राप्ति कर ली है। जब कोई मनुष्य एक स्थान तक पहुँच जाता है, तो वह आगे के स्थान को प्राप्त करने की प्रेरणा की अनुभूति अपने आप करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के कर्तव्यों का विकास होता रहता है। ये कर्तव्य उसके आदर्श के परिवर्तन के साथ प्रकट होते रहते हैं।

---

1. Rational. 2. Categorical Imperative.

आदर्शवाद की प्रगतिशीलता[1]—आदर्शवाद एक प्रगतिशील विचार है। यहाँ प्रगति का अर्थ किसी विशेष लक्ष्य की ओर जाना है। लक्ष्य परिवर्तित होता है, पर यह परिवर्त्तन अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में साधक होता है। प्रगति का अर्थ केवल नवीन पथ पर चलना ही नहीं है; इसका अर्थ अपने लक्ष्य की ओर जाना है। जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे उसका लक्ष्य अधिक ऊँचा अथवा व्यापक बनता जाता है। जब मनुष्य का ज्ञान परिमित रहता है, तो उसका व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रयत्न करना क्षम्य माना जाता है। परन्तु जब उसके ज्ञान की वृद्धि होती है, तो लोकोपकार में जीवन व्यतीत करना उसका कर्तव्य हो जाता है। नैतिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति है। पर यह आदर्श स्वत्व एकाएक प्राप्त नहीं हो जाता। इसके लिए सतत् प्रयत्न करते रहना पड़ता है। जब तक मनुष्य अपने मानसिक विकास की नीची सीढ़ी को पार नहीं करता, तब तक ऊँचे लक्ष्य के लिये प्रयत्न करना उसके लिए अस्वाभाविक है। अतएव यह उसका कर्तव्य भी नहीं होता। पर जब वह एक विशेष स्थिति में पहुँच जाता है, तो फिर उसे नीची सीढ़ी के लोगों के समान आचरण करना अनुचित है। इस प्रकार वह नैतिकता के प्रतिकूल जाता है।

आदर्शवाद अधिकार भेद के अनुसार ही मनुष्य के कर्तव्य का निश्चय करता है। वह किसी अपरिवर्तनशील नियम को नैतिकता की कसौटी नहीं बनाता। इस दृष्टि से आदर्शवादी नैतिक मापदण्ड प्रगतिशील कहा जा सकता है। इसमें इच्छाओं का बहिष्कार नहीं, पर उनके विकास और प्रगतिपूर्ण शोध के लिये आदेश है।

प्रश्न

१. प्रकृतिवाद और आदर्शवाद के नैतिक सिद्धान्तों की तुलना कीजिये। आदर्शवाद के मुख्य तत्त्व क्या हैं?

२. प्लेटो महाशय के आदर्शवाद को स्पष्टतः समझाइये। उनके अनुसार भलाई का स्वरूप क्या है?

---

1. Dynamic character.

३. प्लेटो महाशय के अनुसार सद्गुण का आधार क्या है ? क्या मनुष्य में स्वभावतः ही सद्गुणों की ओर प्रवृत्ति होती है ?

४. प्लेटो महाशय ने मनुष्य के मुख्य सद्गुण कौन-कौन बताये हैं ? इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

५. मनुष्य के सद्गुणों के विकास में सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता को स्पष्टतः दर्शाइये। प्लेटो महाशय के कथनानुसार सुव्यवस्थित समाज कौन-सा है ?

६. आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य के नैतिक आचरण का क्या लक्ष्य है ? आदर्शवादी मापदण्ड को स्पष्टतः समझाइये।

७. आदर्शवाद में तप और त्याग को मनुष्य के नैतिक आचरण में क्या स्थान दिया है ? क्या आदर्श तपस्वी को आदर्श नैतिक व्यक्ति माना जा सकता है ?

८. ग्रीन महाशय ने नैतिक आदर्श के लक्ष्य क्या माने हैं ? उन्हें स्पष्टतः समझाइये।

९. आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति और समाज का आपस में क्या सम्बन्ध होना चाहिये ? इस विषय में हीगेल और ग्रीन महाशय के विचारों की तुलना कीजिये और उनके विचारों की आलोचना भी कीजिये।

१०. आदर्शवाद में अनिवार्य आज्ञा का क्या स्थान है ? आदर्शवाद की प्रगतिशीलता को स्पष्ट कीजिये।

———

पन्द्रहवाँ प्रकरण

समत्ववाद[1]

यूरोपीय समत्ववाद के प्रवर्तक—यूरोप में समतावाद के प्रवर्तक अरस्तू महाशय थे। समतावाद को मध्यम मार्ग भी कहा जाता है। अनेक प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों की परीक्षा करने के बाद मनुष्य समत्ववाद के सिद्धान्त को ग्रहण करता है। मनुष्य की साधारण प्रवृत्ति एकान्तता अथवा अत्यन्तता की ओर जाने की होती है। जब मनुष्य भोग-विलास में लग जाता है, तो उसी को वह अपने जीवन का सर्वस्व मान लेता है। जिस जीवन में उसे ऐन्द्रियसुख प्राप्त नहीं होते, उसे वह व्यर्थ मानता है। जब इस प्रकार के जीवन में वह अतिक्रम कर लेता है, तो फिर उसके मन में इन्द्रिय-सुख के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। जिस व्यक्ति के मन में ऐन्द्रिकसुख के प्रति घृणा आ जाती है, वह इन्द्रिय-सुख के त्यागने में ही जीवन की मौलिकता देखने लगता है। फिर उसके मन में त्याग की धुन सवार हो जाती है। वह जितना ही अधिक सांसारिक सुख का त्याग कर सकता है और अपने शरीर को जितना ही अधिक कष्ट दे सकता है; उतना ही अधिक सन्तोष पाता है। फिर शारीरिक तप के जीवन को ही सर्वोच्च जीवन माना जाता है।

जिस समय यूनान में अरस्तू महाशय का जन्म हुआ, उस समय यूनान अपने वैभव की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यूनान से बढ़कर संस्कृति यूरोप के किसी देश में न थी। एक ओर यूनान में धन-सम्पत्ति की वृद्धि थी और दूसरी ओर वहाँ पर त्यागी-तपस्वी महात्माओं का भी जन्म हुआ था। अरस्तू के पूर्व महात्मा सुकरात, प्लेटो, ऐटेस्थनीज और डाइज़नीज़ अपने विचारों का प्रचार कर चुके थे। इस समय यूनान में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं

---

1. Standard as Golden Mean.

एक विचार-धारा के अनुसार विषय-सुख को वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाता था, और दूसरे विचार के अनुसार त्याग के जीवन को। विषय-भोगी लोग त्याग और और तपस्या के जीवन को कुत्ते का जीवन कहते थे। वे महात्मा सुकरात और डाइज़नीज़ जैसे महात्माओं की अनेक प्रकार से खिल्लियाँ उड़ाया करते थे। इसके विरुद्ध तपस्वी लोग अपने ही जीवन को सर्वोत्तम जीवन मानते थे और विषय-भोग में लगे हुए जीवन को सुअर का जीवन मानते थे। दोनों ओर अतिक्रम की प्रवृत्ति पायी जाती थी। इसी समय अरस्तू का उदय हुआ।

अरस्तू महाशय ने उक्त दो विरोधी विचारधाराओं में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की। उनकी शिक्षा का मुख्य सिद्धान्त यह था कि न तो इन्द्रिय-सुख में सब समय रमण करते रहना भला है, और न उनका सम्पूर्ण त्याग ही कर देना। दोनों से ही मनुष्य सुखी न होकर दुखी ही होता है, और वह मानवता के लक्ष्य को प्राप्त न कर उससे गिरता है।

अरस्तू महाशय के अनुगामी अनेक विद्वान हुए। जब यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ, तो इस समतावाद के सिद्धान्त को यूरोप के लोग भूल गये। हज़रत ईसा की मुख्य शिक्षा यह थी कि मनुष्य को शारीरिक सुखों का त्याग करना चाहिए। जो व्यक्ति जितना ही अधिक शारीरिक सुखों का त्याग कर सकता है, वह उतना ही महान है। स्वयं उन्होंने अपना शरीर क्रास (शूली पर) के ऊपर चढ़ कर छोड़ा और अपने शिष्यों के प्रति उनका आदेश था कि वे शूली पर चढ़ने के लिए सदा तैयार रहें। अतएव मध्यकाल में जब कि यूरोप में ईसाई धर्म का जोरों से प्रचार था तब लोगों ने शारीरिक क्लेश को अपने जीवन का आदर्श बना लिया था। जो व्यक्ति अपने शरीर को जितना ही अधिक क्लेश देता था, वह उतना ही बड़ा संत समझा जाता था।

उक्त तपस्यावाद की प्रवृत्ति का अन्त आधुनिक युग के आने के साथ-साथ हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों की वृद्धि और नये देशों की खोज के साथ-साथ मनुष्यों में भोगेच्छाएँ प्रबल हो गईं और अब वे सांसारिक भोगों को भोगना ही सर्वोत्तम वस्तु मानने लगे। जब भोग के विचारों का संघर्ष तप के विचारों के साथ हुआ, तो फिर से समतावाद के विचारों का प्रचार होने लगा। वर्तमान समय में समतावाद के विचारों का प्रचार दार्शनिक लोग उतना नहीं कर रहे हैं,

जितना कि साहित्यिक लोग करते हैं। वर्तमानकाल के समतावाद के प्रचारकों में मांटेग, जार्ज इलियट, फाइट, और प्रोफेसर ह्वाइटहेड महाशय हैं।

समत्ववाद की विशेषताएँ—समत्ववाद को नीति-शास्त्र के आधुनिक विद्वान मानवतावाद[1] भी कहते हैं। मानवतावाद में मनुष्य के स्वभाव के सभी अंगों पर ध्यान रखा जाता है। मानवतावाद के कथनानुसार नीतिशास्त्र के दूसरे मतों में मनुष्य के स्वभाव के किसी विशेष अंग को महत्ता दे दी जाती है, और दूसरे अंग की अवहेलना की जाती है। सुखवाद मनुष्य के रागद्वेषात्मक अंग को अधिक महत्व देता है और विवेकवाद उसके चिन्तन करने के अंग को अधिक महत्व देता है। सुखवाद में मनुष्य के विवेकात्मक अंग की अवहेलना होती है और विवेकवाद में उसके रागद्वेषात्मक पहलू की मानवता-वाद अपने नैतिक आदर्श में दोनों अंगों को उचित स्थान देता है।

मानवतावाद सब प्रकार की धार्मिक मान्यताओं से मुक्त है। अन्तः अनुभूतिवाद[2] में इस प्रकार की मान्यताओं का बाहुल्य पाया जाता है। मानवतावादमें ईश्वर की आज्ञा अथवा अन्तरामा की आवाज आदि बातों को स्थान नहीं है। यह शुद्ध विचार के ऊपर आधारित है।

नैतिक आचरण का लक्ष्य—अरस्तू महाशय के कथनानुसार नैतिक आचरण का लक्ष्य मनुष्य के सामान्य अनुभव के बाहर नहीं है। प्लेटो का कथन था कि जिस शिव भाव को मनुष्य को प्राप्त करना है, वह उसके सांसारिक अनुभव में नहीं पाया जाता। मनुष्य अपने सामान्य अनुभव में जिस कल्याण को देखता है, वह वास्तविक कल्याण की नकल अथवा छायामात्र है। अरस्तू महाशय अपने गुरु प्लेटो के समान आदर्शवादी नहीं थे; वे वास्तविकतावादी थे। उनका कथन है कि मनुष्य को अपने नैतिक आचरण का लक्ष्य किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति को बनाना चाहिए, जो उसकी पहुँच के भीतर हो। अपने स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त करना ही नैतिक आचरण का लक्ष्य हो सकता है।

अब प्रश्न आता है कि मनुष्य अपने स्वभाव की पूर्णता को कैसे प्राप्त कर सकता है। इसके लिये मनुष्य के विशेष गुण को देखना होगा। मनुष्य का

---

1. Humanism. 2. Intuitionism.

विशेष गुण मनुष्य की व्याख्या से ही जाना जा सकता है। अरस्तू महाशय ने मनुष्य को "विचारवान प्राणी" कहा है। जब तक मनुष्य में विचार नहीं आता, तब तक उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में वह केवल जानवर ही रहेगा। मनुष्य की पूर्णता उसके ऐसे गुण की वृद्धि में नहीं देखी जायगी, जो दूसरे प्राणियों से भिन्न है। अतएव विचार की वृद्धि में ही मनुष्य की पूर्णता होती है।

विचार के दो अंग हैं—एक ओर विचार मनुष्य के सच्चे ज्ञान की वृद्धि करता है, और दूसरी ओर वह उसकी रागात्मक वृत्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त करता है, अर्थात् वह मनुष्य के पाशविक स्वभाव को नियंत्रित करता है। सदासद् का निर्णय करने वाला विचार विवेक कहलाता है।

आदर्श जीवन उस व्यक्ति का है, जो सदा ज्ञान-विज्ञान में अपने आप को लगाये रखता है। नित्यप्रति अपने को ज्ञान-विज्ञान में लगाए रखनेवाले व्यक्ति को सदा चिन्तन करने की आदत पड़ जाती है। फिर ज्ञान-विज्ञान स्वयं आनन्ददायक हो जाते हैं। अपने आप पर नियंत्रण रखना आदर्श जीवन के लिये आवश्यक है। परन्तु आदर्श जीवन में सुख का सर्वथा त्याग नहीं है। शारीरिक क्लेश का जीवन आत्म-विजय की स्थिति को नहीं दर्शाता। आत्म-विजय की स्थिति सहज स्थिति है। इस स्थिति में मनुष्य जो त्याग करता है और वह जो कष्ट सहता है वे सहज भाव से होते है। उनसे मनुष्य को प्रसन्नता आती है।

मध्यम-मार्ग का सिद्धान्त—अरस्तू महाशय की नैतिक शिक्षा का सबसे महत्व का अंग मध्यम-मार्ग का अनुसरण है। मनुष्य में अपने स्वभाव की खूबियों, सद्गुणों अथवा शक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब वह मध्यममार्ग का पालन करते हुए किसी प्रकार का आचरण करता है। किसी भी प्रकार का नैतिक सद्गुण किसी प्रकार की कमी अथवा अतिक्रम से नष्ट हो जाता है।

जब कोई मनुष्य अपने जीवन में अधिक त्याग को दर्शाता है, तो वह उस त्याग से परेशान हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक दान देने की चेष्टा करता है, वह दान से भी ऊब जाता है। जो व्यक्ति किसी काम को करने के लिये इतना परिश्रम करता है कि वह उससे अत्यन्त थकित हो जाता है, तो वह अपने कार्य को भार-रूप में देखने लगता है। ऐसी मानसिक अवस्था में त्याग, दान अथवा उद्योगशीलता के प्रति द्वेष भावना उत्पन्न हो जाती है।

इस द्वेष-भावना के कारण मनुष्य के मन में स्वभावतः त्याग, दान अथवा उद्योग-शीलता नहीं आती, वरन् वह उनके विरुद्ध हो जाता है। मनुष्य को फिर प्रयत्न-पूर्वक उक्त भले कामों को करना पड़ता है। किसी मनुष्य में किसी प्रकार के सद्गुण की जड़ तब तक नहीं जम सकती, जब तक वह उस सद्गुण-सम्बन्धी आचरण को प्रसन्नता से नहीं करता। जिस त्याग, दान अथवा उद्योग में आनन्द की अनुभूति नहीं होती, वे त्याग, दान और उद्योग मनुष्य के स्वभाव के अंग नहीं बनते; अर्थात् उनके अनुसार आचरण मनुष्य सहज रूप से नहीं करता और वे आदत का रूप धारण नहीं करते।

इस प्रकार देखा जाता है कि किसी प्रकार के भले आचरण में अतिक्रम करने से वह मनुष्य में सद्गुण की उत्पत्ति नहीं करता। किसी प्रकार के सद्गुण की उत्पत्ति अभ्यास का परिणाम है। सद्गुण मनुष्य के उस अभ्यास का नाम है, जो विवेक-युक्त है और जिसके अनुसार काम करते समय मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है। सद्गुण के प्राप्त करने में मनुष्य को पहले-पहल अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेना पड़ता है, अर्थात् पहले-पहल भला आचरण प्रयत्न-पूर्वक किया जाता है। फिर बार-बार भला आचरण करने से उस आचरण के संस्कार मनुष्य के मन में दृढ़ हो जाते हैं। इस प्रकार एक नये स्वभाव की सृष्टि हो जाती है। जब किसी मनुष्य का आचरण अभ्यास (आदत) का रूप धारण कर लेता है, तब वह आनन्ददायक बन जाता है। फिर भले आचरण को चरितार्थ करना सरल हो जाता है। इस प्रकार की आनन्ददायिनी भली आदत को ही सद्गुण कहते हैं। साधारणतः मनुष्य अपनी मूल-प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करने में आनन्द की अनुभूति करता है, परन्तु जब बार-बार विवेक-युक्त अर्थात् भले आचरण को करने के कारण उसमें भली आदतें बन जाती हैं, तो वह विवेक-युक्त आचरण में ही आनन्द की अनुभूति करने लगता है। फिर ऐसे व्यक्ति के लिये विवेक-युक्त आचरण उतना ही सुखदायी और सरल होता है, जितना कि साधारण मनुष्य के लिये नैसर्गिक (प्राकृतिक) आचरण। ऐसा व्यक्ति ही सद्गुणी व्यक्ति कहलाता है। इस सद्गुण की अवस्था को प्राप्त करने के लिये अपने स्वभाव पर धीरे-धीरे विजय प्राप्त की जाती है। किसी प्रकार के उतावलेपन से अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त नहीं होती, वरन् अतिक्रम के

परिणाम-स्वरूप मनुष्य के मन में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है कि उसके सद्गुण थोड़े ही काल में दुर्गुणों के रूप में परिणत हो जाते हैं। अतिक्रम का एक परिणाम यह होता है कि अपने सद्गुणों को दूसरों के समक्ष प्रदर्शित करने का भाव मनुष्य में बढ़ जाता है। वह लोक-प्रशंसा का लोलुप बन जाता है। ऐसी मानसिक अवस्था में वह किसी प्रकार के सद्गुण को तभी तक धारण किये रहता है, जब तक संसार के लोग उसके उन सद्गुणों की प्रशंसा करते रहते हैं। जब वह इस प्रशंसा में कमी देखता है, तो वह अपने सदाचार से निराश हो जाता है। ऐसे मनुष्य को फिर अपने भले काम के लिये अनेक प्रकार की आत्म-भर्त्सना होने लगती है। यह आत्म-भर्त्सना नैतिकता में उसे उतना ही नीचे गिरा देती है, जितना कि वह पहले नैतिकता में बढ़ा-चढ़ा दिखाई देता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी प्रकार का अतिक्रम मनुष्य की ठोस नैतिकता अथवा स्थायी सद्गुण का जनक नहीं है। इससे मनुष्य के अभिमान की वृद्धि होती है और उसका स्वभाव चंचल बनता है। उसका मन सदा डाँवाडोल की अवस्था में रहता है और उसमें इच्छा-शक्ति की दृढ़ता नहीं आती।

समतावाद और आदर्शवाद—यदि ऊपरी दृष्टि से देखा जाय, तो समतावाद और आदर्शवाद में बहुत विरोध दिखलाई देता है। आदर्शवाद मनुष्य को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिये अधिक-से-अधिक प्रेरणा देता है, और समतावाद अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिये उतनी ही प्रेरणा देता है; जितना कि मनुष्य सहज रूप से प्राप्त कर सकता है। सभी प्रकार का आदर्शवाद तप के जीवन को महत्त्व देता है। समतावाद तप के जीवन को उतना ही त्याज्य समझता है, जितना कि भोग के जीवन को। आदर्शवाद में आनन्द को उतना महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया है, जितना कि समतावाद में है। काण्ट के आध्यात्मवाद में, जो कि एक प्रकार का आदर्शवाद है, सांसारिक सुख को मानव-जीवन की पूर्णता में कोई स्थान नहीं दिया गया है। जो व्यक्ति अपने आचरण में सुख की भावनाओं के प्रति जितना ही अधिक अवहेलना दिखलाता है और जो कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिये करता है, वह उतना ही महान् कहलाता है। समतावाद इस विचार का समर्थक नहीं है। वह मनुष्य के

जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिये सुख की अनुभूति को भी आवश्यक समझता है।

परन्तु समतावाद की उक्त धारणा का यह अर्थ लगाना अनुचित होगा कि समतावाद आदर्शवाद का विरोधी है और समतावाद में आत्म-संयम और तप के लिए स्थान नहीं है। वास्तव में समतावाद मनुष्य के स्वभाव के क्रमिक विकास का प्रतिपादन करता है। समतावाद इस सत्य में विश्वास करता है कि विवेक के द्वारा अपने पाशविक स्वभाव पर विजय प्राप्त करने से सद्गुण उत्पन्न होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक विवेकी है और जो जितना ही स्थायी रूप से अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह उतना ही सद्गुणी है। समतावाद मनुष्य के समक्ष एक व्यावहारिक और प्रगतिशील नैतिक सिद्धान्त को रखता है। जो जितना ही अधिक स्थायी रूप से किसी सद्गुण को प्राप्त कर लेता है, वह उतना ही भला व्यक्ति है।

प्रगतिशील समत्व—उपरस्तू महाशय ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और अपने आचरण में किसी प्रकार का अतिक्रम न होने देना चाहिए। परन्तु यह मध्यम मार्ग सभी लोगों के लिए नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव और योग्यता के अनुसार अपने मध्यम मार्ग को खोजना पड़ेगा। जो मध्यम मार्ग एक गृहस्थ के लिये ठीक है, वही एक साधु के लिए ठीक नहीं है। हम त्याग की जितनी आशा एक संन्यासी से करते हैं, उतनी एक गृहस्थ से नहीं करते। उसी प्रकार जितने साहस एवं वीरता की आशा हम एक योद्धा से करते हैं, उतने साहस की आशा एक दूकानदार से नहीं करते। जितने साहस को हम एक योद्धा में सद्गुण कहेंगे, उतने साहस को एक दूकानदार में धृष्टता कहा जायेगा। इसी प्रकार जितना आत्म-सैयम किसी पुरोहित अथवा शिक्षक के लिए आवश्यक समझा जाता है, उतना आत्म-संयम किसी कलाकार और अभिनेता के लिये आवश्यक नहीं समझा जाता। **अरस्तू महाशय का कथन है कि** अन्दर ठीक मात्रा में साहस, इच्छा, दया, धैर्य एवं सुख-दुःख आदि की अनुभूति करना मध्यम मार्ग का **अनुसरण है।** इनकी अनुभूति में न बहुत आधिक्य होना चाहिए, और न बहुत कमी; और यह अनुभूति ठीक समय पर होनी चाहिए। इन भावों का ठीक समय एवं ठीक परिस्थिति में,

ठीक मनुष्यों के प्रति ठीक उद्देश्य और ठीक तरह से प्रकाशित करना ही मध्यम मार्ग है, और यही सद्गुण लक्षण हैं।*

मध्यम मार्ग की परख—ऊपर मध्यम मार्ग के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग को जान लेना सामान्य व्यक्ति के लिये इतना सरल काम नहीं है, जितना कि वह ऊपर से दिखाई देता है। पुरोहित, किसान, व्यापारी और सिपाही के मध्यम मार्ग भिन्न-भिन्न होने के कारण यह जानना बड़ा कठिन है कि किस व्यक्ति का मध्यम मार्ग क्या है? मध्यम मार्ग केवल मनुष्य के स्वभाव और कर्तव्य के अनुसार ही नहीं; बल्कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार भी बदलता रहता है। इससे उसको खोज निकालना और भी कठिन होता है। ऐसी अवस्था में मध्यम मार्ग का निर्णय कैसे किया जाए?

इस प्रश्न के उत्तर में अरस्तू महाशय का कथन है कि मनुष्य को मध्यम मार्ग को खोजने के लिए समाज के विवेकशील लोगों के आचरण को देखना

---

* The golden mean of moral action is not to be thought of as midway of between two extremes. Its position in relation to the extreme will vary according to circumstances. More courage is required of a soldier than of a shop keeper; the courage of the soldier will bear more resemblance than of the shopkeeper. Similarly, the temperance of a priest or teacher ought to be some what closer to in sensibility while that of an artist or actor might permisively lean a little more to the side of licentiousness."

One can feel fear, courage, desire, anger and pity as well as pleasure and pain generally, either too much or too little, and in-either case wrongly, but to have these feelings at the right time and on the right occasion and towards the right persons and with a right aim in view and in a right manner—this is middle way and the best, and this is the mark of virtue.

Nichomachean Ethics Book 2nd, Ch. 6th.

चाहिए और उनके परामर्श के अनुसार अपना आचरण बनाना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि हम समाज के किस व्यक्ति को विवेकी समझें और किसे न समझें ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता को नहीं दर्शाता, वही विवेकी है। परन्तु यह उत्तर संतोषप्रद नहीं है, अतएव नैतिकता के निर्णय के लिए हमें पुनः आदर्शवाद की शरण लेनी पड़ती है।

समतावाद की देन—हमने ऊपर समतावाद के सिद्धान्त की मुख्य बातों को बतलाया है और आदर्शवाद से उसकी तुलना भी की है। समतावाद मनुष्य को आदर्श की ओर ले जाता है, अतएव आदर्शवाद के अभाव में समतावाद अर्थहीन हो जाता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक होता है, जब वह केवल जीवन के सुख के उपभोग के लिये नहीं, वरन् आन्तरिक पूर्णता अर्थात् किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति के लिये जीता है। किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा में कष्ट उठाना, इन्द्रिय-निग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। अतएव किसी प्रकार के नैतिक विचार सांसारिक सुख के जीवन को नैतिक जीवन सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये समतावाद को भी आदर्शवाद की ओर जाना पड़ता है।

परन्तु समतावाद मनुष्य को आदर्श-प्राप्ति का सुगम मार्ग बतलाता है। यदि हम समतावाद को व्यावहारिक आदर्शवाद कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन महात्माओं ने मध्यममार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है और भोग तथा तप दोनों प्रकार के अतिक्रम को बुरा बताया है, उन्होंने यह कदापि नहीं कहा है कि यदि किसी मनुष्य को सांसारिक भोगों के त्याग में ही आनन्द मिलता है और इससे यदि वह किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं करता है, तो उसे भोग के जीवन को स्वीकार करना ही चाहिये। त्याग का जीवन मनुष्य के आदर्श स्वत्व को भोग की अपेक्षा अधिक प्रदर्शित करता है। भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग को नैतिक जीवन की कसौटी बनाया है और उन्होंने उसे ही सर्वोत्तम मार्ग बताया है। उनके इस कथन का इतना ही अर्थ है कि कोई भी मनुष्य अपने मन की अपरिपक्व अवस्था में सांसारिक जीवन और उसके भोगों का त्याग न करे। वह अपनी क्षमता के अनुसार ही किसी प्रकार के तप और त्याग का अभ्यास करे जिससे उसे इस प्रकार

के जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न न हो। परन्तु जो लोग सांसारिक जीवन को समझ-बूझकर छोड़कर भिक्षु बन गये हैं, भगवान बुद्ध ने उन्हें पुनः गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने का परामर्श नहीं दिया। उन्हें भिक्षु-जीवन के कठोर नियमों के लिये प्रोत्साहित किया।

सत्पथ की खोज के लिये स्वयं भगवान बुद्ध ने महान् त्याग और तपस्या किए थे। जब कई वर्षों के सतत् परिश्रम के फलस्वरूप उन्होंने इस मार्ग को खोज लिया और इसे मध्यम मार्ग कहा, तो उन्होंने इन्द्रियों का अत्यधिक दमन करना छोड़ दिया, किन्तु युवावस्था में होते हुए भी उन्होंने पुनः गार्हस्थ्य जीवन को स्वीकार नहीं किया। वे भिक्षु ही बने रहे। इससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग केवल असामयिक तप और त्याग को उपादेय नहीं मानता है, परन्तु यह भोग के जीवन का समर्थक नहीं है। मध्यम मार्ग हमें विशेष आदर्श की ओर ले जाता है। अतएव हम इसे आदर्शवाद का एक विशेष प्रकार का संस्करण कह सकते हैं। मध्यम मार्ग वास्तव में व्यावहारिक आदर्शवाद है।

प्रश्न

१. समत्ववाद के सिद्धान्त के मुख्य अंग क्या हैं? इस सम्बन्ध में अरस्तू महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

२. अरस्तू महाशय के अनुसार नैतिक आचरण का लक्ष्य क्या है? उन्होंने सद्गुणी मनुष्य किसको कहा है? सद्गुण की प्राप्ति कैसे होती है?

३. समत्ववाद और आदर्शवाद की तुलना कीजिए। समत्ववाद के द्वारा मनुष्य की नैतिक प्रगति कैसे हो सकती है?

४. समत्ववाद में मध्यममार्ग की परख क्या है? यह मध्यममार्ग भिन्न-भिन्न लोगों के लिये किस प्रकार बदलता है?

———

सोलहवाँ प्रकरण

मूल्यवाद[1]

मूल्य के मापदंड की विशेषता—मूल्य का मापदंड उस आचरण को भला आचरण मानता है, जो हमें किसी मूल्यवान पदार्थ की प्राप्ति की ओर ले जाता है। यह विचार बहुत पुराना विचार है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार निःश्रेय की प्राप्ति ही नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य है। निःश्रेय वह वस्तु है, जिससे अधिक मूल्यवान वस्तु और कुछ भी नहीं है। यह निश्रेय वस्तु क्या है? इसके विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु जो भी व्यक्ति मूल्य की प्राप्ति को नैतिकता का मापदंड मानता है, वह इतना तो आवश्य मानता है कि मूल्य कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। यह वास्तविक जगत में रहनेवाला एक तत्त्व है। और इस तत्त्व को प्राप्त करना मनुष्य के पुरुषार्थ का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस माप-दंड के माननेवाले लोग किसी कार्य को न तो अपने आप में, भला और न बुरा ही समझते हैं। इसी प्रकार किसी विशेष नियम का पालन करना न बुरा, और न भला ही समझा जाता है। किसी कार्य की भलाई चतुराई इस बात पर निर्भर है कि उस अन्तिम मूल्य की प्राप्ति में वह मनुष्य की कहाँ तक सहायता करती है, जिसको प्राप्त करना उसके पुरुषार्थ का हेतु है। इसी प्रकार जो नियम हमें इस अन्तिम मूल्य की ओर ले जाते हैं, वही नियम हैं; और जो हमें इस मूल्य से वंचित करते हैं, वही नियम बुरे कहे जाएँगे।

मूल्य का अर्थ—जब "मूल्य" शब्द कहा जाता है, तब साधारतः हमारे मन में पैसे का ध्यान आ जाता है, और हम मूल्यवान वस्तु उस वस्तु को समझते हैं, जो मनुष्य की किसी-न-किसी इच्छा की तुष्टि करती है। इस तरह

---

1. Standard as value.

हम रोटी या दिन भर के श्रम अथवा किसी चित्र के मूल्य की बात को समझते हैं। सभी वस्तुओं का मूल्य सभी लोग एक-सा नहीं लगाते। कुछ लोग किसी वस्तु का कम मूल्य करते हैं, और किसी का अधिक। इससे यह स्पष्ट है कि जो वस्तु उन्हें किसी प्रकार का सन्तोष देती है, उसे प्राप्त करने में उन्हें आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार उक्त वस्तु की प्राप्ति से वे अपनी कमी को पूर्ण करते हैं।

मूल्यवान वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे, जो मनुष्य को स्वयं सन्तोष दें, जिनके प्राप्त करने से मनुष्य अपने आप में किसी प्रकार की कमी को दूर होते हुए देखे और पूर्णता की अनुभूति करे; इन दो प्रकार की मूल्यवान वस्तुओं अथवा मूल्यों को दो भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है; एक साधक मूल्य और दूसरा तात्विक मूल्य। कलम अथवा मकान में साधक मूल्य है, और जीवन (जिसको कि पुष्ट करने के सब साधन हैं) साध्य मूल्य अथवा तात्विक मूल्य है। अब प्रश्न आता है कि संसार में ऐसी कौन-सी वस्तुएँ हैं, जो सच्चा सात्विक मूल्य रखती हैं।

कांट महाशय के कथनानुसार शुभ इच्छा ही तात्विक मूल्य रखनेवाली वस्तु है। संसार में जितनी दूसरी वस्तुएँ हैं, वे इस दृष्टि से मूल्यवान कही जा सकती हैं कि वे हमें इस अन्तिम मूल्य की ओर ले जाती हैं। शुभेच्छा, और शुभ भावना के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरी वस्तु तात्विक मूल्य नहीं रखती, उसमें केवल साधन मूल्य हो सकता है। उदाहरणार्थ सुख को लीजिए। सुख में किसी प्रकार का मूल्य तभी रहता है, जब वह भली इच्छा की वृद्धि करता है। भली इच्छा अथवा भली भावना अपने आप में मूल्य रखती है और जिस वस्तु से उसका संसर्ग रहता है, उसे भी मूल्यवान बना देती है।

सिजविक महाशय के कथनानुसार सुख ही वास्तव में मूल्यवान वस्तु है। उसी में तात्विक मूल्य है, दूसरी सभी वस्तुओं में साधक मूल्य है। हम संसार की अन्य वस्तुओं को इसीलिए चाहते हैं कि वे हमारे सुख की वृद्धि कर दें। लोग घर-द्वार, पैसा-रुपया, स्त्री और बाल-बच्चे इसीलिए चाहते हैं कि ये वस्तुएँ मनुष्य के सुख की वृद्धि करती हैं। सुख स्वयं मूल्य रखनेवाला पदार्थ है। दूसरे पदार्थ

सुख-प्राप्ति के साधन होने के कारण ही मूल्यवान हैं। कुछ दूसरे लोगों ने दूसरे ही पदार्थों को स्वतः मूल्य रखनेवाला कहा है। किसी ने सौन्दर्य को तो किसी ने विवेक, प्रेम, सत्य, स्वतन्त्रता और जीवन आदि पदार्थों को तात्विक मूल्य रखनेवाले पदार्थ बताएँ हैं। इन विचारों से मूल्य शब्द का अर्थ निश्चित होता है। जिन वस्तुओं में तात्विक मूल्य होता है, वे अपने आप में मूल्य रखती हैं। वे किसी दूसरी मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति में साधन मात्र नहीं होतीं।

जब हम मूल्य शब्द के अर्थ को निश्चित करते हैं, तो हमें दो बातों का पता चलता है—पहले तो यही कि प्रत्येक मूल्यवान वस्तु का प्राप्त करना मनुष्य को संतोष देता है, उसके मन में आनन्द उत्पन्न करता है, और उसकी प्राप्ति से उसे प्रसन्नता होती है। परन्तु इसका अर्थ यह न मान लेना चाहिए कि किसी वस्तु का मूल्य इसीलिए है क्योंकि वह सुख देती है; और सुख ही अन्तिम मूल्य की वस्तु है। मूल्यवान वस्तु के प्राप्त होने पर सुख अथवा प्रसन्नता होती है, इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सुख ही तात्विक मूल्य की वस्तु है, युक्तिसंगत नहीं है। किसी परीक्षार्थी को अपनी परीक्षा पास करने में सुख होता है और उसके मन में प्रसन्नता आती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख की प्राप्ति करना ही परीक्षार्थी का अन्तिम उद्देश्य है, परीक्षा पास करना उसका साधन मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता विवेक-युक्त विचार में ही चाहता है। जहाँ तक उसे यह पूर्णता प्राप्त होती है, वहाँतक वह सुखी होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के प्रयत्न का लक्ष्य सुख-प्राप्ति नहीं, वरन् पूर्णता की प्राप्ति है; और तात्विक मूल्य की वस्तु सुख नहीं, अपितु पूर्णता है। दूसरी बात उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट होती है कि किसी व्यक्ति की प्रसन्नता पर ही किसी वस्तु का तात्विक मूल्य निर्भर नहीं करता। एक शराबी शराब पाकर खूब प्रसन्न होता है। यदि उसे आत्मोद्धार की एक पुस्तक दी जाए अथवा उसे कोई सुन्दर दृश्य दिखलाया जाय, तो उसे उतनी प्रसन्नता न होगी। इसका अर्थ कदापि यह न मान लेना चाहिये कि आत्मोद्धार अथवा सुन्दर दृश्य में शराब की अपेक्षा कम तात्विक मूल्य है। जब मूल्य शब्द का प्रयोग मानव-विचार में किया जाता है, तो उसका अर्थ केवल मनुष्य के किसी समय सन्तोष देनेवाली वस्तु नहीं होता। ऐसी स्थिति में उस वस्तु को तात्विक दृष्टि से मूल्यवान् माना जाता है, जो मनुष्य की उस परिस्थिति में भली दिखलाई देती है,

जब कि उसका विवेक पूर्णतः जाग्रत है। अतः हम तात्विक वस्तु की परिभाष इस प्रकार कर सकते हैं कि वह विवेकशील व्यक्ति की इच्छित वस्तु होती है। विवेक वैयक्तिक वस्तु नहीं, बल्कि एक व्यापक भाव है। अतएव जिस वस्तु को एक विवेकशील व्यक्ति मूल्यवान मानता है, उसे सभी विवेकी पुरुष मूल्यवान मानते हैं।

मूल्यसे नैतिक भलाई एवं बुराई का भी सम्बन्ध है। मूल्य शब्द सापेक्षभाव को दर्शाता है। किसी वस्तु का अधिक मूल्य होता है और किसी का कम। इसी प्रकार कोई वस्तु कम भली होती है, और कोई अधिक। जिस प्रकार मूल्य के दो भेद होते हैं—अर्थात् साधक मूल्य और साध्य मूल्य; उसी प्रकार अच्छाई (भलाई) दो प्रकार की होती है; एक साधक अच्छाई और दूसरी साध्य अच्छाई। जब हम कहते हैं कि यह कलम अच्छी है, यह घर अच्छा है; तो हम साधक अच्छाई की ओर लक्ष्य रखते हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि हमको अपनी भलाई की बात सोचनी चाहिए, तब हम साध्य भलाई अथवा तात्विक भलाई की ओर लक्ष्य रखते हैं। यह साध्य भलाई और साध्य मूल्य एक ही वस्तु है। जब किसी वस्तु को साधक-रूप में अच्छा समझा जाता है, तब उसका अर्थ होता है कि वह किसी विशेष प्रयोजन के लिए अच्छी है। साध्य भलाई वह है, जिससे हमारे जीवन का अन्तिम प्रयोजन सिद्ध हो।

यह बतलाना अत्यन्त कठिन है कि यह अन्तिम भलाई क्या है? अन्तिम भलाई का वर्णन पूर्ण रूप से वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे वह भलाई प्राप्त हुई है। अतएव उसका ठीक-ठीक वर्णन करना हमारे लिए अत्यन्त कठिन है। अन्तिम भलाई के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा पदार्थ है जिसकी प्राप्ति से एक विवेकशील प्राणी को संतोष होता है। यह भलाई ठीक तरह से उसी व्यक्ति से जानी जा सकती है, जो पूर्णतः विवेकी में है। यह भलाई सभी की भलाई, अर्थात् सामान्य भलाई है। अतएव जब तक किसी व्यक्ति की दृष्टि सर्व सामान्य की दृष्टि नहीं हो जाती और जब तक वह अपना तादात्म्य सभी विवेकशील प्राणियों से नहीं कर लेता, तब तक वह इस भलाई को नहीं जान सकता।

अन्तिम भलाई और नैतिक भलाई—अन्तिम भलाई वह वस्तु है, जो

अपने आप में भली है, जिसमें किसी के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की भलाई की उपस्थिति की मान्यता नीति-शास्त्र के लिये आवश्यक है। यदि संसार में कोई तात्विक भलाई न होती, तो मनुष्य का जीना ही व्यर्थ होता। किसी प्रकार के विचार अथवा आचरण के लिए अन्तिम भलाई की उपस्थिति में विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु अन्तिम भलाई नैतिक भलाई नहीं है। अन्तिम भलाई वह वस्तु है, जो अपने आप में भली है और जो विवेकशील व्यक्ति को पूर्ण सन्तोष देती है। ऐसी वस्तु का मिलना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि संसार में जितनी ही वस्तुएँ हैं। वे मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नहीं देतीं। परन्तु ऐसी वस्तु की उपस्थिति में अविश्वास भी नहीं किया जाता। नैतिक भलाई वह वस्तु है, जिसका साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य स्वयं प्रयत्न करता है। यह एक ऐसी भलाई है, जिसे मनुष्य स्वयं बनाता है और जो मनुष्य के स्वतन्त्र चुनाव पर निर्भर है। अन्तिम भलाई पूर्णता की स्थिति है, जिसे मनुष्य अपने स्वतन्त्र विचार के द्वारा चुन कर प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यदि मान लिया जाय कि संसार की सभी वस्तुएँ भली हैं और संसार की सभी परिस्थितियाँ अच्छी हैं, तो ऐसी स्थिति में नैतिक प्रयत्न के लिये कोई स्थान न रहेगा। फिर मनुष्य को मान लेना होगा कि जो कुछ होता है, सब भले के लिये होता है। ऐसी अवस्था में संसार में होने-वाली किसी घटना के प्रति उसे असंतोष प्रगट न करना चाहिये। भारतवर्ष का वेदान्त-दर्शन मनुष्य को उसी ओर ले जाता है। बहुत से कवि भी संसार की ऐसी कल्पना करते हैं, जिसमें मनुष्य के प्रयत्न के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। वे सभी वस्तुओं को भली और कल्याणकारी देखते हैं।

नैतिकता का विचार जहाँ एक ओर अन्तिम भलाई अथवा पूर्णता की कल्पना करता है, वहाँ वह यह भी कल्पना करता है कि वर्तमान स्थिति संतोष-जनक नहीं है; उसमें बहुत सी कमियाँ हैं, जिन्हें हटाना हमारा कर्तव्य है। नैतिक प्रयत्न का ध्येय इन कमियों को नष्ट करना और संसार के सौन्दर्य को बढ़ाना है। हमको यह मान कर चलना पड़ता है कि मनुष्य के जीवन अथवा उसके संसार में पूर्णता नहीं है। तथा उसका संसार पूर्णतः सौन्दर्यमय नहीं है। मनुष्य के नैतिक जीवन का अर्थ यह है कि वह असुन्दर को छोड़कर सुन्दर पदार्थ को

चुनता है और उसको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। पूर्ण भलाई पूर्ण सौन्दर्य का नाम है, और नैतिक भलाई वह है, जिसकी प्राप्ति में मनुष्य के स्वतंत्र चुनाव और प्रयत्न के लिये स्थान रहता है।

कांट महाशय के कथनानुसार संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो कि मनुष्य के चुनाव और उसके प्रयत्न के विना भली हो। उनका कथन है कि मनुष्य की शुभ इच्छा ही एकमात्र भली वस्तु है। इस कथन से तात्पर्य यह निकलता है कि जो कुछ पदार्थ संसार में भला है, वह केवल विचार और प्रयत्न पर निर्भर करता है, अर्थात् वास्तव में मनुष्य की भलाई चुनाव के विचार और उसके प्रयत्न की वस्तु है। परन्तु उसके कथन में यह बात नहीं है कि मनुष्य की शुभ इच्छा के अतिरिक्त कोई वस्तु भी है, जो अपने आप में ही शुभ है। आदर्शवादी दार्शनिकों के अनुसार भलाई की स्वतन्त्र स्थिति मानना आवश्यक है। केवल अपने प्रयत्न अथवा चुनाव मात्र को भला मानना प्रयत्न और चुनाव को ही अर्थहीन बना देना है। किसी वास्तविक भलाई के अभाव में चुनाव और प्रयत्न भले कैसे हो सकते हैं?

नैतिक भलाई और सामान्य भलाई

नैतिक भलाई सामान्य भलाई से भिन्न वस्तु है। जब हम कहते हैं कि यह गाय भली है या अच्छी है, अथवा यह तस्वीर अच्छी है या यह गाना अच्छा है, तो उसका अर्थ इतना ही होता है कि ये वस्तुयें किसी व्यक्ति को कुछ संतोष देती हैं या उनकी कुछ कीमत है। परन्तु जब हम किसी बात को नैतिक दृष्टि से भली कहते हैं, तब हमारा अर्थ यह नहीं होता कि उनकी प्राप्ति से किसी व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है। सांसारिक भली वस्तुएँ सुखद होती हैं। नैतिक भलाई, चाहे वह सुखद हो अथवा दुःखद, अपने आप में भली होती है। उसके प्राप्त करने से विवेकशील व्यक्ति को संतोष होता है। यह सम्भव है कि जिन बातों को नैतिक दृष्टि से हम भली मानते हैं, वे सुखद भी हों; परन्तु उनका सुखद होना उनके भली होने का अधिक-से-अधिक एक लक्षण मात्र हो सकता है। परन्तु कभी-कभी नैतिक दृष्टि से भली समझी जानेवाली वस्तु मनुष्य को सुख न देकर अनेक प्रकार के कष्ट ही देती है। वह इन कष्टों को प्रसन्नता के साथ सहता है। अतएव जब किसी वस्तु को हम नैतिक दृष्टि से ठीक मानलें, अथवा जब किसी व्यक्ति के आचरण को

नैतिक दृष्टि से भला मान लें, तो हमें यह कदापि न सोचना चाहिये कि वह वस्तु अथवा वह आचरण केवल हमारे सुख को बढ़ानेवाला है।

भलाई[1] और उचित[2] में भेद

नैतिक विचार को ठीक तरह से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि भलाई और औचित्य का भेद भले प्रकार से समझ लिया जाए। हम उचित कार्य उस कार्य को कहते हैं, जिसके द्वारा हम भलाई की प्राप्ति करते हैं। औचित्य और अनौचित्य साधन से सम्बन्ध रखते हैं, और भलाई तथा बुराई साध्य से। जब हम किसी कार्य को भला कहते हैं, तो हम उसका इतना ही अर्थ लेते हैं कि वह किसी भले लक्ष्य की प्राप्ति में साधक होता है। परन्तु हम अन्तिम भलाई को नहीं जानते, इसलिये किसी भी काम को पूर्णतः उचित भी नहीं कह सकते। जहां तक हम भलाई को जानते हैं, वहीं तक हम किसी काम को उचित कह सकते हैं। परन्तु हमारा व्यक्तिगत ज्ञान इस विषय में सब लोगों के ज्ञान से भिन्न हो सकता है, अतएव कभी-कभी हम उस काम को उचित काम मानते हैं, जिसे दूसरे लोग भी उचित मानते हैं, पर कभी-कभी हमारा व्यक्तिगत मत दूसरे लोगों के मतों से भिन्न होता है। साधारणतः उचित काम उस काम को कहा जाता है, जो काम सभी लोगों के विचार से उचित समझा जाता है, अर्थात् जो काम उस समय में उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सभी लोगों के द्वारा उचित समझा जाता है। सामान्य विचार भलाई की प्राप्ति में साधन होता है, परन्तु हम कभी-कभी किसी मनुष्य के ज्ञान के विशेष प्रकार की कमी अथवा उसकी विशेषता पर भी जोर देते हैं। इसके कारण जिस काम को दूसरे लोग उचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति अनुचित समझ सकता है; और जिस काम को सर्वसाधारण अनुचित समझते हैं, उसको कोई व्यक्ति उचित समझ सकता है।

वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य[3]

वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य का अर्थ—व्यक्तिगत औचित्य उसे कहते हैं, जो काम करनेवाले व्यक्ति को काम करते समय ठीक जान पड़े; और वास्तविक औचित्य उसे कहते हैं, जो कि वास्तव में कल्याण अथवा भलाई की

1. Good. 2. Right. 3. Subjective and objective rightness,

प्राप्ति में साधक हो। ऊपर से देखने पर ये भेद बड़े स्पष्ट जान पड़ते हैं, परन्तु जब हम इन पर गहरा विचार करते हैं, तो इन दोनों प्रकार के औचित्यों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है। फिर व्यक्तिगत दृष्टि से क्या उचित है, इसको मनुष्य स्वयं अपने आप नहीं जानता। वह ठीक से नहीं जानता कि जिस काम को वह कर रहा है, वास्तव में वह उसके कल्याण के लिये है अथवा नहीं। इससे भी कठिन बात यह जानना होता है कि सारे संसार की दृष्टि में कौन-सा कार्य अच्छा है तथा जिस कार्य को करने का निश्चय किया गया है, वह संसार की भलाई को बढ़ावेगा अथवा नहीं। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कल्याण के दृष्टिकोण से जिस कार्य को हम उचित समझते हैं, वह वैयक्तिक औचित्य कहा जाता है, और संसार के कल्याण को दृष्टि में रखकर जिस काम को किया जाता है, वह वास्तव में उचित कार्य है। अब हमें यह निश्चय करना है कि वैयक्तिक दृष्टि से उचित कार्य वास्तव में उचित होते हैं अथवा नहीं? दूसरे, क्या सभी कार्य वैयक्तिक दृष्टि से उचित होते हैं? और तीसरे, क्या कार्य वास्तविक दृष्टि से उचित हैं? इन प्रश्नों पर विचार करने से हम नीति-शास्त्र के बहुत से गम्भीर तत्वों पर पहुँचते हैं।

क्या वैयक्तिक औचित्य और वास्तविक औचित्य एक ही हैं— प्रत्येक कार्य को हम तभी उचित समझ सकते हैं, जब कि वह भलाई की ओर ले जावे। यह भलाई दो प्रकार की होती है। एक वह है जिसे स्वयं व्यक्ति भलाई समझता है और दूसरी वह जिसे सभी लोग भलाई समझते हैं। यहाँ यह न समझ बैठना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति किसी काम को उचित समझता है, तब वह सोचता है कि मेरी बुद्धि से एक बात भली है, पर वास्तव में दूसरी बात भली है। यदि कोई व्यक्ति वास्तविक भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई से भिन्न मानता है, तो वह जो कार्य वैयक्तिक भलाई के लिये करता है, उसे किसी प्रकार से उचित कार्य नहीं माना जा सकता। उचित कार्य तो वही कार्य है, जिसे व्यक्ति अपने विवेकानुसार सामष्टिक भलाई के लिये करता है, केवल अपने व्यक्तिगत भलाई के लिये नहीं।

अब प्रश्न आता है कि किसी विशेष मनुष्य के द्वारा समझी गई भलाई वास्तव में भलाई होती है, और जिस कार्य को व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार

उचित जान कर करता है, क्या वह वास्तव में उचित होता है? भिन्न-भिन्न नीतिशास्त्रज्ञों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार मनुष्य जो कार्य अपनी बुद्धि से भले प्रकार विचार करने के बाद उचित समझता है, वही वास्तव में भी उचित कार्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के कार्यों की भलाई और बुराई कार्य के बाहरी परिणामों से नहीं, वरन् उसके हेतुओं से मापी जानी चाहिये। इस मत के अनुसार किसी कार्य के भले अथवा बुरे परिणाम मनुष्य के हेतु पर निर्भर हैं। किसी कार्य का हेतु बुरा है, तो उसका परिणाम बुरा होता है और यदि किसी कार्य का हेतु अच्छा है, तो उसका परिणाम भी अच्छा होता है।

परन्तु इस विषय में हमारा व्यक्तिगत ज्ञान सब लोगों के ज्ञान से भिन्न हो सकता है। अतएव कभी-कभी हम उस काम को उचित मानते हैं, जिसे दूसरे लोग भी उचित मानते हैं और कभी-कभी हमारा व्यक्तिगत मत दूसरे लोगों के मत से भिन्न होता है। साधारण उचित काम उस काम को कहा जाता है, जो काम सभी लोगों के विचार में उचित समझा जाता है, अर्थात् जो काम उस समय में उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सभी लोगों के द्वारा उचित समझा जाता है, अर्थात् भलाई की प्राप्ति में साधन होता है। परन्तु हम कभी-कभी किसी मनुष्य के ज्ञान के विशेष प्रकार की कमी अथवा उसकी विशेषता पर भी ध्यान देते हैं। इसके कारण जिस काम को दूसरे लोग उचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति अनुचित समझ सकता है और जिस काम को सर्व-साधारण अनुचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति उचित समझ सकता है।

व्यक्तिगत और वास्तविक औचित्य[1]

व्यक्तिगत औचित्य उसे कहते हैं, जो कि काम करने वाले व्यक्ति को काम करते समय ठीक जान पड़े; और वास्तविक औचित्य उसे कहते हैं, जो वास्तव में कल्याण अथवा भलाई की प्राप्ति में साधक हो। ऊपर से देखने में ये भेद बड़े स्पष्ट जान पड़ते हैं, परन्तु जब हम इन पर गहरा विचार करते हैं, तो इन दोनों प्रकार के औचित्यों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है, फिर व्यक्तिगत दृष्टि से

---

1. Subjective and objective rightness.

क्या उचित है, इसको मनुष्य स्वयं अपने आप नहीं जानता। वह नहीं जानता कि जिस काम को वह कर रहा है, वास्तव में वह उसके कल्याण के लिये है अथवा नहीं। इस बात को जानना इससे भी कठिन होता है कि सारे संसार को दृष्टि में रखकर कौन-सा कार्य अच्छा है, तथा जिस कार्य को करने का निश्चय किया गया है, वह संसार की भलाई को बढ़ायेगा अथवा नहीं। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कल्याण के दृष्टिकोण से जिस कार्य को हम उचित समझते हैं, उसे व्यक्तिगत औचित्य कह सकते हैं और संसार के कल्याण को दृष्टि में रखकर जिस काम को किया जाता है, वह वास्तव में उचित कार्य है।

अब हमें यह निश्चय करना है कि क्या वैयक्तिक दृष्टि से उचित कार्य वास्तव में उचित होते हैं अथवा नहीं? दूसरे, क्या सभी कार्य व्यक्ति-गत दृष्टि से उचित होते हैं? और तीसरे, क्या सभी कार्य वास्तविक दृष्टि से उचित हैं? इन प्रश्नों पर विचार करने से नीतिशास्त्र के बहुत से गंभीर तत्वों पर हम पहुँचते हैं।

क्या व्यक्तिगत औचित्य और वास्तविक औचित्य एक हैं?—प्रत्येक कार्य को हम तभी उचित समझ सकते हैं, जब कि वह भलाई की ओर हमें ले जावे। यह भलाई दो प्रकार की होती है। एक वह है जिसे स्वयं व्यक्ति भलाई समझता है, और दूसरी वह जिसे सभी लोग भलाई समझते हैं। यहाँ यह न समझ बैठना चाहिये कि जब व्यक्ति किसी कार्य को उचित समझता है, तब वह यह सोचता है कि मेरी बुद्धि से एक बात भली है, पर वास्तव में दूसरी बात भली है। यदि कोई व्यक्ति वास्तविक भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई से भिन्न मानता हो, तो वह जो कार्य वैयक्तिक भलाई के लिये करता है, उसे किसी प्रकार से उचित कार्य नहीं माना जा सकता। उचित कार्य तो वही कार्य है, जिसे व्यक्ति अपनी समझ में जो कुछ वास्तविक भलाई है उसकी प्राप्ति के लिये ही करे; केवल अपने व्यक्तिगत हित के लिये नहीं।

अब प्रश्न आता है कि किसी विशेष मनुष्य के द्वारा समझी गई भलाई वास्तव में भलाई होती है, और जिस कार्य को कोई व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उचित जान कर करता है वह क्या वास्तव में भी उचित होता है? भिन्न-भिन्न नीतिशास्त्रज्ञों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं।

आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार मनुष्य जो कार्य अपनी बुद्धि से भले

प्रकार सोचकर उचित समझता है, वही वास्तव में भी उचित कार्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के कार्यों की भलाई और बुराई के माप कार्य को बाहरी परिणामों से नहीं, वरन् उनके हेतुओं से मापा जाना चाहिये। इस मत के कथनानुसार किसी कार्य के भले अथवा बुरे परिणाम मनुष्य के हेतु पर निर्भर करते हैं। यदि किसी कार्य का हेतु बुरा है तो उसका परिणाम भी बुरा होता है, और यदि किसी कार्य का हेतु अच्छा है, तो उसका परिणाम भी अच्छा होता है।

परन्तु, उक्त आदर्शवादी सिद्धान्त व्यावहारिक जगत में ठीक नहीं उतरता। कभी-कभी किसी कार्य को करने में मनुष्य का हेतु सर्वोत्तम होता है; वह संसार के कल्याण के लिये ही कोई विशेष कार्य करता हैं, परन्तु अपना हेतु भला रखकर भी वह कभी भी बाहरी बुरे परिणाम पर पहुँच सकता है। मान लीजिए, हम किसी रोगी की सेवा कर रहे हैं। वह रोगी एक बन्द कमरे में है। उसे हम स्वच्छ वायु देने के लिए एक खुले कमरे में रखते हैं। इस कमरे में उसे शीत लग जाती है, और इसके कारण उसे निमोनिया हो जाता है, जिसके कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ पर हमने अपने विचार से उचित कार्य ही किया, हमारा हेतु भला था, परन्तु परिणाम बुरा हो गया। अब क्या हम हेतु की भलाई के कारण इस परिणाम को भी भला परिणाम कहेंगे? किसी हेतु का परिणाम भला हो इसके लिये हेतु की पवित्रता मात्र ही अपेक्षित नहीं है। हेतु की पवित्रता के साथ वातावरण की अनुकूलता और उचित ज्ञान का होना आवश्यक है। इन दो के अभाव में भले हेतु से किये गये कार्य भी कभी-कभी अशुभ परिणाम उत्पन्न कर देते हैं। काण्ट महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि 'कभी-कभी हमारे भले लक्ष्य की प्राप्ति में प्रकृति सौतेली माँ के समान कार्य करती है।" अपने ज्ञान की कमी भी हमें अपने भले लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा डाल देती है। इस तरह व्यक्तिगत दृष्टि से किए गए उचित कार्य भी कभी-कभी वास्तव में अनुचित सिद्ध हो जाते हैं।

क्या सभी कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से सही होते हैं?—कुछ दार्शनिकों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य वही कार्य करता है, जो उसे ठीक प्रतीत होता है। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से उचित कार्य ही करता है। चोर चोरी इसीलिए करता है, क्योंकि वह उसे उचित समझता है। शराबी शराब

इसी लिये पीता है, क्योंकि वह उसे उचित समझता है। इसी प्रकार दूसरों को धोखा और त्रास देनेवाले इन कार्यों को अपने मन में उचित सिद्ध करके ही करते हैं। यदि ये लोग जान लें कि ये कार्य वास्तव में उचित नहीं हैं अर्थात् वे उन्हें कल्याण की ओर नहीं ले जाते, तो वे ऐसे कार्य कभी न करेंगे। कोई भी मनुष्य स्वेच्छा से अपने कल्याण को नहीं खोना चाहता, अर्थात् कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से अर्थात् जानबूझकर दुष्ट नहीं होता। जब कभी कोई व्यक्ति बुरा समझा जानेवाला कार्य करता है, तो इसमें दोष उसके अज्ञान का होता है। यदि उसे वास्तव में क्या भला है और क्या बुरा है, इसका ठीक ठीक ज्ञान हो जाये, तो वह भलाई को छोड़ कर बुराई की ओर कभी न जाएगा। यह विचार महात्मा सुकरात का है और वे इसी विचार के आधार पर कहा करते थे कि ज्ञान ही सद्गुण है।

महात्मा सुकरात के उक्त कथन में बहुत कुछ सत्यता है। कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से अपना अकल्याण नहीं चाहता, अर्थात् वह बुराई को नहीं करना चाहता। साधारणतः वह किसी बुरी बात को इसीलिये करता है, क्योंकि वह जानता है कि इसमें उसका व्यक्तिगत हित है, और उसके स्वार्थ की सिद्धि होती है। वह दूसरे के लाभ अथवा हानि को भूल जाता है। उसका व्यक्तिगत स्वार्थ उसकी आँखों पर पर्दा डाल देता है। इस पर्दे के हटाये बिना वह अपनी भलाई अथवा कल्याण को कभी नहीं पहचान सकता। मनुष्य की वास्तविक भलाई वही है, जिसे उसका विवेक भला कहे। पर विवेक सर्व-सामान्य अर्थात् व्यापक वस्तु है। विवेक मनुष्य की उसी वस्तु को व्यक्तिगत दृष्टि से भली बताता है, जो सभी के लिए भला है। इस तरह मनुष्य जब कभी कोई बुरा या अनुचित कार्य करता है, तो वह अपने विवेक के प्रतिकूल कार्य करता है। कभी कभी-मनुष्य का विवेक यह बतलाता है, उसके लिये क्या भला है पर मनुष्य उस भले की प्राप्ति के लिये अपने आप में प्रेरणा नहीं पाता। इसी प्रकार मनुष्य का विवेक उसे वास्तविक बुराई, जिससे कि उसकी भी हानि होती है, का ज्ञान कराता है। परन्तु, वह अपने आपको इस बुराई से रोक नहीं सकता। इस मानसिक स्थिति की अनुभूति हमें अपने प्रतिदिन के अनुभव में होती रहती है। विरला ही मनुष्य इस देवासुर संग्राम से मुक्त होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हमारे सभी कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से उचित नहीं होते। हम बहुत से ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं, जिन्हें हम स्वयं अनुचित समझते हैं। ऐसे ही कार्यों के लिये हमें आत्म-भर्त्सना और पश्चाताप होते हैं।

व्यक्तिगत उचित कार्य से हमें कदापि यह न समझ बैठना चाहिये कि वह हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ का ही पोषण करता है और उसमें वास्तविक लोक-कल्याण का ध्यान नहीं रहता। यदि ऐसा कोई कार्य हम करते हैं, जिसके करने में लोक-कल्याण का अथवा समष्टि की भलाई का ध्यान हम नहीं रखते और केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषण का ध्यान रखते हैं, तो वह कार्य नैतिक कार्य है ही नहीं। ऐसे कार्य को किसी भी दृष्टि से उचित कार्य नहीं कहा जा सकता। अतएव व्यक्तिगत उचित कार्य का भेद वास्तविक औचित्य से इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम कहाँ तक अपने नैतिक विचार में स्वार्थ से परे जा सकते हैं, और अपने आप का व्यापक नैतिकभाव से एकत्व कहाँ तक कर सकते हैं; अर्थात् उसी बात को हम उचित सोच सकते हैं, जिसे कोई भी विवेकशील पुरुष उचित समझेगा।

क्या वास्तविकता के अनुसार सभी कार्य अपने आप में उचित होते हैं?—कितने ही दार्शनिकों का विचार है कि जो कुछ होता है, सब भले के लिये ही होता है। इमर्शन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, कवि और संत के लिये सभी वस्तुएँ पवित्र हैं; सभी घटनाएँ भली, सभी दिन शुभ और सभी मनुष्य दैवी होते हैं।* जो व्यक्ति इन विचारों से पूरित हैं, उनके लिये कर्त्तव्य जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती। जब सभी घटनाएँ भली हैं, तो हमारे सभी काम भले काम ही हैं; वे किसी-न-किसी प्रकार संसार का कल्याण ही करेंगे। जब हमारा दृष्टिकोण ऐसा हो जाता है, तब फिर नैतिक प्रयत्न के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। मनुष्य नैतिक प्रयत्न करने वाला प्राणी है। वह विश्वास करता है कि सभी घटनाएँ भली नहीं है—कुछ भली हैं; और कुछ

---

*To the philosopher, to the poet and to the saint all things are friendly and sacred, all events profitable, all days holy, and all men divine,—"Essays of Emerson."

बुरी। हमारा कर्त्तव्य है कि हम भली घटनाओं की सम्भावना को बढ़ावें और बुरी घटनाओं को घटित होने से रोकें। कभी-कभी जिस बात को हम वास्तव में भली समझते हैं, वही पीछे बुरी सिद्ध होती है; और जिसको हम बुरी समझते हैं, वह पीछे कल्याणकारी अर्थात् भली सिद्ध हो सकती है। इस तरह नैतिक दृष्टि से हम किसी भी घटना के वास्तविक औचित्य और अनौचित्य का निर्णय सब के लिए नहीं कर सकते। हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि हम कभी भी पूर्ण रूप से यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि हमारा कोई भी कार्य वास्तव में ठीक है। सम्भव है कि जिस काम को आज हम ठीक समझते हैं, नये ज्ञान के प्राप्त होने पर ही, उसे बेठीक समझें। अतएव उनके मतानुसार किसी भी कार्य का पूर्ण रूप से वास्तविक औचित्य निश्चित नहीं किया जा सकता।

परन्तु जब हम वास्तविक औचित्य की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल इतना ही रहता है कि वर्त्तमान समय के उपलब्ध मानव-ज्ञान के अनुसार जिस कार्य को ठीक माना जाए, उसी कार्य को हम वास्तविक उचित कार्य मानते हैं और वही हमारे वर्तमान ज्ञान में उचित सिद्ध होता है।

भलाई और बुराई के परे की स्थिति—संसार के विभिन्न दार्शनिकों ने मनुष्यों के विचार की ऐसी स्थिति की कल्पना की है, जिसमें वह भले और बुरे के भेद के परे चला जाता है। तब वह सोचने लगता है कि पाप और पुण्य दोनों ही मनुष्य की कल्पना मात्र हैं, न तो किसी काम से पाप होता है; न किसी काम से पुण्य। पाप तो तब हो, जब हम संसार का कोई नुकसान करें; और पुण्य भी तभी हो सकता है, जब हम संसार की पूर्णता को बढ़ा सकें, अर्थात् जब हम परमात्मा के बनाए इस संसार को और भी अधिक अच्छा बना सकें।* हालैण्ड देश के निवासी स्पैनोजा महाशय ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता के सिद्धान्त को मानते थे। 'वही सब घटनाओं को अपने आप कराता है'। इस सिद्धान्त का प्रवर्तन उन्होंने अपनी 'एथिक्स' नामक पुस्तक में किया है। अब यदि ईश्वर ही

---

* इस प्रकार का विचार उपनिषद में भी आता है—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदीच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादायपूर्णमेवावशिष्यते।—ईशावाश्योपनिषद।

सभी घटनाओं के प्राण और नियंता हैं, तो कोई घटना बुरी कैसे हो सकती है ? अस्तु सभी घटनाएँ भली हैं। फ्रेडरिक ब्रेडले महाशय, जो इंगलैंड के गम्भीर आदर्शवादी दार्शनिक थे, के कथनानुसार भी नैतिक भावनाएँ तात्विक भावनाओं से निम्न कोटि की हैं। जहाँ तक नीतिशास्त्र का विस्तार है, वहाँ तक प्रयत्न के लिए सदा स्थान रहता है। नीतिशास्त्र के द्वारा बताया गया अन्तिम कल्याण अथवा भलाई सदा आगे ही सरकती जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तैसे-तैसे वह देखता है कि वह उससे दूर ही रह गई और उसे अनन्त काल तक इस प्रकार प्रयत्न ही करते रहना पड़ेगा। उसे ज्ञात होता है कि मनुष्य के लिये अपने नैतिक लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव है, लक्ष्य को प्राप्त करना उसके हाथ की बात ही नहीं है। सदा प्रयत्न करते रहने में ही उसके जीवन की सार्थकता है।

तात्विक दृष्टिकोण के अनुसार नैतिकता का यह आदर्श वास्तविक कल्याण का चित्र नहीं है। यह उसका आभास मात्र है, जिसके पीछे मनुष्य पड़ा रहता है। वास्तविक कल्याण का ज्ञान होने पर मनुष्य इस प्रकार के आभासित कल्याण को प्राप्त करने के प्रयत्न से मुक्त हो जाता है। पर यदि कोई कहे कि वास्तविक कल्याण नैतिक कल्याण से पृथक वस्तु है, अतएव नैतिक कल्याण को प्राप्त करने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, तो यह भी ठीक नहीं है। नैतिकता के आदर्श को प्राप्त करने के प्रयत्न में ही मनुष्य को वास्तविक कल्याण का ज्ञान हो जाता है। नैतिक कल्याण मनुष्य की मनोवृत्तियों को शुद्ध करता है। वह उसकी मानसिक शक्तियों का शोध करता है, जिसके बिना तात्विक कल्याण का ज्ञान असम्भव है।

प्रश्न

१. नीतिशास्त्र में 'मूल्य' शब्द का क्या अर्थ है ? नैतिक मूल्य और आर्थिक मूल्य की तुलना कीजिए। इस विषय में सिजविक महाशय के तात्विक मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

२. नैतिक भलाई और अन्तिम भलाई का क्या सम्बन्ध है ? अन्तिम भलाई की प्राप्ति के लिये नैतिक भलाई की कहाँ तक आवश्यकता है ?

३. भलाई और उचित में क्या भेद है ? अन्तिम भलाई को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

४. यह कहना कहाँ तक सत्य है कि जो वैयक्तिक दृष्टि से उचित है, वह वास्तविक दृष्टि से भी उचित है ? दोनों प्रकार के उचितों के भेद और उनकी अन्तिम एकता को स्पष्ट कीजिए ।

५. क्या सभी कार्य वैयक्तिक दृष्टि से सही होते हैं ? इस विचार पर नीतिशास्त्र के विभिन्न विद्वानों के मतों को बतलाइये ।

६. क्या सभी कार्य अपने आप में वास्तविकता के अनुसार उचित होते हैं ? "जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है"—इस विचार की समालोचना कीजिए ।

७. भलाई और बुराई के परे की स्थिति क्या है ? इस स्थिति की प्राप्ति में नैतिक आचरण का क्या स्थान है ?

———

सत्रहवाँ प्रकरण

नैतिक संस्थाएँ[1]

नैतिक संस्थाओं की उपयोगिता—मनुष्य के नैतिक विचारों को स्थायी बनाने के लिये नैतिक संस्थाओं की आवश्यकता होती है। जो कार्य मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में नैतिक विचार करते हैं, वही कार्य नैतिक संस्थाएँ समाज में करती हैं। नैतिक संस्थाएँ समाज को उस आदर्श की ओर ले जाती हैं, जिससे उसका कल्याण होता है। प्रत्येक समाज में अपने आप को ऊँचा बनाने की भावना होती है। यह ऊँचा बनाने की भावना नैतिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती हैं। फिर नैतिक संस्थाएँ सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती हैं।

नैतिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं में मुख्य भेद—दोनों संस्थाओं में भेद यह है कि जहाँ नैतिक सस्थाओं का विस्तार मनुष्य के विचारों में रहता है, वहाँ सामाजिक संस्थाओं का विस्तार बाहरी संगठन में रहता है। नैतिक संस्थाएँ न्याय, कानून, जनमत, मनुष्य के अधिकार और उसके कर्तव्य का रूप धारण करती हैं, और सामाजिक संस्थाएँ परिवार, कार्यालय, संघ, सम्मेलन, धर्म-संघ, राज्य और मित्रता का रूप धारण करती हैं। इन नैतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य में नैतिकता के भाव स्थिर होते हैं। प्रत्येक मनुष्य में कर्त्तव्य करने के लिये आन्तरिक प्रेरणा होती है, उसे यह प्रेरणा नैतिक तथा सामाजिक संस्थाएँ भी देती हैं। किसी समाज के व्यक्तियों का नैतिक विकास जैसा होता है, उस समाज की नैतिक और सामाजिक संस्थाएँ भी वैसी ही होती हैं। नैतिकता एक व्यापक अर्थात् सर्व-मान्य भाव है। किसी के व्यक्तिगत विचार को नैतिक विचार नहीं कहा

1. Moral institutions.

जा सकता। उसके उसी विचार को नैतिक कहा जा सकता है, जिसमें वह समाज के दूसरे विवेकशील लोगों के विचारों का ध्यान रखता है। समाज के सभी विवेकशील व्यक्तियों के विचार ही नैतिक संस्थाओं का रूप धारण करते हैं। पीछे ये नैतिक संस्थाएँ समाज की साधारण संस्थाओं में आ जाती हैं। अतएव जब कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग कर अथवा अपने व्यक्तिगत विचार को बदल कर किसी संस्था के नियम का पालन करता है, तो वह अपने व्यापक स्वत्व के नियम को ही मानता है। व्यापक स्वत्व की आज्ञा को मानना मनुष्य की नैतिकता के विकास को दर्शाता है। समाज की जो संस्थाएँ भली समझी जाती हैं, उनके अनुसार अपना आचरण बनाना अपने नैतिक जीवन को विकसित करना है।

सामाजिक संस्थाओं की नैतिकता—मनुष्य जहाँ रहता है, वहाँ समाज बना कर ही रहता है। दूसरे प्राणी भी समाज में ही रहते हैं। किन्तु मनुष्य-समाज एवं अन्य प्राणियों के समाज में कुछ मौलिक भेद हैं। दूसरे प्राणियों के समाज का निर्माण प्रकृति ही करती है, पर मानव-समाज का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है। मनुष्य को अपनी बुद्धि से काम लेना पड़ता है। यह समाज मनुष्य के नैतिक विचार के ऊपर आधारित रहता है। अतएव किसी सामाजिक संस्था की आज्ञा मानना अपने नैतिक स्वत्व की आज्ञा मानना है। कभी-कभी मनुष्य के व्यक्तिगत नैतिक विचारों और सामाजिक नैतिक संस्थाओं, अथवा सामाजिक संस्थाओं के नैतिक विचारों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी व्यक्ति के नैतिक विचार ऊँचे स्तर के होते हैं, और कभी समाज के। जब कोई सामाजिक संस्था अनैतिक हो जाती है, तब उसकी क्रियाएँ संकीर्णतापूर्ण और विवेकहीन हो जाती है; अर्थात् वह संस्था इस बात का विचार नहीं रखती कि दूसरी जगह अथवा दूसरे देश के लोग उसके कार्यों की कैसी आलोचना करेंगे। ऐसी संस्था का सुधार करने में कभी-कभी प्रबल नैतिक बुद्धि वाला व्यक्ति समर्थ होता है।

सामान्यतः साधारण व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण किसी सामाजिक संस्था के नियम के प्रतिकूल जाता है। चोरी, व्यभिचार आदि कार्य सामाजिक संस्थाओं के प्रतिकूल हैं। ऐसे कार्यों को करते समय मनुष्य कभी यह भी सोच बैठता

है कि मैं समाज के व्यर्थ के बन्धनों को तोड़ रहा हूँ परन्तु इस प्रकार बन्धन-तोड़ने के प्रयास से उसे अपने उच्चतर स्वत्व की प्राप्ति नहीं होती। वह आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता है। जिस काम के लिये मनुष्य बाहरी दंड के अभाव में आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता है, उसी काम के लिये समाज व्यक्ति को दंड देता है। इस प्रकार के दंड से व्यक्ति का नैतिक उत्थान होता।

सामाज में न्याय—न्याय सामाज की एक नैतिक संस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह जिस समाज में रहता है उसमें न्याय की परम्परा हो। जहाँ "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की परम्परा होती है, वहाँ मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास भले प्रकार नहीं कर सकता। हमारे वर्तमान पूँजी-वादी समाज में सामाजिक न्याय की संस्था का प्रायः लोप-सा हो गया है। सामाजिक न्याय का लक्षण यह है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास की अधिक-से-अधिक सुविधा मिले। वर्तमान समाज में सभी शक्ति संसार के मुट्ठी भर लोगों के हाथ में रहती है। मानव-जीवन को भौतिक सुख देनेवाले सभी पदार्थ उनके ही अधिकार में रहते हैं। सामान्य जनता को वे सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं, जिनसे वे अपनी बौद्धिक या आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। पूँजीवाद समाज में नब्बे प्रतिशत लोग गुलामों का जीवन व्यतीत करते रहते हैं। वे दिन भर परिश्रम करके भी पेट भर भोजन नहीं पाते। यह समाज की नैतिक परम्परा की स्थिति के प्रतिकूल है। जब सामाजिक शक्ति निकम्में और आलसी लोगों के हाथों में रहती है, और जब परिश्रमी तथा योग्य व्यक्ति चारों ओर से दबाये और दास-रूप में रक्खे जाते हैं; तो समाज में अन्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज के विवेकशील लोग फिर इस प्रकार की स्थिति का अन्त करने की चेष्टा करते हैं। इसके कारण उन्हें अधिकार-सम्पन्न लोगों से अनेक प्रकार की ताड़नाएँ मिलती हैं। पर समाज में न्याय लाने के लिये और उसकी परम्परा को स्थायी रखने के लिये यह आवश्यक ही होता है। जो लोग समाज में न्याय की परम्परा को स्थापित करने के लिये कष्ट सहते अथवा अपने प्राण खोते हैं, वे ही समाज के आदर्श व्यक्ति होते हैं। प्रत्येक समाज को हर समय ऐसे लोगों की आवश्यकता रहती है।

कानून और लोकमत—समाज में नैतिकता की रक्षा के लिये कानून और लोक-मत की आवश्यकता होती है। जब समाज के लोग सुशिक्षित होते हैं, तो कानून की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि अशिक्षित समाज में होती है। अशिक्षित समाज में पहले-पहल किसी बुराई को कानून द्वारा ही रोका जा सकता है। फिर शिक्षा के द्वारा उस कानून की उपयोगिता लोगों को दिखाई जा सकती है। जब कानून से किसी बुराई का रोक हो जाता है, और जब कोई नई परम्परा चल जाती है, तब लोकमत उसके अनुकूल हो जाता है। फिर सामाजिक अभ्यास के कारण यह परम्परा सामाजिक संस्था का रूप धारण कर लेती है। उस समय कानून की आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य के आचरण को नैतिक बनाने के लिये जिस समाज में कानून की जितनी कम आवश्यकता है, नैतिक दृष्टि से वह समाज उतना ही ऊँचा है। कभी-कभी राज्य कोई विशेष नियम बना देता है, परन्तु लोकमत उसके अनुकूल न होने के कारण उस नियम की अवहेलना भी होती है। इसके कारण बहुत लोगों को दंड भी भोगना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह नियम समाज के लिये सुखद न होकर दुःखद बन जाता है। अतएव समाज-सुधार के किसी भी कानून के निर्माण के पूर्व और उसके पश्चात् लोकमत को उसके अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं नियम का निर्माण भी इस अनुकूलता को प्राप्त करने का एक साधन है। जो बातें पहले लोग भय के कारण करते हैं, वे ही बातें वे पीछे आदत के कारण करने लगते हैं; और अन्त में उन्हें कल्याणकारी समझ स्वतन्त्र इच्छा से भी उसका पालन करने लगते हैं। पहले नियम आता है, फिर आदत आती है और अन्त में सद्-गुण आता है। इस प्रकार समाज के नैतिक विकास के लिये नियम और लोकमत दोनों ही आवश्यक हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य—लोकमत मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य को निश्चित करता है। अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे के सापेक्ष हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य की उत्पत्ति होती है। यह कर्तव्य दो कारणों से आता है। प्रथम तो इसलिए कि यदि किसी मनुष्य को कोई अधिकार है, तो दूसरे मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस अधिकार को उस के लिये रहने दे, छीने नहीं। दूसरे, अधिकार के साथ कर्तव्य का सम्बन्ध इस कारण से भी है कि

नैतिक दृष्टि से प्रत्येक अधिकार का उपयोग हम तभी कर सकते हैं, जब कि हम उस अधिकार को समाज के कल्याण के काम में लाएँ।

मनुष्य के अधिकार को जानना सरल होता है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष रहता है; परन्तु उसके कर्त्तव्य को जानना कठिन होता है, क्योंकि वह अप्रत्यक्ष होता है। अधिकारों को मनुष्य कानून के द्वारा प्राप्त कर लेता है, परन्तु कानून उसे अपने कर्त्तव्य के लिए बाध्य करने में इतना सफल नहीं होता। परन्तु जिस व्यक्ति की नैतिक बुद्धि जाग्रत है, वह अपने कर्त्तव्य को वैसे ही स्पष्ट देखता है, जैसे वह अपने अधिकार को देखता है। अपने कर्त्तव्य से गिरने पर मनुष्य कानून द्वारा दंडित नहीं होता, परन्तु मनुष्य की नैतिक बुद्धि अथवा आत्मा कर्त्तव्य-च्युत होने पर उसे अवश्य दंड देती है। मनुष्य को अपनी प्रत्येक वस्तु को समाज की भलाई के लिए काम में लाना चाहिए। कानून की दृष्टि से वह अपनी कहलानेवाली वस्तु को इच्छानुसार काम में ला सकता है, किन्तु नैतिक दृष्टि से वह अपनी किसी भी वस्तु को इस प्रकार काम में नहीं ला सकता है। उसे सभी वस्तुओं का उपयोग सभी के कल्याण के लिए करना चाहिए। मनुष्य को कोई भी ऐसा अधिकार नहीं है, जिसे वह नैतिक दृष्टि से लोक-कल्याण के अतिरिक्त किसी दूसरी दृष्टि से रख सकता है। वास्तव में अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है। वह समाज का अङ्ग है और वह उसी अधिकार को अपना अधिकार कह सकता है, जिसे वह सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए काम में लाता है। अब हमें देखना है कि मनुष्य के अधिकार कौन-कौन से हैं?

मनुष्य के अधिकार

जीवन का अधिकार—जीवित रहने का अधिकार मनुष्य का प्रथम अधिकार है। मनुष्य के लिए किसी प्रकार की भलाई तभी हो सकती है, जब वह जीवित रहे। उसका नैतिक आदर्श वैयक्तिक है, अर्थात् यह आदर्श उसे आत्म-साक्षात् करने की प्रेरणा देता है। कभी-कभी मनुष्य को अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का बलिदान भी देना पड़ता है। मनुष्य के आदर्श स्वत्व में समाज की भलाई निहित है। अतएव समाज की भलाई के लिए जब कभी मनुष्य अपने प्राणों की आहुति दे देता है। तो वह अपने नैतिक अधिकार का

उत्तम उपयोग करता है। परन्तु समाज के लिए अपने प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है। साधारणतः प्रत्येक मनुष्य को आत्म साक्षात्कार के लिये जीवित रहने की आवश्यकता होती है; अतएव यह आवश्यक है कि जीवन-रक्षा के अधिकार को एक मुख्य नैतिक अधिकार माना जाए।

कुछ बर्बर जाति के लोगों में इस अधिकार को प्रधानता नहीं दी जाती। इसलिए कभी-कभी छोटे बच्चों को देवी-देवताओं की मनौतियों पर चढ़ा दिया जाता है। लड़ाई समाप्त होने पर विजेता विजित लोगों की हत्या कर देता है। लड़ाई की अवस्था में तो समाज के साधारण लोगों की जान की भी परवाह नहीं की जाती। वे कीड़े-मकोड़े की तरह मारे जाते हैं, परन्तु यह स्थिति एक असाधारण स्थिति है। इस स्थिति को समाज की नैतिक स्थिति नहीं कहा जा सकता है। जिस समाज में बार-बार लड़ाइयाँ होती रहती हैं, वह समाज सभ्य समाज नहीं कहा जा सकता।

जीवित रहने के अधिकार की सार्थकता तभी है, जब मनुष्य को वे साधन भी मिलें, जिनसे वह अपने प्राणों की रक्षा कर सकता है। जो राज्य समाज के सामान्य लोगों की रोजी के विषय में उचित प्रबन्ध नहीं करता और उन्हें बेकारी से भूखों मरने देता है, वह इन भूखों मरनेवालों के जीवन के अधिकार को छीनता है। पूँजीवादी समाज में प्रायः यही होता है। इस तरह जीवित रहने के अधिकार के साथ-साथ रोजी प्राप्त करने का अधिकार भी आ जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्रकार का अधिकार अपना सहयोगी कर्तव्य भी लाता है। यदि किसी मनुष्य को स्वयं जीवित रहने का अधिकार है, तो उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह दूसरे लोगों के जीवन की कीमत करे। जिस प्रकार वह अपने जीवन को मूल्यवान समझता है, उसी प्रकार दूसरे के जीवन को भी मूल्यवान माने। जो व्यक्ति दूसरे के जीवन के अधिकार की कीमत नहीं करता और किसी की जान ले लेता है, वह अपने जीवित रहने का अधिकार भी खो देता है। इस प्रकार हत्यारे को फाँसी देना कानूनी और नैतिक दोनों दृष्टियों से उचित समझा जाता है।

स्वतंत्रता का अधिकार—जीवित रहने का अधिकार प्रथम अधिकार है, और दूसरा अधिकार मनुष्य की स्वतंत्रता का अधिकार है। मनुष्य के नैतिक

आदर्श की प्राप्ति उसके स्वतंत्र इच्छा-शक्ति पर निर्भर है, अतएव अपनी इस आदर्श-प्राप्ति के लिये उसे अपनी इच्छा-शक्ति को स्वतन्त्र रूप से कम में लाने का अधिकार होना चाहिये। अविकसित समाज में इस अधिकार के ऊपर ध्यान नहीं दिया जाता है। पुराने समय में गुलाम लोग अपने मालिक के लिये जीवन भर काम करते रहते थे। गुलामों के मालिक अपने इच्छानुसार उन्हें जहाँ कहीं भी अथवा जिस किसी के हाथ बेंच देते थे। गुलामों के मालिक उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते थे, जैसे हम लोग पशुओं के साथ करते हैं। गुलामों की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता था। आधुनिक काल में पुरानी गुलाम-प्रथा का अन्त तो हो गया; परन्तु अब एक नये प्रकार की गुलामी की संस्था की स्थापना हो गई है। इस गुलामी में मनुष्य को अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेने का अवकाश ही नहीं दिया जाता। वह अपने मालिक के लिये मशीन के पुर्जों के समान सदा कार्य-रत रहता है। पूँजीपतियों के कारखानों में काम करनेवालों की यही दशा है।

यह बात सत्य है कि किसी भी सभ्य समाज में किसी मनुष्य को सम्पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। ऐसी स्वतन्त्रता न तो सम्भव है, और न नैतिक दृष्टि से उचित ही है। मनुष्य को उतनी ही दूर तक स्वतन्त्रता दी जा सकती है, जहाँ तक वह समाज-व्यवस्था को किसी प्रकार का विघ्न पहुँचाए बिना ही आत्मविकास का कार्य कर सके। मनुष्य का आत्मविकास तभी होता है, जब वह समाज के लिये हानिकारक कार्य न करके उसके विकास के लिये कार्य करता है।

स्वतंत्रता के अधिकार के साथ-साथ स्वतन्त्रता के कर्त्तव्य भी आते हैं। मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग विवेकयुक्त कार्य में करना चाहिए। इससे उसे आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। वही मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर सकता है, जो विद्वान् और भला है। साधारण लोग स्वतन्त्रता का अर्थ स्वछन्दता मान बैठते हैं। जब तक समाज के लोगों को अपनी स्वतंत्रता का सदुपयोग करना नहीं आता, तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। अतएव जैसे-जैसे मनुष्यों में ज्ञान की वृद्धि होती है और उनके आचरणों में पवित्रता आती है, वैसे-वैसे उनकी स्वतन्त्रता के अधिकार की वृद्धि भी होती है। इस तरह

हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता कोई खरीदने योग्य अथवा दान में मिलनेवाली वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता स्वयं प्राप्त करनी पड़ती है। स्वतन्त्रता अपने ज्ञान की वृद्धि और चरित्र-सुधार से प्राप्त की जाती है।

सम्पत्ति का अधिकार—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति का भी अधिकार है। सम्पत्ति के अभाव में स्वतंत्रता का अधिकार भी अर्थ-हीन हो जाता है। मनुष्य की स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिये यह आवश्यक होता है कि उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सब प्रकार की सुविधाएँ मिलें। इन सुविधाओं में सम्पत्ति के रखने की सुविधा भी है। जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति नहीं है, अथवा जिसे उसके रखने का अधिकार नहीं है, वह किसी प्रकार से आत्मविकास नहीं कर सकता है। भिखारी की स्वतंत्रता अर्थ-हीन है। अतएव प्रत्येक सभ्य समाज में न केवल सम्पत्तिवान लोगों के सम्पत्ति रखने के अधिकार की रक्षा की जाती है, वरन् गरीबों के लिए सम्पत्ति-प्राप्ति के उपाय भी रचे जाते हैं। मानव-समाज में स्वतंत्र जीवन के लिये यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक सदस्य के पास कुछ-न-कुछ सम्पत्ति हो। उसके नैतिक स्वत्व के साक्षात्कार के लिये यह सम्पत्ति अत्यन्त आवश्यक हैं।

सम्पत्ति के अधिकार के साथ-साथ सम्पत्ति के उचित उपयोग करने के कर्त्तव्य की बात भी आती है। जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को समाज के कल्याण के काम में लाता है, वास्तव में उसे ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है। जिस समाज में सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं किया जाता, उसको सम्पत्ति रखने का नैतिक अधिकार भी नहीं रहता। प्राचीनकाल में समाज की एक ऐसी स्थिति भी थी, जब किसी भी व्यक्ति को अपने लिए अलग सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था। पूरे गिरोह की सम्पत्ति एक साथ रहती थी। जब समाज सभ्य हो जाता है, तभी किसी व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया जाना उचित है। सम्पत्ति रखने के अधिकार के दिये जाने के बाद ही उनके उपयोग का प्रश्न आता है।

नीतिशास्त्र के कुछ विद्वानों का मत है कि आदर्श समाज वह समाज है, जिसमें किसी व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति न हो, वरन् पूरे समाज की सम्पत्ति एक साथ हो। यूनान देश के प्रसिद्ध तत्त्व-वेत्ता प्लैटो

महाशय के विचार इसी प्रकार के थे। उनका कथन था कि आदर्श समाज में लोग समाज से अपने आप का इतना एकत्व कर देंगे कि वे समाज की उन्नति में, अपनी उन्नति, अथवा उसकी गरीबी और अमीरी में अपनी गरीबी और अमीरी देखेंगे। परन्तु यदि हम मानव-स्वभाव को सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो इस प्रकार के आदर्श को न केवल कोरी कल्पना ही वरन् इसे मनुष्य के नैतिक स्वत्व के विकास में बाधक भी पावेंगे। मनुष्य का नैतिक विकास तभी सम्भव है, जब वह व्यक्तिगत रूप से उसके लिये प्रयत्न करे। मनुष्य अकस्मात् अपने आपको समाज के प्रति अर्पित नहीं कर सकता। जैसे-जैसे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है और उसका विवेक जाग्रत होता है, तैसे-तैसे समाज के वह कल्याण में अपना कल्याण देखने लगता है। यदि कोई संस्था किसी व्यक्ति को बाध्य करके कोई कार्य करावे, तो इस प्रकार के काम से उसकी नैतिकता का विकास न हो कर उसमें ह्रास ही होगा। जब समाज के कुछ लोग उसके कल्याण की दृष्टि से देश की सम्पत्ति का सामाजीकरण करते हैं, तो इससे वे उनके नैतिक विकास में सुविधा नहीं देते, वरन् बाधा डालते हैं। सम्पत्ति के चले जाने पर मनुष्य को अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से काम लेने का अवसर नहीं मिलता है, और जहाँ इस प्रकार के अवसर की कमी हो जाती है, वहाँ नैतिकत का विकास नहीं होता।

समझौते का अधिकार—मनुष्य का चौथा नैतिक अधिकार दूसरे मनुष्य से समझौते के अनुसार काम कराने का है। अवनत समाजों में समझौते के अनुसार काम करने की प्रथा नहीं रहती है। प्रत्येक व्यक्ति के काम से दूसरे व्यक्ति का सम्बन्ध सदा निश्चित रहता है। यदि कोई व्यक्ति छोटी जाति में उत्पन्न हो गया, तो वह दूसरे लोगों के द्वारा उन वादों की पूर्त्ति के लिए बाध्य नहीं कराया जा सकता, जो ऊँचे वर्ग के लोगों से किए जाते हों। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, तैसे-तैसे मनुष्य समाज में अपना स्थान स्वतन्त्र समझौते के अनुसार निश्चित करता है। प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह जैसे चाहे वैसे दूसरे के साथ व्यक्ति समझौता करे।

समझौते के अधिकार के साथ-साथ समझौते को पूरा करने का कर्त्तव्य भी आता है। किसी व्यक्ति को ऐसे समझौते न करना चाहिए, जिन्हें वह सामान्यतः पूरा नहीं कर सकता, अथवा जो उसके विवेक के प्रतिकूल हैं। उदाहरणार्थ,

कोई व्यक्ति अपनी गुलामी के लिए समझौता नहीं कर सकता। समझौता वैसा ही किया जाना चाहिये, जो मनुष्य के नैतिक विकास के मार्ग में बाधक न हो। जूआ खेलने का समझौता करना अनैतिक और मनुष्य की कर्त्तव्य-बुद्धि के विरुद्ध है।

शिक्षा का अधिकार—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और सम्पति आदि का अधिकार है, उसी प्रकार उसे शिक्षा का भी नैतिक अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, और यह उसका कर्त्तव्य भी है। यहाँ अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे से इतने अधिक मिल गये हैं, कि यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा में अधिकार की प्रधानता है, अथवा कर्त्तव्य की। शिक्षा के अधिकार में कर्त्तव्य के बिना मनुष्य अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतएव सभ्य समाज में इस अधिकार की मान्यता रहती है, परन्तु अभी तक इस अधिकार को सभी लोगों ने नहीं माना है। सभ्य समाज शिक्षा के अधिकार को जहाँ तक नहीं मानता, वहाँ तक वह व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण नैतिक विकास के लिए अवसर भी नहीं देता।

प्लेटो महाशय ने मनुष्य की शिक्षा के अधिकार को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उनके कथनानुसार सबसे अच्छा राज्य वह है, जिसमें नागरिकों की शिक्षा का सबसे अच्छा प्रबन्ध हो। राज्य नागरिकों से अनेक प्रकार के कर लेता है। इस कर के बदले में वह उनकी जान-माल की रक्षा करता है। बहुत से राज्य अपने नागरिकों के लिए इतना ही करके सन्तोष कर लेते हैं। वे नागरिकों की शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति की परवाह नहीं करते। यदि हम प्लेटो महाशय की दृष्टि से देखें, तो इस प्रकार के राज्य को निकृष्ट समझेंगे। आधुनिक सभ्य राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह अपने प्रत्येक नागरिक को सुशिक्षित बनाये। बहुत से देशों में जनता के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है और राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह अपने बच्चों को यह शिक्षा दिला सके।

प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आपको सुशिक्षित बनाए। जो नागरिक अपने आपको सुशिक्षित नहीं बनाते हैं, वे आधुनिक काल में राष्ट्र के लिए भार-रूप हैं। जब एक व्यक्ति

शिक्षित बन जाता है, तो वह अपने आप में अनेक प्रकार के सद्गुण उत्पन्न कर लेता है। वह जनता की कुछ सेवा करना चाहे अथवा नहीं, पर अपनी उपस्थिति मात्र से वह दूसरे लोगों की सेवा करता है। उसे ऊँचे उठा देख कर समाज के दूसरे लोग स्वयं को ऊँचा उठाने की चेष्टा करते हैं। उसकी सफलता दूसरों को प्रोत्साहित करती है।

शिक्षित व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि उन्होंने समाज से जो शिक्षा प्राप्त की है, उससे दूसरों को भी लाभ उठाने दें। प्रत्येक शिक्षित नागरिक को चाहिये कि दूसरों की शिक्षा के लिए वह जान-बूझकर कुछ-न-कुछ यत्न करता रहे। नैतिकता की दृष्टि से यह बड़े महत्व का कार्य है कि जिस प्रकाश से हम प्रकाशित हुए हैं, उसे दूसरों के लिए भी सुलभ बना दें।

अधिकार और कर्त्तव्य की एकता—अधिकार और कर्त्तव्य का अन्तिम उद्देश्य एक ही है। प्रत्येक अधिकार-प्राप्ति का अन्तिम लक्ष्य अपने आप को इस प्रकार बनाना है, जिससे व्यक्ति समाज का सबसे अधिक कल्याण कर सके, अर्थात् अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति कर सके। अधिकार हमें अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने के साधन देता है। इन साधनों के अभाव में आदर्श स्वत्व की प्राप्ति असम्भव है। हमारे कर्त्तव्य का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। प्रत्येक कर्त्तव्य हमें प्रेरणा देता है कि हम अपने अधिकार के द्वारा प्राप्त किये गये साधन को भले प्रकार काम में लावें, अर्थात् स्वत्व को प्राप्त करें। इस तरह अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही मानव-समाज में नैतिकता का विकास करते हैं। मनुष्य में नैतिकता का विकास सामाजिक संस्थाओं के द्वारा होता है। मानव-समाज की ये सामान्य संस्थाएँ कुटुम्ब, कारखाने, नागरिक संघ, धर्म-संस्था, राज्य और मित्रता हैं। अब हमें देखना है कि इन भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक स्वत्व को कैसे प्राप्त करता है और मनुष्य के नैतिक विकास में इन संस्थाओं की क्या उपयोगिता है।

सामाजिक संस्थाओं की नैतिक उपयोगिता

कुटुम्ब—मानव-समाज की सबसे व्यापक संस्था कुटुम्ब है। साधारणतः कुटुम्ब के बिना किसी मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं है। संसार के

अधिक लोग जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त कुटुम्ब में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ लोग दुर्भाग्यवश अथवा किसी विशेष आदर्श को लेकर कुटुम्ब को छोड़ देते हैं। कुछ लोग अपने बाल-बच्चों की मृत्यु के पश्चात् अकेले रह जाते हैं और कुछ प्रौढ़ावस्था में विवाह नहीं करते अथवा विवाहित होनेपर भी साधु-संन्यासी अथवा भिक्षुक बन जाते हैं। परन्तु समाज में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। फिर ऐसे लोग बहुत थोड़े ही ऐसे होते हैं, जो कुटुम्ब में नहीं हैं, वरन् किसी अनाथालय में पाले जाते हैं। इन बालकों को नैतिक विकास का वह अवसर नहीं प्राप्त होता, जो सामान्य बालकों को होता है। इसी प्रकार जिन लोगों के कुटुम्ब का विनाश किसी दुर्घटना के कारण हो जाता है, वे भी अभागे ही हैं। उन्हें भी अपने नैतिक विकास का वैसा अवसर नहीं मिलता, जैसा कि समाज के साधारण नागरिकों को मिलता है। कुटुम्ब के बाहर रह कर साधु संन्यासियों का कितना नैतिक विकास होता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो साधु-संन्यासी सारे संसार को ही अपना कुटुम्ब मान लेते हैं, उनके नैतिक विकास के बारे में तो दो मत हो ही नहीं सकते। नैतिकता की दृष्टि से वे उच्च कोटि के व्यक्ति हैं, परन्तु बहुत से साधु इस आदर्श तक नहीं पहुँच पाते और इससे एक ओर तो वे नैतिकता के सद्गुणों को अपने आप में विकसित नहीं कर पाते, और दूसरी ओर अपने चित्त को सदा दुःखी बनाए रहते हैं।

कुटुम्ब का आधार मनुष्य का स्वाभाविक प्रेम है। कुटुम्ब का प्रथम उद्देश्य बच्चों का पालन और उनकी उन्नति करना है। कुटुम्ब का दूसरा उद्देश्य सर्वोत्तम प्रेम-भाव की वृद्धि है। बच्चों का लालन-पालन जितने भली प्रकार से कुटुम्ब में होता है, उतना और कहीं नहीं हो सकता। कुछ साम्यवादी सिद्धान्त के प्रवर्त्तक विद्वानों का मत है कि बच्चों का लालन-पालन कुटुम्ब की अपेक्षा राज्य अच्छी तरह कर सकता है। जब किसी देश में कल-कारखाने अधिक बढ़ जाते हैं और जब माता-पिता को अधिक समय कल-कारखानों में ही व्यतीत करना पड़ता है, तो वे अपने बच्चों का भली प्रकार से लालन-पालन नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उनके पालन-पालन का भार राज्य को लेना पड़ता है। राज्य कुछ दाइयों को रखता है, जिनका यह कर्त्तव्य होता है कि वे एक पूरे घर के

बच्चों की देख-भाल करें और उनमें रहनेवाले बच्चों की देखरेख करें। हमारे विचार से इस प्रकार की व्यवस्था अस्वाभाविक व्यवस्था है। कोई भी स्त्री, चाहे वह बच्चों के लालन-पालन में कितनी ही कुशल क्यों न हो, बच्चों का उस प्रकार पालन-पोषण नहीं कर सकती, जिस प्रकार माता-पिता करते हैं। फिर जब एक ही स्त्री अनेक बच्चों की देखरेख करती है, तो उसका ध्यान बँट जाता है और बालक को उससे माता जैसा प्यार नहीं प्राप्त होता।

कौटुम्बिक जीवन का दूसरा उद्देश्य मनुष्य के प्रेम का विकास है। एक ही कुटुम्ब में बालक जब बहुत दिनों तक रहता है, उसी में पलता, बड़ा होता और फिर उसी में अपनी गृहस्थी बना लेता है, तो कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति उसके लिए महत्त्व रखता है। कुटुम्ब के विभिन्न व्यक्तियों के आपस के व्यवहार उनके मन में ऐसे संस्कार छोड़ जाते हैं, जिससे कि वे एक दूसरे के लिए प्रेम और ममत्व का अनुभव करें। मनुष्य के सामाजिक भावों के विकास के लिए कुटुम्ब ही प्रथम साधन है। नैतिकता के विकास के लिए भी कुटुम्ब की अत्यन्त आवश्यकता है।

कुटुम्ब एक स्वतंत्र संस्था है। इसके संचालन का सम्पूर्ण भार माता-पिता पर रहता है। पितृ-प्रधान[1] कुटुम्बों में पिता का स्थान मुख्य रहता है और मातृ-प्रधान[2] कुटुम्बों में माता का। अतः परिवार में माता-पिता जैसे चाहें अपने बच्चों का लालन-पालन करते हैं और पति-पत्नी के आपस के सम्बन्ध भी स्वेच्छानुसार बनते हैं। परन्तु कौटुम्बिक स्वतंत्रता संपूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। कितने ही माता-पिता अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए उत्सुक नहीं रहते। वे बच्चों की कमाई के लिए लालायित रहते हैं। अशिक्षित माता-पिता छोटे-छोटे बालकों को भी कारखानों में कार्य करने के लिए भेज देते हैं। इससे उनकी भारी हानि होती है। बालकों को शिक्षित बनाने के लिए और उनसे कल कारखानों में काम कराने से रोकने के लिए राज्य को प्रयत्न करना पड़ता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के अन्दर रहने वाले किसी नागरिक का जीवन नष्ट न होने दे। वह परिवार को उतनी स्वतंत्रता दे, जिससे कि परिवार के प्रत्येक सदस्य का अधिक-से-अधिक नैतिक विकास हो। कितने ही अशिक्षित परिवारों में स्त्रियों के ऊपर भारी अत्याचार होते हैं। उन्हें पशुओं-सा कार्य करना पड़ता है, और किसी काम

1 Patriarchal. 2 Matriarchal.

में भूल हो जाने अथवा कहा-सुनी हो जाने से पशुओं जैसी दंडित भी की जाती हैं, अर्थात् उन्हें पशुओं-सी ताड़ना मिलती है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों पर होने वाले इस अत्याचार को रोके। इसके लिए राज्य को उचित नियम बनाना होगा। व्यक्ति को वहीं तक स्वतंत्रता देना उचित है, जहाँ तक यह उसके नैतिक विकास में सहायक होती है। जब किसी प्रकार की स्वतत्रता मनुष्य के नैतिक विकास में बाधक होती है, तो ऐसी स्वतंत्रता को सीमित कर देना आवश्यक है। स्त्री और पुरुष दोनों में समानता का व्यवहार होना चाहिए। जहाँ प्रेम के अभाव के कारण ऐसा नहीं है, वहाँ राज्य को नियम बनाने पड़ते हैं कि स्त्रियों पर किसी प्रकार का अत्याचार न हो। साधारणतः लोकमत को इसके लिए जागृत करना पड़ता है। जब लोकमत जागृत हो जाता है, तब नियमों को बनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

कारखाने—कारखाने भी मनुष्य के नैतिक विकास के साधन होते हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपनी जीविका कमाता है। कारखानों का आधार कुटुम्ब के आधार से भिन्न है। कुटुम्ब पारस्परिक प्रेम पर निर्भर है, और कारखाने आपस के समझौते पर। कुटुम्ब में समानता के व्यवहार होते हैं, किन्तु कारखाने में स्वामी और सेवक का व्यवहार होता है। कौटुम्बिक सम्बन्ध में जो अधीनता रहती है, उसका हेतु बड़ों के द्वारा छोटों की देख-रेख रहती है, परन्तु कारखाने में किसी बाहरी स्वार्थ की प्राप्ति के हेतु एक दूसरे की अधीनता में कार्य करते हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि राज्य कारखानों के सम्बन्ध में उतनी स्वतंत्रता न दे, जितनी कि वह कौटुम्बिक सम्बन्धों में देती है। राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे नियमों को बनाए, जिससे कारखाने के मालिक अपने मजदूरों को बिलकुल अपना गुलाम न बना लें। आधुनिक काल में जैसे-जैसे पूँजीवाद की वृद्धि होती जा रही है, वैसे-वैसे कारखानों का मालिक अपने मजदूरों के प्रति उदारता का व्यवहार कम करता जा रहा है। पुराने समय में किसी कारखाने का मालिक अपने कारखाने में कार्य करने वाले व्यक्तियों के साथ अपने पुत्र जैसा व्यवहार करता था। वह उनके दुःख-सुख में सहानुभूति प्रगट करता था और उनकी सहायता करता था। वर्तमान समय में इस रीति का अन्त हो गया। अब केवल पैसे कमाने के लिए ही कार-

खाने का मालिक अपने नौकरों का ध्यान रखता है, और नौकर भी उसी प्रकार अपने मालिक की परवाह इसलिए करता है कि उसे उससे पैसा मिलता है।

नौकर और कारखाने के मालिक के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध उन दोनों की नैतिक हानि करते हैं। यदि नौकर और मालिक के बीच सद्भाव और सहानुभूति का सम्बन्ध हो, तो अत्यन्त भला हो। ऐसा सदभाव उत्पन्न करने के लिये आपस के सहयोग के जितने तरीके होते हैं, उन सबों को काम में लाना चाहिये। कई मिल-मालिक अपने नौकरों को न केवल वेतन देते हैं, वरन् उनके मनोरंजन के लिये अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ भी देते हैं। किसी मजदूर पर किसी प्रकार की आपत्ति आने पर वे उसे सहायता देते हैं। व्यापार में अधिक लाभ पर वे बोनस के रूप में अपने नौकरों को अधिक पैसा दे देते हैं। इससे मालिक और मजदूरों में सद्भावना रहती है। इससे दोनों की आर्थिक और लौकिक उन्नति तो होती ही है, उनका नैतिक विकास भी होता है। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार के कारखानों को नैतिकता की दृष्टि से प्रोत्साहन देना चाहिये। इतना तो निश्चय है कि राज्य को सभी प्रकार के कारखानों को एक-सा प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये। जहाँ तक किसी कारखाने से ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि मानव-जीवन सुखी और उन्नतिशील होता है और जहाँ तक किसी कारखाने से मनुष्यों को हानि नहीं होती, वहाँ तक प्रत्येक कारखाना प्रोत्साहन पाने का पात्र है। फिर नैतिक दृष्टि से उन्हीं कारखानों की वृद्धि रोकना उचित है, जिनसे मनुष्यों का नैतिक पतन होता है। ये कारखाने ऐसे होते हैं, जो प्रायः विलासिता की सामग्री उत्पन्न करते हैं, अथवा जिनमें मनुष्य को अपनी जान निरर्थक जोखिम में डालनी पड़ती है। जब तक किसी कारखाने से मानव-समाज का लाभ उससे होनेवाली हानि से अधिक नहीं है, तब तक ऐसे कारखानों को प्रोत्साहन देना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

वर्तमान काल में, जब कि प्रत्येक व्यक्ति को कारखाने खोलने की स्वतंत्रता है और जो वस्तु वे उत्पन्न करना चाहते हैं उसके लिये उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त है, तब यह आवश्यक है कि राज्य इस बात को सदा देखता रहे कि कोई कारखाने का मालिक अपने इस अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है। राज्य का यह

नैतिक कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि पूँजीपति लोग अपने नौकरों का शोषण तो नहीं करते; और यदि वे ऐसा करते हैं, तो इसे रोकने के लिये राज्य को नियम बनाना आवश्यक होता है। जब ऐसा नहीं होता और जब राज्य कुछ पूँजीपतियों के हाथों की कठपुतली बन जाता है, तब समाज में बड़ी-बड़ी राज्य-क्रान्तियाँ होती हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप मनुष्य के कारखाने खोलने की स्वतंत्रता छीन ली जाती है। फिर राज्य ही सभी कारखानों का संचालन करता है। ऐसी अवस्था में यह नैतिक दृष्टि से उचित भी है। वर्तमान काल की प्रगति-शील विचार-धारा राज्य-द्वारा कारखानों के संचालन की व्यवस्था का समर्थन करती है।

नागरिक संघ—जिस प्रकार पहले दो प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य के नैतिक विकास के लिये आवश्यक हैं, उसी प्रकार नागरिक संघ भी मनुष्य के नैतिक विकास के लिये आवश्यक है। नागरिक संघ कई प्रकार के होते हैं। कितने ही नागरिक संघों का कार्य विशेष वर्ग के लोगों के विचारों का आदान-प्रदान और एकता रखना होता है। कुछ व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नागरिक संघ नगर के सभी लोगों की उन आवश्यकताओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं, जिन्हें सरकार पूरा नहीं कर सकती। इस प्रकार के संघ बड़े शहरों में होते हैं। नागरिक संघों के हाथ में स्वास्थ्य रक्षा की बातें, जनता की शिक्षा की बातें, पुस्तकालय आदि, भोजन की सामग्री की शुद्धता बनाये रखना और अनाथों के लिये भोजन के प्रबन्ध के कार्य रहते हैं। जो राष्ट्र जितना सभ्य होता है, उसमें उतने ही सुव्यवस्थित नागरिक-संघ होते हैं। इन नागरिक संघों के द्वारा मनुष्य अपने नैतिक उत्तरदायित्व को उठाना सीखता है। इनसे एक ओर तो अशिक्षित लोगों का लाभ होता है, और दूसरी ओर शिक्षित और सम्पन्न लोगों का नैतिक लाभ होता है।

धर्म-संस्थाएँ—धर्म-संस्थाएँ समाज के नैतिक उपकार करने के साधन हैं। मनुष्य की नैतिकता को दृढ़ बनाने का काम पुराने समय में धर्म-संस्थाओं ने जितना किया, उतना और किसी संस्था ने नहीं किया। धर्म-संस्थाएँ धनी और सम्पन्न लोगों को यह प्रेरणा देती थीं कि वे निर्धन और असहाय लोगों की सहायता करें। धर्म-पुस्तकों में इस प्रकार के काम की महत्ता दर्शायी जाती है। ये धर्म-ग्रन्थ सामान्य जनता पढ़ा करती है और उसके कारण समाज के लोगों

के विचार उदार होते हैं। धर्म-पुस्तकें जहाँ एक ओर धनी लोगों को निर्धनों के प्रति दया-भाव दिखाने की प्रेरणा देती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे संसार के निर्धन लोगों को यह आश्वासन देती हैं कि उनका जीवन निरर्थक नहीं है। वे अपने जीवन को तुच्छ न समझें, धन ही संसार की सबसे मूल्यवान वस्तु नहीं है। धन के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ भी हैं, जिनका मूल्य धन से कहीं अधिक है। ये मूल्यवान वस्तुएँ धनी मनुष्य की अपेक्षा निर्धन मनुष्य को अधिक सरलता से मिलती हैं। मनुष्य एक ओर भौतिक संसार में जो खोता है, वह उसे दूसरी ओर आध्यात्मिक संसार में पा लेता है।

गरीबों के इस प्रकार के विचार धनी लोगों के प्रति उनकी ईर्ष्या की आग को शान्त कर देते हैं। धर्म-संस्थाओं के अभाव में यह आग एक भीषण विभीषिका का रूप धारण कर ले सकती है; और उसके कारण सम्पूर्ण समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जा सकता है। जिस देश में धर्म-संस्थाएँ नहीं हैं, उस देश में मनुष्यों के पारस्परिक द्वेष को रोकने वाली कोई वस्तु नहीं है। धर्म-संस्था-रहित समाज सदा अशान्त रहता है।

धर्म-संस्थाएँ मनुष्य की अनैतिक वासनाओं को नियंत्रण में लाती हैं। धर्म-संस्थाओं में अन्याय और पाप के विरुद्ध जो बातें कही जाती हैं, उससे अत्याचारी और पापी मनुष्यों को आन्तरिक भय होता है। धर्म-संस्थाओं के विचार मनुष्य की नैतिक बुद्धि को जागृत करते हैं। जब कोई मनुष्य अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल कार्य करता है, तो उसकी नैतिक बुद्धि अथवा अन्तरात्मा संताप उत्पन्न करती है; अर्थात् उसे पाप के बाद पश्चाताप होता है। इस प्रकार मनुष्य की अनैतिक भावनाएँ नियंत्रण में रहती हैं।

पुराने समय में समाज के धर्म-गुरु, पंडित, पुरोहित, पादरी आदि का समाज में वही स्थान था, जो किसी सुव्यवस्थित घर में पिता का होता है। वे समाज के सभी लोगों के लिए उनके शुभ-कार्यों में पथ-प्रदर्शक होते थे। किसी प्रकार का मानसिक क्लेश होने पर वे आन्तरिक यंत्रणा पानेवाले व्यक्ति को सान्त्वना देते थे। वे समाज के लोगों को नैतिक भूल करने से सिर्फ रोकते ही न थे, वरन् यदि उनसे कोई नैतिक भूल हो जाता, तो उस भूल के प्रायश्चित् का मार्ग

भी बताते थे। इस प्रकार प्राचीन धर्म-गुरु समाज में नैतिक साम्य की स्थिति को बनाये रखते थे।

पुराने समय में धर्म-संस्थाएँ समाज में जो महत्व का कार्य करती थीं और उनका कार्य-क्षेत्र जितना व्यापक था, वर्तमान समय में हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। विवाह-शादी, जन्म-मरण, त्योहार, उत्सव, पुत्र का माता-पिता से सम्बन्ध और माता-पिता का पुत्र से सम्बन्ध, पति-पत्नी के सम्बन्ध, पड़ोसी सम्बन्ध आदि सब बातें धर्म-संस्थाओं के द्वारा नियंत्रित रहती थीं। वर्तमान काल में धर्म-संस्थाओं का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है, जितना पहले था। तिस पर भी पुराने ढाँचे पर चलने वाले देशों में धर्म-संस्थाएँ समाज में बड़े महत्व का कार्य करती हैं।

वर्तमान काल में धर्म-संस्थाओं को प्रगतिशील विचार के लोग हेय दृष्टि से देखने लगे हैं। वे इन संस्थाओं को समाज की प्रगति में बाधक समझते हैं। धर्म-संस्थाओं के इस प्रकार हेय दृष्टि से देखे जाने के मुख्य दो कारण हैं—(१) विभिन्न धर्मों का वापस में संघर्ष और (२) धर्म को पूँजी-पतियों द्वारा धन कमाने का साधन बनाना। वर्तमान काल में संसार में अनेक प्रकार के धर्म अथवा धर्म-मत प्रचलित हैं। इन धर्म-मतों के कई सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी हैं। प्रत्येक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों को अपना शत्रु मानते हैं और उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्येक धर्म कहता है कि हमारा मत ही सच्चा है और दूसरे लोग झूठे हैं। धर्म के अन्ध-अनुयायियों में मानवता की वे बातें नहीं रह जातीं, जो कि मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस प्रकार ये धर्म-संघर्ष मानव-स्वभाव को ऊँचा न उठाकर उसे और नीचा गिराते हैं। जो काम मनुष्य साधारणतः मानवता की दृष्टि से नहीं करेगा, वही वह धर्मान्धता की धुन में आकर कर डालता है। कितने ही कट्टर धर्म-पंथी अपने धर्म की रक्षा के लिए दूसरे धर्म के लोगों पर जंगली पशुओं से भी अधिक बुरा व्यवहार करते हैं। लूट, चोरी, हत्या, स्त्रियों का अपहरण, बच्चों पर अत्याचार इत्यादि सभी दानवी कार्य धर्म के नाम पर होते रहते हैं और धर्म-संस्थाएँ इनका समर्थन करती हैं। धर्म-संस्थाओं की ये करतूतें देखकर समाज के विचारवान व्यक्तियों का मन इन संस्थाओं से ऊब गया है। वे चाहते हैं कि इनसे किसी प्रकार मानव-समाज

का पिण्ड छूटे। समाज के विवेकशील व्यक्तियों के लिये यह घृणास्पद् वस्तु बन गई है।

धर्म-संस्थाओं के विरुद्ध आधुनिक काल में यह बात आती है कि वे अब गरीबों की रक्षा न करके धनियों द्वारा उनके शोषण का समर्थन करती हैं। साम्यवादियों के कथनानुसार समाज के धनी लोग इन संस्थाओं के पंडे-पुजारियों को खरीद लेते हैं। ये लोग धनियों के टुकड़े खाते हुए समाज के गरीब लोगों को ऐसा परामर्श देते हैं, जिससे कि वे धनिकों के अत्याचार के प्रति विद्रोह न करें। सामान्य जनता के लिए धर्म अफीम का काम करता है। सामान्य जनता जब अफीम के नशे में रहती है, तब धनी लोगों-द्वारा निर्धन लोगों का शोषण-कार्य सरल हो जाता है।

वर्तमान धर्म-संस्थाओं के विषय में ये सब बातें अवश्य कही जा सकती हैं, परन्तु जब तक इन संस्थाओं के बदले किसी दूसरे प्रकार की संस्थाएँ समाज में नहीं हैं; तब तक समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये इन संस्थाओं की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। धर्म-संस्थाओं का भ्रष्ट हो जाना दुःख की बात है। धर्म-संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का नैतिक सुधार है। ये संस्थाएँ लौकिक मूल्यों के अतिरिक्त दूसरे मूल्यों की ओर मनुष्य की दृष्टि ले जाती हैं; परन्तु यदि इन संस्थाओं में भी लौकिकता आ जाए, तो इनसे समाज का कल्याण होना कैसे सम्भव है? यदि शक्कर अपनी मिठास छोड़ दे, तो उसे किस पदार्थ से मीठा बनाया जा सकता है? हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि वर्तमान धर्म-संस्थाएँ अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर रही हैं, अर्थात् यदि वे मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक नहीं हो रही हैं, तो हमें समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए दूसरे प्रकार की धर्म-संस्थाओं की स्थापना करनी होगी। धर्म-संस्थाएँ ऐसी होंगी, जिनके द्वारा मनुष्य नैतिक आचरण करना सीखेगा और केवल वहिर्मुखी न होकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने की चेष्टा करेगा। वर्तमान काल में न तो पुरानी धार्मिक-संस्थाओं के प्रति सभ्य समाज की कोई वास्तविक श्रद्धा ही है, और न ऐसी नई संस्थाओं का निर्माण हुआ ही है, जिससे मानव-समाज का वास्तविक आध्यात्मिक विकास हो। यह स्थिति एक बड़ी भयावह स्थिति है। ऐसी स्थिति में समाज के विनाश को रोकने के लिए कोई भी प्रबल

साधन नहीं है। संसार के प्रमुख विद्वान अब इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। यदि उनका परिश्रम सफल हुआ, तो समाज का भारी उपकार होगा।

राज्य—मनुष्य के नैतिक विकास के लिए जिस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकारों की संस्थाओं की आवश्यकता है, उसी प्रकार राज्य की भी आवश्यकता है। प्राचीन काल में राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना अधिक नहीं था, जितना वर्तमान काल में है। प्राचीन काल में राज्य का मुख्य कर्त्तव्य समाज के लोगों के जान-माल की रक्षा करना था। यदि किसी एक राष्ट्र पर दूसरा राष्ट्र आक्रमण करता है, तो उस राष्ट्र की सरकार का यह कर्त्तव्य होता है कि वह राष्ट्र के लोगों का संगठन करके आक्रमणकारी के विरुद्ध लड़े और राज्य के भीतर रहने वाले लोगों की क्षति किसी प्रकार न होने दे। वर्तमान काल में राज्य का इतना काम तो है ही, इसके अतिरिक्त भी राज्य दूसरे अनेक कार्य करता है। नागरिकों को सुशिक्षित बनाना, समाज की कु-प्रथाओं को बन्द करना, यातायात के साधनों को सुलभ करना, व्यापार के लिए सुविधाएँ प्रदान करना, बेकारों को काम देना, कुटुम्ब के आपस के सम्बन्ध के विषय में नियम बनाना—ये सभी काम आधुनिक काल में राज्य करने लगा है। अतएव यदि किसी देश की राज्य-व्यवस्था ठीक है, तो उसके नागरिकों का समुचित नैतिक विकास होता है, और यदि यह प्रणाली दोष-पूर्ण है, तो नागरिकों का नैतिक पतन निश्चित है। जिस संस्था का कार्यक्षेत्र जितना अधिक होता है, उसका नैतिक उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक होता है, वह संस्था समाज का उतना ही अधिक कल्याण अथवा हानि कर सकती है।

प्राचीन काल में नागरिकों की शिक्षा का कार्य राज्य के हाथ में नहीं था। यह कार्य प्रायः समाज की धर्म-संस्थाओं के हाथ में था। परन्तु वर्तमान काल में नागरिकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार के हाथ में आ गया है। मनुष्य के नैतिक विकास का प्रमुख साधन शिक्षा ही है। प्राचीन काल में शिक्षा के साधन भी उतने अधिक नहीं थे, जितने कि वर्तमान काल में हैं। वाचनालय, पत्र-पत्रिकाएँ, क्लब, सिनेमा, रेडियो, आदि के द्वारा वर्तमानकाल में नागरिकों की जो शिक्षा हो सकती है, उसकी कल्पना भी प्राचीन काल के लोग नहीं कर सकते थे। वर्तमान काल में केवल स्कूल ही नागरिकों के शिक्षालय नहीं हैं, वरन् सारा समाज ही शिक्षालय बन गया है और इस पर पूर्ण नियंत्रण राज्य के अधिकारियों

का रहता है। अतएव राज्य अपने नागरिकों को जैसा बनाना चाहता है, वैसा बनाता है। यदि राज्य से नागरिकों की नैतिक क्षति हो सकती है, तो उससे उनका नैतिक विकास भी हो सकता है।

प्रश्न

१. समाज की नैतिक संस्थायें कौन कौन सी हैं? सामाजिक संस्थाओं से इनका क्या भेद है?

२. सामाजिक संस्थाओं की नैतिकता को समझाइये। समाज में नैतिकता कैसे स्थापित की जाती है।

३. मनुष्य के अधिकारों का नैतिक आधार क्या है? मनुष्य के मुख्य नैतिक आधारों का वर्गीकरण कीजिए।

४. मनुष्य के अधिकार-सम्बन्धी विचारों में विकास किस प्रकार हुआ। प्रत्येक मनुष्य को सम्पत्ति का अधिकार है—एक मिल-मजदूर के लिए इस कथन का क्या अर्थ है?

५. मनुष्य की सामाजिक संस्थायें कौन-कौन-सी हैं। कुटुम्ब की नैतिक उपयोगिता को समझाइये।

६. मनुष्य के नैतिक विकास में समाज की धार्मिक संस्थायें कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हुई हैं? उनकी वर्त्तमान उपयोगिता क्या है? धार्मिक संस्थाओं को उपयोगी कैसे बनाया जा सकता है?

———

अठारहवाँ प्रकरण

मनुष्य के ऋण[1] और कर्तव्य[2]

कर्तव्य का स्वरूप—कर्तव्य-शास्त्र का एक मुख्य कार्य यह है कि वह नैतिकता के अन्तिम लक्ष्य को निश्चित करके मनुष्य के सर्वमान्य अथवा विशेष कर्तव्यों को बतलाये। संसार की सभी सभ्य कही जानेवाली जातियों में मनुष्य के कर्तव्यों का लेखा रहता है। यहूदी और ईसाई संस्कृति के लोगों ने मनुष्य के कर्तव्यों को धर्म की दस आज्ञाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। ये दस आज्ञाएँ मनुष्य को समाज में रहने के लिए उचित शील का ज्ञान कराती हैं और उसे शीलवान बनने के लिए प्रेरित करती हैं। इसी प्रकार भारतीय विद्वानों ने मनुष्य के दस धर्म बताये हैं, जिनका उल्लेख मनुस्मृति में पाया जाता है। इन दस धर्मों से नैतिकता का स्वरूप बहुत कुछ प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इन कर्तव्यों अथवा धर्म का समावेश नैतिक आदर्श में होता है। नीति-शास्त्र का मुख्य कार्य मनुष्य के किसी विशेष कर्तव्य को बताना नहीं, वरन् उसे एक ऐसे नियम को दर्शाना है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने आप ही यह पहचान जाये कि उसका कर्तव्य और अकर्त्तव्य क्या है।

मनुष्य के कर्त्तव्य पहले तो उसके अधिकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। जहाँ मनुष्य को किसी प्रकार का अधिकार है, वहाँ उसके लिए कर्तव्य भी है। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य लगा हुआ है, परन्तु कर्तव्य का क्षेत्र अधिकार के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। समाज में अनेक प्रकार की संस्थाएँ हैं, और मनुष्य समाज के दूसरे अनेक मनुष्यों से विभिन्न प्रकार का सम्बन्ध रखता है। ये संस्थाएँ तथा उसके सम्बन्धी उसके जीवन को सुखी बनाने में सहायक होते हैं। अतएव इन संस्थाओं के और अपने सम्बन्धियों के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य है। अपने बच्चों

---

1. Obligations. 2. Duties.

को पालना माता-पिता का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की पूर्ति इसलिए नहीं की जाती कि उसके साथ-साथ कोई अधिकार जुड़ा हुआ है, वरन् बालकों का पालन इसलिए माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे वैसा किए बिना सुखी नहीं रह सकते और न अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति ही कर सकते हैं।

मनुष्य के सामान्य कर्त्तव्य

यहाँ मनुष्य के कुछ सामान्य कर्त्तव्यों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। नीति-शास्त्र के विभिन्न मतों के विद्वान् इन कर्त्तव्यों का लेखा भिन्न-भिन्न प्रकार से देते हैं। इनमें से कुछ कर्त्तव्य नीचे दिये जाते हैं—

जीवन का आदर—मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह दूसरे के प्राणों का हरण न करे। इस कर्त्तव्य को भगवान् बुद्ध ने अहिंसा के कर्त्तव्य के नाम से बताया और ईसाई मत में भी इसे ईसा के इस आदेश में दर्शाया है कि दूसरे की जान मत लो। पिछले प्रकरण में जान-रक्षा के अधिकार की चर्चा की गई है। इस अधिकार के साथ-साथ यह कर्त्तव्य भी आता है कि दूसरे लोगों की जान की रक्षा भी उसी प्रकार की जाय, जिस प्रकार हम अपनी जान की रक्षा चाहते हैं। इस कर्त्तव्य को भारतीय नीतिशास्त्र में अहिंसा का कर्त्तव्य कहा गया है। मनु भगवान् ने इसे धर्म के दस लक्षणों में से एक बताया है। बुद्ध भगवान् ने इसे पञ्चशील के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार पश्चिमी विद्वानों ने भी अहिंसा को नैतिक आचरण में बड़ा ही महत्व का स्थान दिया है।

परन्तु अहिंसा का अर्थ इतना ही न समझना चाहिए कि हम केवल दूसरे की जान न लें। इसका व्यापक अर्थ यह है कि जान-बूझकर ऐसा कोई भी काम न किया जाय, जिससे अपने या किसी दूसरे व्यक्ति को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति हो। हर्बर्ट स्पेंसर महाशय ने दूसरे की प्राण-रक्षा के नकारात्मक पक्ष की अपेक्षा सकारात्मक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया है; अर्थात् हमें अपनी और दूसरे की जान की रक्षा के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

स्वतन्त्रता का आदर—हमारा दूसरा नैतिक कर्त्तव्य दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आदर करना है। किसी व्यक्ति के जीवन के स्वतन्त्र विकास में हमें

बाधा नहीं डालनी चाहिए। हमें दूसरों के लिए वही काम करना चाहिए, जो उनके जीवन के विकास में सहायक हो। छोटे बालक अथवा बुद्धिहीन लोग अपने जीवन का विकास बड़ों की सहायता के बिना नहीं कर सकते, अतएव उनको उतनी ही स्वतन्त्रता दी जा सकती है; जितनी कि वे काम में ला सकते हैं; परन्तु सुशिक्षित प्रौढ़ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा डालना नैतिक अन्याय है। हमें प्रत्येक व्यक्ति को एक मनुष्य के रूप में जानना चाहिए, न कि किसी जड़ पदार्थ के रूप में। यह कर्त्तव्य हमें दूसरों को दास बनाने, उन पर अत्याचार करने अथवा उनका शोषण करने से रोकता है। यह कर्त्तव्य पहले कर्त्तव्य से मिला-जुला है। वास्तव में यह अहिंसा के व्यापक अर्थ में समाविष्ट होता है।

चरित्र का आदर—प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने चरित्र को बनाये और दूसरों को चरित्र बनाने में सहायता दे। वह ऐसी कोई बात न करे, जिससे अपने अथवा दूसरों के चरित्र का ह्रास हो। यह एक ऐसा व्यापक कर्त्तव्य है, जिसके अन्तर्गत बहुत से कर्त्तव्य आ जाते हैं। यह सकारात्मक कर्त्तव्य है। हमें न केवल कोई ऐसा काम करने से अपने आपको रोकना ही चाहिए, जिससे दूसरे की हानि हो, वरन् हमें ऐसे काम भी करना चाहिए, जिससे दूसरों का मौलिक आध्यात्मिक लाभ हो।

सम्पत्ति का आदर—सम्पत्ति का आदर 'चोरी न करो' इस धार्मिक आदेश के रूप में आता है। इस आदेश का समावेश एक प्रकार से पूर्व कथित आदर्शों में आ जाता है। यह कर्त्तव्य अहिंसा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत है। यह हमें दूसरे लोगों के जीविकोपार्जन के साधन के विनाश से रोकता है। दूसरे के धन अथवा मान का हरण करना उसको क्षति पहुँचाना है। उक्त कर्त्तव्य न केवल हमें दूसरे के धन चुराने से रोकता है, वरन् वह हमें अपने उपार्जित धन के सदुपयोग करने को भी बाध्य करता है। हमें अपनी सम्पत्ति को अपनी न समझना चाहिए, बल्कि उसे समाज की समझना चाहिए। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम अपने ही घर में रक्खे हुए अन्न को सड़ने दें, अथवा पेटी में बन्द वस्त्रों में कीड़े लगने दें। इन पदार्थों को हमें अपने अथवा दूसरे के उपयोग में लाना चाहिए। इस दृष्टि से अपना समय आलस्य में बिताना भी सम्पत्ति के आदर करने के कर्त्तव्य की अवहेलना करना है। यदि हम

स्वयं काम नहीं करते हैं, तो हम अपने आप जीवित रहकर समाज के ऊपर भार बने हैं। हम अपने व्यय के लिए जो धन चाहते हैं, वह दूसरों के परिश्रम से कमाया हुआ रहता है। इस धन को खर्च करके हम सामाजिक चोरी करते हैं।*

सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर—सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर के कर्त्तव्य में अनेक कर्त्तव्यों का समावेश होता है। सामाजिक व्यवस्था कुटुम्ब, वर्ण, राज्य, आदि संस्थाओं की बनी रहती है। इन सभी के नियमों का पालन करना सामाजिक व्यवस्था के प्रति कर्त्तव्य-पालन करना है। कभी-कभी हम जानते हैं कि घर के बड़े लोग किसी बात में भूल कर रहे हैं, तिस पर भी जब तक कोई भारी अनर्थ की आशंका न हो, जब तक हम उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं और उनके कामों में सहायता देते हैं। इसी तरह राज्याधिकारी भूलें करते हैं, परन्तु फिर भी हम राज्य के विरुद्ध विद्रोह न करके उनके नियमों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। एक सिपाही जब युद्ध-क्षेत्र में लड़ता रहता है, तब यह उसका कर्त्तव्य होता है कि वह अपने सेनापति की आज्ञा माने। यदि वह यह जानता भी हो कि सेनापति सेना का संचालन ठीक नहीं कर रहा है, फिर भी उसके लिये सेनापति की आज्ञा मानना उचित है। उसकी आज्ञा के विरुद्ध जाना न केवल सैनिक अपराध है, वरन् वह नैतिक अपराध भी है। जब कोई व्यक्ति किसी संस्था-विशेष का सदस्य होता है, तब उसका यह कर्त्तव्य

---

* गीता में कृष्ण भगवान् ने कहा—

यज्ञ शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम ॥४-३१॥

भावार्थ यह है कि यज्ञ से बचे हुए पदार्थ को जो उपभोग करते हैं, वे परमानन्द को प्राप्त करते हैं। इसके प्रतिकूल जो लोग बिना यज्ञ के सांसारिक पदार्थों का उपभोग करते हैं, वे न इस लोक में सुखी रहते हैं; न परलोक में।

यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ त्याग, परिश्रम आदि है। जो मनुष्य बिना परिश्रम के खाता है, वह वास्तव में चोर ही है।

होता है कि वह उस संस्था के नियमों का पालन करे और उसके उच्च अधिकारियों की आज्ञा का पालन करे। यदि इस संस्था का कोई अधिकारी अयोग्य है, तो उसके प्रतिकूल उसका विद्रोह करना नैतिक कार्य नहीं माना जायगा। जब तक वह संस्था को भली मानता है और उसका सदस्य बना हुआ है, तब तक उसे संस्था के उच्चाधिकारियों की आज्ञा में ही रहना चाहिये।

राजनीति के क्षेत्र में देखा जाता है कि किसी दल में सम्मिलित होने के पश्चात् मनुष्य अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को दल के लिए समर्पित कर देता है। दल की कुछ बातें उसे भली लगती हैं और कुछ नहीं। कुछ को वह उचित समझता है और कुछ को अनुचित; किन्तु जब तक वह उस दल का सदस्य बना हुआ है, तब तक उसे अपने दल के नियम के अनुसार काम करना और उसके लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण सहयोग देना होगा। समाज-व्यवस्था इसी प्रकार दृढ़ रहती है।

सत्य के प्रति आदर[1]—संसार के सभी नीति-शास्त्रज्ञों ने सत्य को धर्म का एक प्रधान लक्षण माना है। बाइबिल में कहा गया है कि 'तुम झूठ मत बोलो, यह ईसाई धर्म की आज्ञा है। इस आज्ञा के दो प्रकार के अर्थ हो सकते है। प्रथम तो प्रत्येक मनुष्य को अपने वचन के अनुसार कार्य करना चाहिये; दूसरे उसे अपनी वाणी में वही कहना चाहिए, जो उसकी वास्तविक इच्छा है। पहले प्रकार के कुछ सत्य का पालन तो हम कर लेते हैं, किन्तु दूसरे प्रकार के सत्य का पालन नहीं करते। पहले प्रकार का सत्य किसी प्रकार के समझौते में देखा जाता है। जो व्यक्ति अपने वचन के अनुसार कार्य करता है, वह पहले प्रकार के सत्य का पालन करता है और जो व्यक्ति दूसरे को किसी प्रकार से धोखा नहीं देना चाहता, वह दूसरे प्रकार के सत्य का पालन करता है।

मनुष्य दो प्रकार से मिथ्या आचरण कर सकता है—एक किसी काम को कह कर उसको पूरा न करके; और दूसरा अपने स्वभाव अथवा आचरण से दूसरों के मन में कुछ ऐसी आशाएँ उत्पन्न करके, जिन्हें वह पूरा नहीं करना चाहता है। दूसरे प्रकार के आचरण में शब्दों का झूठ नहीं है, परन्तु वास्तविक झूठ है। इस प्रकार हम वाणी का झूठ और कार्य का झूठ—दो प्रकार का पाते

1. Respect for truth.

हैं। संसार के चालाक मनुष्य इस प्रकार का झूठ बोलते हैं कि उनका झूठ पकड़ में नहीं आता। वे वाणी से झूठ नहीं बोलते, वरन् अपने कार्यों में झूठ को अभिव्यक्त करते हैं।

मान लीजिए कि आप किसी व्यक्ति का इस प्राकर स्वागत करते हैं कि जिससे उसके मन में आप से बहुत-सा धन प्राप्त करने की आशा उत्पन्न हो जाती है। आप उससे इसी आशा में बहुत-सा काम करा लेते हैं। जब आपका काम पूरा हो जाता है, तब आप उसकी आशाओं की पूर्ति नहीं करते। आपके इस व्यवहार को मिथ्याचार कहा जायेगा। इस प्रकार का मिथ्याचार संसार के पढ़े लिखे और शिष्ट लोगों में बहुत अधिक प्रचलित रहता है। यह व्यवहार अनैतिक व्यवहार है। सदाचरण का अर्थ है कि मनुष्य वहा कहे, जो वह करना चाहता है और जो कुछ वह एक बार कह दे, उसी के अनुसार अपना आचरण भी बनावे।

प्रगति के लिये आदर[1]—प्रगति के लिये आदर का कर्त्तव्य वही है, जो ईश्वर के प्रेम का कर्त्तव्य है। प्राचीन समय में धर्म यह शिक्षा देता था कि ईश्वर से प्रेम करो। आधुनिक समय के नीति-शास्त्रज्ञ ईश्वर के प्रति प्रेम के कर्त्तव्य के बदले मनुष्यमात्र की उन्नति के लिये सतत् प्रयत्न करते रहने की बात बतलाते हैं। आधुनिक काल का विचार है कि जो संसार के प्राणियों को प्रेम करता है, वह ईश्वर से प्रेम करता है; और जो उनकी सेवा करता है, वह ईश्वर की सेवा करता है। प्रेम का व्यावहारिक स्वरूप दूसरों की उन्नति चाहना और उसके लिए सतत् प्रयत्न करते रहना है। जो मनुष्य संसार के कल्याण के लिए जितनी अधिक चेष्टा करता रहता है, वह उतना ही उन्नति के कर्त्तव्य का पालन करता है और वह ईश्वर के प्रति उतना ही वास्तविक प्रेम दिखलाता है।

कर्तव्य वार्तिक[2]

ऊपर मनुष्य के कुछ कर्त्तव्य बतलाए गए हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे कर्त्तव्य भी किए जा सकते हैं; अर्थात् कर्त्तव्यों की संख्या घटाई वा बढ़ाई भी जा सकती है। एक एक कर्त्तव्य के अन्तर्गत अनेक दूसरे कर्त्तव्य कहे जा सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि जब दो प्रकार के कर्त्तव्यों में आपस में विरोध हो, तो

1. Respect for progress. 2. Casuistry.

मनुष्य को किस कर्तव्य को मानना चाहिए। मान लीजिए, कि सत्य बोलने के और किसी के जीवन की रक्षा के कर्त्तव्य में विरोध होता है। कोई मनुष्य क्रोध में आकर घातक हथियार लिये एक दूसरे मनुष्य का पीछा कर रहा है। दूसरा मनुष्य जान बचाने के लिये कहीं छिप जाता है। हम उसके छिपे हुए स्थान को जानते हैं। अब यदि हत्या की इच्छा रखनेवाला मनुष्य हमसे पूछता है कि उसका शत्रु कहाँ छिपा है, तो हम धर्मसंकट में पड़ जाते हैं। यदि हम सत्य बोलने के कर्त्तव्य का पालन करते हैं, तब जीव-रक्षा के कर्त्तव्य-पालन की अवहेलना होती है, और यदि हम जीव-रक्षा के कर्त्तव्य का पालन करते हैं, तो सत्य बोलने के कर्त्तव्य की अवहेलना होती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को क्या करना चाहिये? जो शास्त्र इन धर्म-संकटों के प्रश्नों को हल करने की चेष्टा करता है और इसके लिये अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों के भाष्य[1] उपस्थित करता है तथा नियम एवं उपनियम बनाता है, उसे कर्त्तव्यवार्तिका कहा जाता है। *

जीवन में हमारे विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों में विरोध उपस्थित होना अनिवार्य है। जीवन एक जटिल समस्या है। इसको सुचारुरूप से चलाना सरल काम नहीं है। जो नियम जीवन को सरल बनाने के लिए बनाए जाते हैं, उनमें किसी परिस्थिति में आपस में संघर्ष या विरोध अवश्य हो जाता है। कोई-न-कोई ऐसी परिस्थिति अवश्य आ जाती है, जब हमें उपर्युक्त प्रत्येक नैतिक कर्त्तव्य के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। सामान्य व्यक्तियों में इतनी बुद्धि नहीं रहती कि वे इस बात का निर्णय करें कि हम किस परिस्थिति में कर्त्तव्य के किस नियम को तोड़ सकते हैं; अतएव कर्त्तव्यवार्तिका की आवश्यकता होती है। कर्त्तव्यवार्तिका नियमों को तोड़ने के लिए नियम बनाती है;[2] अर्थात् वह यह बताने

---

1. Interpretation.

*"Casuistry consists in the effort to interpret the precise meaning of the commandments, and to explain which is to give away when a conflict arises. —Mackenzie. **A Mannual of Ethics.**

2. Casuistry seeks to draw out rules for breaking rules. —Mackenzie—**A Mannual of Ethics P. 310**

की चेष्टा करती है कि किस परस्थिति में हम किस नियम की अवहेलना कर सकते हैं। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं को बनाने का प्रयत्न सबसे अधिक ईसाई धर्म के जैसूट मत के लोगों ने किया था। इसका विरोध फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान् पैसिकल महाशय ने किया है। उनका कथन था कि पहले तो आचरण के लिए नियम बनाना ही ठीक नहीं है। मनुष्य की अन्तरध्वनि ही उसे भले-बुरे का निर्णय देने के लिए पर्याप्त है। फिर यदि मनुष्य आचरण के लिए नियम बनाए भी, तो क्षम्य माना जा सकता है; परन्तु जब वह इन नियमों को तोड़ने के नियम बनाने लगता है, तो वह एक अक्षम्य कार्य करता है। इस प्रकार के नियमों को बनाने से कर्त्तव्य की समस्या उलझ जाती है, सुलझती नहीं। कर्त्तव्यवार्तिका से कर्त्तव्यों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है और वे एक दूसरे से इतने अधिक उलझ जाते हैं कि फिर किसी नियम का पालन करना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं का दुरुपयोग होता है। कुशल बुद्धि के लोग इनके द्वारा अपने किसी भी अनैतिक कार्य को नैतिक सिद्ध करने की चेष्टा में लग जाते हैं।

कर्त्तव्य के नियमों से जब दो धर्म-आज्ञाओं का संघर्ष हो, तो नये नियमों को बनाना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में हमें सभी नियमों के ऊपर के नियम की शरण लेनी चाहिए और देखना चाहिए कि कौन-सा छोटा नियम बड़े नियम को अधिक प्रकाशित करता है।

कर्त्तव्यवार्तिका की उपयोगिता के विषय में जिस प्रकार १९ वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में मतभेद था, उसी प्रकार २० वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में भी मतभेद है। रशधाल, मूर और लेअर्ड महाशय कर्त्तव्यवार्तिका के समर्थक हैं। ब्रैडले, मैकेंजी और भ्योरहैड इसके विरोधी हैं। ब्रैडले महाशय का कथन है कि जिस प्रकार तार्किक विचार की वृद्धि तार्किक नियमों को बनाने से नहीं होती, उसी प्रकार नैतिक विचार की वृद्धि नैतिक नियमों को बनाने से नहीं होती। दोनों प्रकार के विचारों की वृद्धि अपने-अपने मापदंड की खोज करने से होती है। जब तार्किक विचार कला बन जाता है, तब उसका ह्रास होता है, उसी प्रकार जब नैतिक विचार कला का रूप धारण कर लेता है; तब नैतिक विचार का भी ह्रास हो जाता है। मैकेंजी महाशय ब्रैडले महाशय के कथन के

समर्थक हैं। उनका कथन है कि तर्क-शास्त्र और नीति-शास्त्र को कला नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र किसी कवि, चित्रकार अथवा संगीतज्ञ को यह नहीं बतलाता है कि वह अपना कार्य कैसे करे, वरन् वह अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार उसे अपने काम करने देता है, उसी प्रकार तर्कशास्त्री अथवा नीतिशास्त्रज्ञ किसी व्यक्ति को यह नहीं बताता कि वह कब किस नियम का पालन करे और कब किस नियम को तोड़े। नीतिशास्त्रज्ञ का कर्त्तव्य इतना ही है कि वह नैतिकता के उच्चतम सिद्धान्त को बता दे और फिर वह प्रत्येक व्यक्ति पर यह छोड़ दे कि वह अपने समझ के अनुसार उस सिद्धान्त से भिन्न-भिन्न नियमों को निकाले, जो उसे अपने आचरण को ठीक बनाने में सहायता दें।

समाज का संचालन सुचारु रूप से करने के लिए राज्य कुछ नियम एवं कानून बनाता है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से चलाने के लिए कुछ नियम बना लेता है, परन्तु इस प्रकार के नियमों का बनाना एक व्यावहारिक बात है। उसके लिए मनुष्य अपने अनुभव और योग्यता से काम लेता है। ये नियम कुछ व्यापक सिद्धान्तों के ऊपर निर्धारित होते हैं। राजनैतिक व्यापक सिद्धान्त के आधार पर समाज और राष्ट्र के संचालन के लिए व्यापक नियम बनते हैं; और नीति-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर मानव जीवन के संचालन के लिए नियम बनाये जाते हैं। सिद्धान्तों को निश्चित करना शास्त्रज्ञों का कर्त्तव्य है और नियमों को बनाना व्यवहार कुशल व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

हमारे जीवन में ऐसी अनेक समस्याएँ आती रहती हैं, जिनके निर्णय के लिए हमें नैतिक नियमों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु केवल नैतिक नियमों का ज्ञान इन प्रश्नों को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं होता है। मैं अविवाहित रहूँ या विवाह कर लूँ, मैं वकील बनूँ या डाक्टर, कितना धन दान में दूँ, मैं कविता पढ़ने में कितना समय दूँ, इत्यादि प्रश्न ऐसे हैं, जिनका हल करने के लिए हमें न केवल नैतिक नियमों की आवश्यकता होती है, वरन् जीवन के अनुभव और दूसरे प्रकार के विज्ञानों की भी आवश्यकता होती है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन सभी प्रश्नों को हल करने के लिए नैतिकता के मापदंड को ध्यान में रखना पड़ता है।

कुछ प्रश्न ऐसे अवश्य हैं, जिन्हे केवल नैतिकता को ध्यान में रखकर ही हल किया जा सकता है। मुझे किसी अवसर पर झूठ बोलना चाहिए या नहीं, समाज की रूढ़ियों की अवहेलना करनी चाहिए या नहीं और किसी अनुचित राज्य-नियम को तोड़ना चाहिए अथवा नहीं, ये प्रश्न केवल नैतिक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को हल करने के लिए कुछ लोगों के कथनानुसार कर्त्तव्यवार्तिकाओं की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, रशधाल महाशय का कथन है कि किसी व्यक्ति को ऐसा सत्य न कहना चाहिए, जिससे उसके धर्म-विश्वासों पर आघात पहुँचे। मनुष्य का धर्म-विश्वास उसको शान्ति प्रदान करता है, अतएव यदि किसी सत्य कथन से उसके धर्म-विश्वास पर आघात पहुँचता है, तो उसे उस सत्य को नहीं कहना ही अधिक अच्छा है। स्वयं रशधाल महाशय एक पादरी थे। बाइबिल में लिखा है कि ईसामसीह बिना किसी मानवीय प्रेम के कुमारी के गर्भ में आये थे। इस कथन को सत्यता में स्वयं रशधाल महाशय विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार संसार के अन्य लोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ईसामसीह का भी जन्म हुआ था। परन्तु उन्होंने कभी भी अपने इस विश्वास को अपने गिरजाघर में उपदेश सुनने वाली जनता के समक्ष नहीं कहा। वे उनके सामने बाइबिल की उसी बात को दुहराते रहते थे, जिसे वे स्वयं असत्य समझते थे। इस प्रकार उनकी कर्त्तव्यवार्तिका उनके अपने आचरण में सहायता देती थी।

मैकेंजी महाशय का कथन है कि इस प्रकार की कर्तव्यवार्तिकाएँ व्यर्थ हैं। कर्तव्यवार्तिकाओं को नैतिकता में स्थान देना नीति-शास्त्र को कानून की पोथी बना देना है। कानून की पोथियों में अनेक नियम और उपनियम होते हैं। कौन-सा नियम किस परिस्थिति में लागू होता है, इस पर वकील बहस करते हैं। इस बहस में बुद्धि की चतुराई और स्मरण शक्ति की प्रवीणता का काम अधिक रहता है। यदि किसी वादी (मोव्किल) को अच्छा वकील मिल गया, तो वह किसी भी अपराध को क्षम्य सिद्ध कर सकता है। नैतिकता को यदि कानूनी दृष्टि से देखा जाय, तो वह चतुर मनुष्य की बपौती बन जायेगी। फिर जो व्यक्ति जितने अधिक नियमों को याद कर लेगा, वह उतना ही अधिक अपने आचरण को नैतिक सिद्ध कर लेगा। परन्तु नैतिकता को यह रूप देना उसे अनैतिक

बनाना है। जब तक हमारे पास कोई ऐसा सरल सिद्धान्त नहीं है, जिसके द्वारा हम हर समय अपने आचरण के औचित्य अथवा अनौचित्य को जान लें और दो विरोधी कर्तव्यों में विरोध उत्पन्न होने पर शीघ्रता से किसी विशेष निर्णय पर पहुँच जाएँ, तब तक हमें नैतिकता के ज्ञान से कोई लाभ न होगा। कर्तव्य-वार्तिकाएँ नैतिकता को पंडितों की वस्तु बना देती है। समाज में इनका प्रचार नैतिक आचरण की वृद्धि न कर उल्टे उसका ह्रास करता है।

सर्वोच्च सिद्धान्त—ऊपर कहा जा चुका है कि जब कभी दो कर्तव्यों में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो, तो हमें किसी विशेष प्रकार के कर्तव्यों के नियमों और उपनियमों की खोज न करनी चाहिए, वरन् किसी आधारभूत मुख्य नियम की खोज करनी चाहिए। यह मुख्य नियम अथवा सिद्धान्त क्या है? यह मुख्य सिद्धान्त इतना ही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेकात्मक स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे उन मूल्यों को प्राप्त करना चाहिए, जो विवेकी स्वत्व से पहचाने जाते हैं। यह नैतिकता की व्यापक आज्ञा है। यह आज्ञा अस्पष्ट-सी दिखाई देती है, अतएव कुछ व्यावहारिक नियमों को बनाना आवश्यक होता है। ये नियम हमें अपने प्रतिदिन के आचरण में सहायता करते हैं, परन्तु जब इन नियमों में आपस में विरोध होता है और जब हम किसी धर्म-संकट में पड़ जाते हैं और यह नहीं समझ पाते कि हमें क्या करना चाहिए, तो हमें मुख्य आज्ञा के ऊपर भरोसा करना चाहिए। साथ ही हमें यह जानने की भी चेष्टा करनी चाहिए कि जो आचरण हम कर रहे हैं, उससे हम अपने विवेकी और व्यापक स्वत्व की प्राप्ति करते हैं या उसके प्रतिकूल जाते हैं। यदि हमारा आचरण हमें अविवेकी और संकीर्ण बनाता है तथा यदि हम संसार के विवेकमय मूल्यों से वंचित रह जाते हैं, तो वह आचरण निन्द्य है अन्यथा वह भला है। साधारणतः ऐसा व्यक्ति, जो अपने आचरण को साक्षीभाव से देख सकता है, किसी भी धर्म-संकट की स्थिति में अपने कर्तव्य का निर्णय शीघ्रता से कर लेता है। अतएव धर्म-संकट की स्थिति में नैतिक निर्णयों को शीघ्र प्राप्त करने के लिए नियम और उपनियमों को बनाने की आवश्यकता नहीं है, वरन् अपने आपको अधिकाधिक विवेकशील बनाने की आवश्यकता है, जिससे कि हम अपने ही आचरण को साक्षीभाव से देख सकें और उस पर अनुद्विग्न मन से निर्णय कर सकें।

शिष्टाचार के नियमों[1] का नैतिकता में स्थान—प्रत्येक समाज में ऐसे अनेक नियम प्रचलित होते हैं, जिन्हें शिष्टाचार समझा जाता है। जब कोई हमारे घर पर आता है, तो प्रथम हम उसको नमस्कार करते हैं, फिर बैठका में बैठाते हैं और उसकी कुशलात पूछते हैं और फिर पान, इत्यादि देते हैं। दक्षिण भारत में नियम है कि जब किसी व्यक्ति से बिदाई लेनी होती है, तो उसे पान दे दिया जाता है। किसी व्यक्ति को पान दिखाने का अर्थ अब यह समझा जाता है कि अब उसे अपनी बातें समाप्त कर चला जाना चाहिए। जो व्यक्ति इस पान दिखाने के बाद भी ठहर जाता है, वह अशिष्ट समझा जाता है। इसी प्रकार जो लोग अपने अतिथि का स्वागत पान-तम्बाकू आदि से नहीं करते, वे अशिष्ट समझे जाते हैं। आधुनिक सभ्यता के लोगों में पान का प्रचार कम होता जा रहा है। अब अतिथि को सिगरेट, चाय आदि अधिक दिया जाता है।

यूरोप में भी अनेक शिष्ट व्यवहार के नियम हैं। इनमें से कुछ मनुष्य के लिए उपयोगी हैं, और कुछ आवश्यक हैं। कपड़े पहनने के ढंग बँधे हुए हैं। भोजन करते समय किसी प्रकार का खड़खड़ाहट आदि शब्द करना अशिष्ट समझा जाता है। किसी विशेष अवसर पर विशेष प्रकार के वस्त्र न धारण करना अशिष्टता समझा जाता है। सुबह, दोपहर, शाम एवं बिदाई के समय नमस्कार के ढंग विभिन्न हैं। इसी प्रकार बातचीत करते समय 'सर' और 'मैडम' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक समझा जाता है। भोजन करते समय जो व्यक्ति जितना कम माँगता है और देते समय लेना स्वीकार करता है, वह शिष्ट माना जाता है।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार के शिष्टाचार के नियमों का पालन करना कहाँ तक उचित है, और जो व्यक्ति समाज के शिष्टाचार के सभी नियमों का पालन नहीं करता, उसे कहाँ तक नैतिक व्यक्ति मान सकते हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् अपने कानों में ठेठा लगाये रहता था, जिससे कि वह दूसरों से अपनी व्यर्थ की प्रशंसा न सुने और जिससे उसका समय व्यर्थ के शिष्टाचार में

---

1. Conventional rules.

खर्च न हो। कारलायल महाशय अपने अतिथि के आगत-स्वागत में अधिक समय नहीं नष्ट करते थे। जॉनसन् लौकिक व्यवहार में फूहड़ था। वह जहाँ चाय के लिए आमंत्रित होता था, वहाँ वह एक दर्जन प्याली चाय पीता था। इन सभी लोगों के बहुत कुछ व्यवहार, समाज में प्रचलित शिष्टाचार के नियमों के विरुद्ध थे, परन्तु ये अपने समय के देश के महान् व्यक्ति माने गये हैं और इनमें से प्रत्येक ने राष्ट्र को अपनी कृतियों-द्वारा नैतिक शिक्षा दी है। इससे यह स्पष्ट है कि समाज के प्रत्येक शिष्टाचार के नियम का पालन करना नैतिक जीवन के लिये आवश्यक नहीं है। इतना ही नहीं, समाज के कुछ शिष्टाचार के नियम सच्ची नैतिकता के प्रतिकूल भी होते हैं। कई प्रकार के हँसी-मजाक में भाग लेना कहीं-कहीं शिष्टाचार समझा जाता है, परन्तु यह नैतिकता नहीं है।

साधारणतः समाज में प्रचलित शिष्टाचार के नियम नैतिकता के अनुकूल ही होते हैं। इन नियमों के पालन करने से मनुष्य में आत्मसंयम का भाव और दूसरे को प्रसन्न रखने की इच्छा प्रबल होती है। इस प्रकार के नियमों से समाज सुदृढ़ होता है। समाज में प्रचलित शिष्टाचार के जो नियम नैतिकता के मूल सिद्धान्त के प्रतिकूल न हों, उनका पालन करना ही अच्छा है। जिस रीति-नीति या व्यवहार को समाज के सभी लोग मानते हैं, उनके अनुसार चलकर हम समाज को सुदृढ़ बनाते हैं; उसके प्रतिकूल चलने से समाज में उच्छृंखलता उत्पन्न होती है। मान लें, हमें कोई व्यक्ति किसी विशेष उत्सव के समय आमंत्रित करता है, किन्तु हम उसका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते, अथवा उसे स्वीकार करके भी निश्चित समय पर नहीं पहुँचते, अथवा उत्सव में पहुँचने पर भी अन्यमनस्क रहते हैं। ये सभी प्रकार के व्यवहार अनुचित हैं। इनको पालन करने के लिये कोई नैतिक नियम नहीं है, किन्तु यदि समाज के सभी लोग इस प्रकार का आचरण करने लगें, तो समाज-संगठन ही शिथिल हो जाय। इनके भीतर एक व्यापक नैतिकता का नियम कार्य करता है। वह नियम है—प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

जो व्यक्ति समाज के प्रचलित शिष्टाचार के नियमों की अवहेलना नहीं करता, उसमें अन्य नैतिक नियमों के अनुसार अपने आचरण को बनाने की

योग्यता आ जाती है। अतएव जब तक किसी महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना हमें न करनी पड़े, तब तक समाज में प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही आचरण करना उचित है। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम व्यापक नैतिक सिद्धान्त के प्रतिकूल किसी रूढ़ि के वश में होकर आचरण करें। जिस प्रकार समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध सदा आचरण करना अनुचित है, उसी प्रकार उनका अन्धानुकरण करना भी अनुचित है। मनुष्य को सदैव अपने विवेक से काम लेना चाहिये। जहाँ पर किसी व्यापक नैतिक नियम और समाज के प्रतिदिन के नियम में संघर्ष हो, वहाँ व्यापक नैतिक नियम को मानना ही उचित है।

आवश्यक कर्तव्य और मनोनीत कर्तव्य[1]—कुछ नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिनको पूरा करना हमारे लिए ऋण चुकाने के समान आवश्यक होता है। ये कर्तव्य ऋण-रूप हैं। इन कर्तव्यों के नियम निश्चित रहते हैं। उदाहरणार्थ, अपने वचन को भंग न करने अथवा दूसरे की वस्तु को न चुराने के नियम। इन नियमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इनके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें निश्चित नियमों में प्रकाशित नहीं किया जा सकता, और जिनका करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। यदि इन कर्तव्यों को कोई मनुष्य पूरा करता है, तो हम उसकी सराहना अवश्य करते हैं; किन्तु यदि वह उन कर्तव्यों का पालन न करे, तब हम उसकी भर्त्सना भी नहीं करते। अपने घर पर आये आगन्तुक से मधुर वचन बोलना सभी का कर्तव्य है। जो आगन्तुक से कठोर भाषण करता है, वह हमारी भर्त्सना का पात्र होता है। अब यदि कोई व्यक्ति मधुर भाषण के साथ-साथ उसे जलपान भी कराता है, तो हम ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा अवश्य करते हैं; परन्तु हम यह आशा नहीं करते कि सभी लोग उसी प्रकार का आचरण करें। यह मनुष्य के स्वभाव का एक प्रशंसनीय गुण है, इतना हम अवश्य मानते हैं। यह उसके स्वेच्छित कर्तव्य का उदाहरण है।

---

1. Duties of perfect obligation and duties of imperfect obligation.

कांट महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित ऋण[1]-रूपी कर्तव्यों और अनिश्चित ऋण-रूपी कर्तव्यों[2] में विभाजित किया है। निश्चित ऋण-रूपी कर्तव्य वह है, जो अनिवार्य आज्ञा[3] के रूप में मनुष्य के सामने आता है। ये कर्तव्य अधिकतर निषेधात्मक होते हैं, अर्थात् वे हमको किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सर्वकालीन और सर्वदेशीय होते हैं और विधेयात्मक इसके विपरीत होते हैं, अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, अतएव इन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता है।

मैकेंजी महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है :—

(१) ऐसे कर्तव्य जिन्हें राज्य के नियम का रूप दिया जाता है और जिनकी अवहेलना दण्डनीय है।

(२) वे कर्तव्य जिन्हें राज्य के नियमों का रूप नहीं दिया जा सकता, परन्तु जिसका पालन करना प्रत्येक नागरिक को शोभा देता है।

(३) वे कर्तव्य, जिनके पालन करने की आशा सभी लोगों से नहीं की जा सकती।

इन तीनों प्रकार के कर्त्तव्यों की कोई सीमा-रेखा नहीं है। कभी एक प्रकार का कर्तव्य दूसरे प्रकार का कर्त्तव्य बन जाता है। पशुओं को न मारना कुछ देशों में तीसरे प्रकार का कर्तव्य माना जाता है। इसी प्रकार शराब न पीने का उदाहरण है। जो कर्तव्य एक समय अनिश्चित कर्तव्य के रूप में माना जाता है वही कर्तव्य दूसरे समय निश्चित कर्तव्य माना जा सकता है। पशुओं की सेवा करना अशोककालीन भारत में निश्चित कर्तव्य माना जाता था और उनका वध करना दण्डनीय अपराध था, परन्तु दूसरे समय अथवा दूसरे काल में इस कर्तव्य को निश्चित ऋण का कर्तव्य नहीं माना गया है।

---

1. Perfect obligation. 2. Imperfect obligation.
3. Categorical imperative.

मनुष्य के कर्तव्य की तालिका सभी काल के लिये कभी भी निश्चित नहीं की जा सकती है। अपने समय के लिए जो कार्य करना आवश्यक है, उन्हें समाज के अगुआ लोग निश्चित ऋण-रूपी कर्तव्य के रूप में जनता के समक्ष रखते हैं। इसी प्रकार बाइबिल की दस आज्ञाएँ हैं; मनु के दस धर्म भी इसी प्रकार के हैं। इन कर्तव्यों में से कुछ कर्तव्यों पर किसी काल में कम अथवा अधिक जोर दिया जाता है। समाज के नेता लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी नए कर्तव्यों को ही महत्त्व का स्थान देते हैं, तब निश्चित ऋण के कर्तव्यों की संख्या कुछ बढ़ जाती है।

मनुष्य के विशेष कर्तव्य—मनुष्य के सामान्य कर्त्तव्य नैतिकता के नियमों से निश्चित होते हैं, परन्तु उसे अपनी स्थिति में क्या करना चाहिये, इसका निर्णय उसे स्वयं करना पड़ता है। अपनी स्थिति को मनुष्य स्वयं ही समझ सकता है। दूसरा कोई व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता जिस प्रकार वह स्वयं समझता है। अतएव किसी विशेष परिस्थिति में प्रत्येक मनुष्य का क्या कर्तव्य है इसका निर्णय दूसरा व्यक्ति उसके लिये नहीं कर सकता।

मनुष्य की परिस्थिति दो प्रकार की होती है—एक मानसिक और दूसरी वातावरण की। अपने कर्तव्य को निश्चित करने के लिये उसे दोनों की ओर ध्यान देना पड़ता है। अपने स्थान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्तव्य निश्चित करता है। ये कर्त्तव्य अपना काम ठीक करने में उसे सहायता देते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी विशेष परिस्थिति और अपने स्वभाव को ध्यान में न रखकर कर्तव्य का निर्णय करना चाहता है, तो वह किसी भी निश्चय पर नहीं पहुँचता है। अपने कर्तव्य का निर्णय करने के लिए सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जो काम सब-से निकट है, उसी को हमें करना चाहिये। उक्त सिद्धान्त को महात्मा टाल्सटायल ने अपनी "तीन प्रश्न" नामक निम्नलिखित कहानी में बड़े अच्छे ढंग से बताया है—किसी समय एक राजा के मन में निम्नलिखित तीन प्रश्न आये—

(१) सब से अधिक महत्व का कार्य कौन है?

(२) परामर्श लेने के लिए सब से अधिक महत्व का व्यक्ति कौन है?

(३) निश्चित कार्य को प्रारम्भ करने का सब से महत्व का समय कौन-सा है ?

इन प्रश्नों का ठीक उत्तर जानने के लिये उसने अपने राज्य के सभी लोगों से जिज्ञासा की। किसी ने एक काम को ठीक बताया और किसी ने दूसरे को। इसी प्रकार दूसरे प्रश्न के उत्तर भी अनेक मिले। राजा इन उत्तरों से संतुष्ट न हुआ। उसकी जिज्ञासा की मनोवृत्ति बनी रही। उसने सुन रक्खा था कि एक साधु हमारे राज्य में राजधानी से कुछ दूर एक जंगल में अकेला रहता है। वह केवल साधारण देहातियों से ही मिलता है। राजा ने निश्चय किया कि वह अपने प्रश्नों का ठीक उत्तर पाने के लिये उसी साधु के पास जाये। अतएव वह अपने साथ विश्वसनीय गुप्तचर लेकर साधारण नागरिक के भेष में उस ओर चला। जब वह उस साधु की कुटिया के पास पहुँचा, तो उसने गुप्तचरों को आसपास के जंगल में छोड़ दिया और स्वयं अकेला ही साधु के पास पहुँचा। इस समय दिन ढल चुका था। उसने उस साधु को खेत में कुदाल चलाते हुए देखा और फिर वहीं चुपचाप खड़ा होकर उसका काम देखने लगा। कुछ देर बाद जब साधु ने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई और राजा की ओर देखा, तो राजा ने अपने तीनों प्रश्न साधु के सम्मुख रक्खा। साधु ने उन तीनों प्रश्नों को सुन लिया, किन्तु उनका उत्तर दिये बिना ही फिर अपने कार्य में लग गया। वह एक और घंटा तक खेत कोड़ता रहा। उसने फिर से जब अपनी दृष्टि उठाई, तो राजा ने अपने प्रश्नों को दोहराया। साधु ने इशारे से राजा को बुलाया और उसके हाथ में अपनी कुदाल पकड़ा दी। साधु थक चुका था और हाँफ रहा था। राजा ने साधु की यह दशा देखकर खेत कोड़ना प्रारम्भ कर दिया और एक घंटा तक मन लगा कर काम करता रहा। संध्या होने पर उसने काम बन्द किया और फिर से प्रश्नों के उत्तर साधु से पूछे।

इसी बीच साधु ने एक व्यक्ति को कुटिया की ओर दौड़ कर आते हुए देखा। वह अपना पेट पकड़े हुए था। साधु ने राजा से कहा कि चलो देखो वह कौन आ रहा है ? साधु तेजी के साथ उस आगन्तुक की ओर बढ़ा। साथ ही राजा ने भी उसका अनुसरण किया। वह आगन्तुक इन लोगों के पहुँचने के पूर्व ही भूमि पर गिर चुका था। उसके कपड़े रक्त से लथ-पथ हो रहे थे। उसके पेट से

लोहू निकल रहा था और वह बेहोश हो चुका था। साधु ने उसके बहते हुए रक्त को रोका और उसके घाव की मलहम-पट्टी की। कुछ देर बाद वह व्यक्ति होश में आया और उसने पानी माँगा। साधु ने राजा से निकट के तालाब से एक बर्तन में पानी लाने के लिये कहा। वह साधु की आज्ञानुसार तुरन्त दौड़ कर पानी ले आया। फिर दोनों आगन्तुक को उठा कर कुटिया में ले गये।

अब तक रात काफी बीत चुकी थी। राजा बिलकुल थक गया था। वह अपने प्रश्नों को भूल गया और सो गया। साधु भी सो गया। प्रातःकाल जब राजा उठा, तो उसने घायल व्यक्ति को जगा हुआ पाया। राजा के जागते ही उस व्यक्ति ने बड़े दैन्य-भाव से राजा से क्षमा माँगनी प्रारम्भ की। राजा उसकी क्षमा-याचना को सुनकर विस्मय में पड़ गया। उसने राजा को अपना परिचय दिया और कहा कि मैं आपका घोर शत्रु हूँ। मेरे भाई को जब आपने फाँसी की सजा दी थी, तभी मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि मैं इसका बदला अवश्य लूँगा। बदला लेने का अवसर मैं ढूँढ़ ही रहा था। मुझे मालूम हुआ था कि आप इस समय साधु के पास एक साधारण मनुष्य के भेष में आये हुए हैं। अतः मैं आपको मार डालने की नियत से झाड़ी में छुप गया था। इसी बीच आपके गुप्तचरों ने मुझे देख लिया और उन्होंने ही मेरे ऊपर हथियार चला दिए। मैं अपने प्राणों की रक्षा के लिये साधु की कुटिया की ओर दौड़ा; क्योंकि मैं जानता था कि वे गुप्तचर इस कुटिया तक न आयेंगे, क्योंकि उन्हें यहाँ आने की आज्ञा नहीं है। आपने मेरी सेवा-सुश्रूषा करके मेरे प्राण बचा दिये, आपने मुझे प्राण-दान दिया, इसका मैं ऋणी हूँ। आपके प्रति मेरा पुराना द्वेष-भाव सब नष्ट हो गया और अब मैं जीवन भर आप का सेवक बनकर रहूँगा।"

घायल व्यक्ति की ये बातें सुनकर राजा स्तब्ध-सा हो गया। कुछ देर बाद उसने घर की ओर वापस लौटने का विचार किया। अब फिर उसने अपने तीन प्रश्नों के उत्तर उक्त साधु से माँगे। साधु ने उत्तर दिया, "क्या आपको अभी तक अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले?" उसने आगे चलकर कहा—"आपके प्रश्नों के उत्तर तो कार्यों-द्वारा पहले ही दिये जा चुके हैं। सबसे महत्त्व का काम वह है, जो हमारे सामने है। सबसे महत्व का व्यक्ति वह है, जो हमारे पास है और सबसे महत्त्व का समय अभी है। यदि आप मेरे पास आकर

मुझ पर सहानुभूति दिखाकर मुझे सहायता न देते, और मुझ पर क्रुद्ध होकर जल्दी से वापस चले जाते, तो आज आपके प्राण न बचते। यह व्यक्ति आप को मारने के लिए छिपा हुआ था। वह आपको अकेला पाकर अवश्य मार डालता। अतएव जब आप मेरे पास आये थे, तो सबसे महत्व का काम मुझे सहायता देना था। फिर जब यह घायल व्यक्ति दौड़ा हुआ आया, तो सबसे महत्व का काम उसकी सहायता करना था। यदि उसकी सहायता न की जाती, तो वह आपसे मैत्रीभावना स्थापित किये बिना ही मर जाता। उसकी सहायता करने से ही वह घोर शत्रु आपका मित्र बन गया है। अतएव जो व्यक्ति हमारे सामने है, उसकी सहायता करना ही जीवन में सबसे महत्व का कर्त्तव्य है। जीवन अस्थायी वस्तु है। कोई नहीं जानता कि उसे कोई दूसरा भला काम करने का अवसर मिलेगा अथवा नहीं।

इसी तरह जो व्यक्ति हमारे पास है, वही महत्व का व्यक्ति है और उसी की सलाह मानना और उसी की सलाह लेना हमारा कर्त्तव्य है। हम नहीं जानते कि हम किसी दूसरे व्यक्ति से मिल पायेंगे या नहीं।

सबसे महत्व का समय वर्तमान समय है; क्योंकि वर्तमान काल ही हमारे हाथ में है। यही निश्चित काल है। भविष्य के विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करना और वर्तमान काल में कुछ न करना कर्त्तव्य-हीनता की मनोवृत्ति को दर्शाता है।

उपर्युक्त 'कथानक' इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें अपने वर्तमान समय के कर्तव्य को निश्चित करने के लिए अपनी वर्तमान परिस्थिति और योग्यता को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। जब कोई मनुष्य किसी एक प्रकार के जीवन को स्वीकार कर लेता है, तो उस जीवन के सहज कर्तव्य अपने आप ही उसके सामने आने लगते हैं। इन कर्तव्यों को करने से उसके जीवन का विकास होता है। किसी मनुष्य के कर्तव्य को निश्चित करने के लिए नैतिक नियमों को जानने की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितना कि हम किस प्रकार का चरित्र बनाना चाहते हैं, इसे जानने की आवश्यकता है। सुविकसित चरित्र-वाला व्यक्ति, चाहे उसे किसी भी परिस्थिति में क्यों न रखा जाये, अपने

कर्तव्य को निश्चित कर लेता है और उस कर्तव्य के नियमों को जान लेता है।

मैकेंजी महाशय का कथन है कि जिस व्यक्ति को किसी काम में पूरी लगन होती है, उसके लिए कर्तव्य के नियमों को जानने की आवश्यकता नहीं रहती। हैवह कर्तव्य के नियम जाने बिना ही अपने कर्तव्य को ठीक से करता चला जाता। जब किसी मनुष्य की किसी काम में करने के रुचि में कमी होती है, अथवा अपनी रुचि के अनुकूल उसे काम करना पड़ता है, तभी उसे कर्तव्य के नियमों की आवश्यकता पड़ती है। जिस विद्यार्थी का मन स्वयं पढ़ाई में लगता है, उसे पढ़ाई के नियमों को जानने की आवश्यकता नहीं होती। उसकी रुचि ही उसकी पढ़ाई के कार्य में पथ-प्रदर्शन करती है। जिस व्यक्ति की सहज रुचि पढ़ाई में नहीं है और जो थोड़ा ही समय पढ़ाई के लिए दे सकता है, उसी के लिए पढ़ाई के नियम बनाने की आवश्यकता होती है।

कर्तव्य के नियम बनाने का उद्देश्य अपनी रुचि को विशेष ओर मोड़ना होता है। ये नियम हम से ऐसे काम करा लेते हैं, जो हमें पहले कठिन दिखाई देते हैं या अप्रिय लगते हैं। जब हम किसी कठिन काम को कर्तव्य समझ कर करने लगते हैं, और उसके करने में अभ्यस्त हो जाते हैं, तो वह कार्य सरल और रुचिकर हो जाता है। जब कोई काम रुचिकर हो जाता है, तब कर्तव्य सम्बन्धी नियम अनावश्यक हो जाते हैं।

नैतिक आचरण के नियम—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि नैतिक आचरण के नियम को निश्चित करना सरल नहीं है। नैतिक आचरण के नियम गणित के नियम के समान हर समय के लिए निश्चित नहीं किये जा सकते। व्यावहारिक जीवन में मनुष्य को प्रति दिन सोचकर यह निश्चित करना पड़ता है कि उसे आज क्या करना चाहिए। नीति-शास्त्र का कोई भी विद्वान् उसे यह नहीं बता सकता कि उसका आज का कर्तव्य क्या है। इसे मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुसार स्वयं निश्चित करना होगा। नीति-शास्त्र का विद्वान् सामान्य मनुष्य को केवल इतना ही बता सकता है कि उसे अपने काम को किस भाव से करना चाहिए। नीति-शास्त्र का विद्वान् केवल

यह बता सकता है कि कर्तव्य के सामान्य नियम क्या हैं और मनुष्य के जीवन में उनका क्या स्थान है ? परन्तु किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन में उन नियमों को कैसे लगाया जाय, इसे कर्तव्य-शास्त्र नहीं बताता। जीवन परिवर्तनशील है, इसे हर समय के लिये तथा किसी नियम के लिए किसी नियम के भीतर नहीं जकड़ा जा सकता है।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि मानव-जीवन में नीति-शास्त्र का फिर कोई स्थान ही नहीं है। नीति-शास्त्र मनुष्य को मानव-जीवन के सर्वोच्च आदर्श को दिखाने की चेष्टा करता है और उसकी प्राप्ति के लिये योग्य उपाय दर्शाता है। इन्हें जानकर प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को सफल एवं सार्थक बना सकता है। यह सत्य है कि प्रतिभावान् व्यक्ति नीति-शास्त्र के ज्ञान के बिना ही भले और बुरे आचरण का ज्ञान कर लेता है और इस ज्ञान के बिना ही वह सदाचारी बन जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नीति-शास्त्र एक निरर्थक वस्तु है। दर्शन का अध्ययन मनुष्य को उसके विचारों एवं कर्मों से अवगत कराता है। जिस प्रकार एक कवि कविता बनाकर हमारे समक्ष उपस्थित सौन्दर्य का ज्ञान हमें कराता है, उसी प्रकार एक नीति-शास्त्रज्ञ भी हमें नीति-शास्त्र के विचार के द्वारा जो आचरण मनुष्य करता है, उसी की भलाई अथवा बुराई का ज्ञान कराता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र हमें अपने जीवन के संचालन के लिये विशेष नियमों को न देकर भी हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होता है। इसके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि हमारा जीवन किस ओर जा रहा है। यदि नीति-शास्त्र हमें अपरिवर्तनशील कठोर नियमों को दे दे, तो वह हमारे जीवन को प्रगतिशील न बनाकर विशेष प्रकार की शृंखलाओं में जकड़ देगा। ऐसा होने से जीवन के निर्जीव बन जाने की ही सम्भावना है। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और अपने-अपने कर्तव्यों को हल करने की चेष्टा करता है, तभी उसका जीवन प्रगतिशील होता है। अतएव जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने लिए उचित एवं अनुचित का निर्णय स्वयं करे। नीति-शास्त्र के अध्ययन का ध्येय एक निश्चित आदर्श को अपने मन में स्थिर करना है। इस आदर्श के अनुसार

जीवन की क्रियाओं के सुसंचालन के लिए मनुष्य कुछ सामान्य नियम बनाता है और फिर वह नियमों को अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार अपनी समस्याओं को हल करने में लगाता है।

प्रश्न

१. मनुष्य के ऋण और कर्त्तव्य में क्या सम्बन्ध है ? मनुष्य के सामान्य कर्तव्य क्या-क्या हैं ?

२. "मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था का आदर करना चाहिए" इस विचार के अर्थ को स्पष्ट कीजिये।

३. कर्त्तव्यवार्त्तिकाओं की नैतिकता में क्या उपयोगिता है ? क्या कर्तव्यवार्तिकाओं के अनुसार चलकर मनुष्य आदर्श स्वत्व की प्राप्ति कर सकता है ? नैतिकता का सर्वोच्च सिद्धान्त क्या है ? इसको ध्यान में रखते हुए शिष्टाचार के नियमों की नैतिक उपयोगिता को बताइये।

४. आवश्यक और मनोनीत कर्तव्यों में क्या भेद है ? इस प्रसंग में मेकेञ्जी महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिये।

५. मनुष्य के विशेष कर्तव्य कैसे निश्चित किये जाते हैं ? यदि हमें आज का कर्तव्य निश्चित करना है तो कैसे करेंगे।

———

उन्नीसवाँ प्रकरण

नैतिकता की सत्ता[1]

नैतिकता की सत्ता का प्रश्न—कर्तव्य-विज्ञान पर चिन्तन करने-वाले भिन्न-भिन्न प्रकार की विचारधाराओं के विद्वानों ने नैतिक आदर्श की सत्ता के विषय में विभिन्न प्रकार के विचार प्रगट किये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार नैतिकता की सत्ता का आधार ईश्वर का नियम है। ईश्वर के नियम के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को दण्ड अवश्य मिलता है इसलिए मनुष्य को नैतिकता का पालन करना चाहिए। दूसरे लोगों के अनुसार नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य प्रकृति द्वारा दण्ड पाता है। अतएव प्रकृति विरुद्ध आचरण करना अनुचित है। कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार नैतिकता के विरुद्ध आचरण करना कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति करता है। अतएव मनुष्य को अपने तथा समाज के सुख-दुःख पर विचार करके सदाचार से रहना चाहिए। कुछ दूसरे विद्वानों के मतानुसार नैतिक नियम की बाध्यता मनुष्य की अन्तरात्मा से ही आती है। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध काम इसलिए नहीं करना चाहिए कि अन्तरात्मा से निकट और कोई बड़ी वस्तु नहीं है, और इसके नियम को मानना अपने-आप के नियम को ही मानना है। कुछ दूसरे विद्वान अन्तरात्मा की जगह विवेक को सर्वोच्च स्थान देते हैं। विवेक न केवल नैतिकता में सही और गलत को बताता है वरन् विवेक में ही वह शक्ति है जो हमें गलत मार्ग को छोड़कर सही मार्ग का अवलम्बन करने के लिए बाध्य करती है। विवेक से ऊँची नैतिकता में कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती।

---

1. Moral Authority.

संसार का महान पुरुष वह है, जो बाहरी सत्ता के नियम को सर्वोच्च न मानकर अपने विवेक के नियम को ही सर्वोच्च मानता है।

विभिन्न प्रकार की सत्ताओं के प्रकार—कर्तव्य-विज्ञान के विद्वानों ने तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी हैं—वस्तु-स्थिति पर जोर देनेवाली, आवश्यकताओं पर जोर देनेवाली और विधि-निषेधों पर जोर देनेवाली। संसार के प्राकृतिक नियम वस्तु-स्थिति पर जोर देते हैं। उनकी सत्ता वस्तु-स्थिति पर निर्भर है। यदि हम अपने हाथ को आग में डालें, तो वह जल जाएगा; यह प्रकृति का नियम है। अतएव इससे हमारे आचरण का एक नियम यह निकलता है कि हमें आग को न छूना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृति का नियम है कि बलवान् व्यक्ति निर्बल को दबा देता है। इस प्राकृतिक नियम के आधार पर यह नैतिक नियम बनाया जा सकता है कि हमें बलवान से लड़ाई न करनी चाहिए।

दूसरे प्रकार की सत्ता वह है, जिसमें बाध्यता पर अधिक जोर डाला जाता है। राज्य के नियमों का पालन करना हमारे लिए आवश्यक है। यदि हम राज्य-नियम को न मानें तो हमें दण्ड भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार समाज में लोकाचार के अनेक नियमों का पालन हमें करना पड़ता है। यदि हम इन नियमों को न मानें, तो हमें समाज का तिरस्कार सहना पड़ेगा।

तीसरे प्रकार की सत्ता में विधि-निषेध पर जोर दिया जाता है। यहाँ किसी काम को इसलिये करना पड़ता है, कि उस काम का करना उसके लिए उचित है। इसकी तुलना में पहले दो प्रकार की सत्ताएँ बाह्य सत्ताएँ हैं। अन्तिम सत्ता आन्तरिक सत्ता है। पहले तो नैतिकता में किसी प्रकार की बाध्यता के लिए स्थान ही नहीं है; और यदि इसके लिए कोई स्थान है, तो वह अपने आप-द्वारा बाध्यता के लिए हो। अतएव वस्तु-स्थिति और आवश्यकता की बाध्यता को नैतिकता में कोई स्थान ही नहीं। वहाँ यदि किसी प्रकार की बाध्यता के लिए स्थान है, तो वह आन्तरिक बाध्यता के लिए ही। प्रकृति के अनुकूल आचरण करने और उसकी सत्ता को प्रमुख स्थान देने से नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राकृतिक नियम नैतिक नियम नहीं है। वस्तु-स्थिति के अनुसार आचरण करना स्वाभाविक है। उसमें औचित्य और अनौचित्य का विचार ही क्या? कभी-कभी प्राकृतिक नियम के अनुसार आचरण करने में मनुष्य की नैतिकता

देखी जाती है; और कभी-कभी इसके प्रतिकूल आचरण में। इसी तरह राज्य नियमों को मानना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। किन्तु इस आवश्यकता के कारण नैतिकता की माँग पूरी नहीं होती। लौकिक चतुराई ही हमें राज्य के नियमों को मानने के लिए बाध्य करती है। पर लौकिक चतुराई नैतिकता नहीं है। नैतिकता उससे ऊँची और विलक्षण वस्तु है। नैतिकता में आन्तरिक प्रेरणा का प्रधान स्थान है। इस आन्तरिक प्रेरणा के प्रतिकूल आचरण करना ही अनैतिक आचरण है। किसी भी बाहरी नियम को वहीं तक मानना उचित है, जहाँ तक वह हमारे आन्तरिक मन की प्रेरणा के अनुसार हो।

नैतिक सत्ता के तीन प्रकार—नैतिकता की जो विभिन्न कसौटियाँ मानी गई हैं, उनके अनुसार ही इसकी सत्ता का निरूपण किया गया है। नीति-शास्त्र के कुछ विद्वानों के अनुसार नैतिकता किसी बाहरी नियम के पालन में है, और कुछ के अनुसार आन्तरिक नियम के पालन में। एक तीसरे मत के अनुसार नैतिकता का ध्येय किसी नियम का पालन करना नहीं, वरन् किसी विशेष लक्षण की प्राप्ति है। पहली विचार-धारा में तीन प्रकार के नियम माने गये हैं—ईश्वरीय नियम, प्राकृतिक नियम और राजकीय अथवा सामाजिक नियम। दूसरी विचार-धारा के अन्तर्गत अन्तरात्मा और विवेक के नियम आते हैं। तीसरी विचार-धारा में सुख, पूर्णता अथवा निःश्रेय का आदर्श माना गया है। साधारणतः नैतिकता की सत्ता पर विचार नैतिकता के विभिन्न प्रकार की कसौटी के अनुसार ही है। परन्तु इसमें भेद भी हैं, अर्थात् नैतिकता की कसौटी की कल्पना एक प्रकार की है, और नैतिकता के लिए बाध्य करने-वाली सत्ता की कल्पना दूसरे प्रकार की। उदाहरणार्थ पदार्थ-सुखवाद की कसौटी को लीजिए। इसके अनुसार नैतिकता का आदर्श मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव के ऊपर निर्भर है; और नैतिकता विशेष प्रकार के लक्षण की प्राप्ति में मानी गई है, जिसकी प्रेरणा वास्तव में मनुष्य के मन से ही होनी चाहिए। किन्तु इस विचार-धारा में नैतिकता की सत्ता अर्थात् उसकी बाध्यता को बाहरी वस्तु माना गया है।

जहाँ तक नैतिकता की सत्ता का किसी विशेष प्रकार के बाहरी नियम के ऊपर निर्भर होने का प्रश्न आता है; वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि यह निर्भरता वास्तव में नैतिकता के प्रतिकूल है। किसी प्रकार के बाहरी नियम पर,

चाहे वह समाज, प्रकृति अथवा ईश्वर का ही नियम हो, नैतिकता को आश्रित करना उसे अर्थहीन बनाना है। नैतिकता आध्यात्मिक विकास का साधन है और यह आध्यात्मिक विकास मनुष्य में बिना स्वतंत्र इच्छाशक्ति की वृद्धि के सम्भव ही नहीं। जो व्यक्ति किसी प्रकार की बाहरी सत्ता के भय के कारण ही नैतिक आचरण करता है, उसका नैतिक आचरण दिखावा मात्र होता है। इस प्रकार के नैतिक आचरण से उसके चरित्र में कोई भी उन्नति नहीं होती। चरित्र की उन्नति विवेक और स्वतंत्र इच्छाशक्ति के द्वारा नियन्त्रित क्रियाओं से ही होती है। अतएव हम थोड़े में यह कह सकते हैं कि बाहरी सत्ता के भय के कारण मनुष्य में जो नैतिकता आती है वह नैतिकता नहीं है; और उस सत्ता को भी हम नैतिक सत्ता नहीं कह सकते, जो बाध्य करके भय के द्वारा किसी व्यक्ति से नैतिक आचरण कराती है।

नैतिक आचरण के प्रेरक[1]—नैतिकता की सत्ता के प्रश्न के साथ-साथ नैतिक आचरण के प्रेरकों और बन्धनों का प्रश्न आता है। एक बार जब नैतिकता का निरूपण हो चुका, तो प्रश्न उठता है कि मनुष्य को नैतिक आचरण के लिये बाध्य कौन करेगा और यदि वह अनैतिक आचरण करे, तो उसे इस प्रकार के आचरण से रोकने के लिए कौन-सी नैतिक शक्ति है। इस विषय में परार्थ सुखवादियों के विचार स्पष्ट हैं। परार्थ सुखवादियों ने अधिक-से-अधिक संख्या में अधिक-से-अधिक सुख को नैतिकता का आदर्श निश्चित किया है। किन्तु यह स्पष्ट है कि स्वभावतः ही मनुष्य दूसरे के सुख की परवाह न कर अपने ही सुख की अधिक परवाह करेगा। अतएव यदि हमें उससे नैतिक आचरण करवाना है, तो इसके लिए हमें विशेष प्रेरकों से काम लेना पड़ेगा। बेन्थम महाशय का कथन है कि मनुष्य के नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य सबका सुख अवश्य है, किन्तु किसी व्यक्ति के काम के प्रेरक उसके वैयक्तिक सुख की आशाएँ ही होती हैं। अतएव राज्य के नियम बनाने वाले को सबके सुख को ध्यान में रखना होगा और उसे देखना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपना आचरण इसी आदर्श के अनुसार बनाता है या नहीं। किन्तु नैतिक आचरण की प्रेरणा एक

---

1. Sanctions.

ही बात से उत्पन्न हो सकती है, वह है सुख की चाह और दुःख से भय। बेन्थम महाशय ने फिर उक्त सब प्रकार के दुःख—सुखों पर विचार किया है, जो कि मनुष्य को नैतिक आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं और जिनका उपयोग करना इस दृष्टि से उचित माना गया है।

बेन्थम ने नैतिक आचरण के चार प्रकार के प्रेरक माने हैं—भौतिक,[1] राजनैतिक,[2] नैतिक[3] और धार्मिक[4]। भौतिक प्रेरक वे हैं, जिनके कारण कोई व्यक्ति प्राकृतिक सुख अथवा दुःख के कारण उचित आचरण करता है। ये प्रेरक (उत्तेजक) किसी व्यक्ति अथवा समाज की इच्छा के ऊपर निर्भर नहीं करते। जब कोई मनुष्य नशाखोर अथवा व्यभिचारी हो जाता है, तो स्वयं प्रकृति ही उसे दण्ड देती है। अतएव यहाँ प्रकृति ही व्यक्ति को नैतिक आचरण करने के लिए बाध्य कर और अनैतिकता से रोकती है। यदि कोई व्यक्ति राज-दण्ड के कारण अपने आप को अनैतिक आचरण से रोकता है और राज्य से पुरस्कार पाने के विचार से अपने आप में नैतिक आचरण लाता है, तो उसे हम राजनैतिक उत्तेजकों से सदाचार के लिए प्रेरित मानेंगे। यदि समाज की निन्दा और उसकी स्थिति की इच्छा के भय से कोई व्यक्ति सदाचरण करता है, तो वह नैतिक उत्तेजकों के अनुसार चलता है। ये नैतिक उत्तेजक जाति-बहिष्कार और बोलचाल बन्द किये जाने के रूप में आते हैं। धार्मिक उत्तेजक स्वर्ग और नरक में पुरस्कार अथवा दण्ड पाने के विचार हैं। जब मनुष्य अपने धर्म-गुरु की इच्छा के प्रतिकूल आचरण करता है, तो उसे नरक में यन्त्रणा पाने का भय उत्पन्न हो जाता है। समाज के अधिकांश लोगों को नैतिक बनाये रखने में स्वर्ग और नरक के विचार ही प्रबल उत्तेजक होते हैं।

मनुष्य के विभिन्न प्रकार के आचरणों में विभिन्न प्रकार के उत्तेजक कम अथवा अधिक मात्रा में काम करते हैं। परन्तु प्रायः सभी प्रकार के उत्तेजक थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में क्रियमाण रहते हैं। किसी कार्य के करने में अधिक प्रेरणा भौतिक उत्तेजक से मिलती है, तो किसी में राजनैतिक, लौकिक (नैतिक) अथवा धार्मिक उत्तेजकों से।

---

1. Physical. 2. Political. 3. Moral. 4. Religious.

जन स्टुअर्ट मिल महाशय ने नैतिक आचरण में उपर्युक्त सभी प्रकार के उत्तेजकों की उपयोगिता मानी है। वे बेन्थम के परार्थ सुखवाद के समर्थक थे। पर उन्होंने इन सब उत्तेजकों को बाहरी उत्तेजक माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और उत्तेजक माना है। वह है अन्तरात्मा की आवाज। उन्होंने इसे आन्तरिक उत्तेजक कहा है। आन्तरिक उत्तेजक हमारे नैतिक स्थायी भागों के अनुसार काम करने के सुख और उनके प्रतिकूल आचरण करने की अनुभूति में हैं। मिल का कथन है कि दूसरे सभी उत्तेजक भौतिक उत्तेजक हैं, केवल अन्तर्प्रेरणा ही मानसिक उत्तेजक है। अतएव यह सबसे महत्त्वशाली है। स्वयं बेन्थम महाशय ने भी अपने बताये हुए सभी उत्तेजकों को भौतिक अथवा बाह्य उत्तेजक माना है। सभी उत्तेजक सुख और दुःख के रूप में कार्यकर्त्ता के समक्ष आते हैं। चाहे प्राकृतिक शक्ति हो चाहे न्यायाधीश अथवा जन साधारण की अथवा ईश्वर की ही क्यों न हो; ये सभी प्रकार की शक्तियाँ बाहर से मनुष्य के ऊपर कार्य करती हैं और दुःख सुख के रूप में ही उत्तेजक बनती हैं। आन्तरिक उत्तेजक मानसिक होते हैं और मनुष्य को भले काम करने के लिए भीतर से बाध्य करते हैं।

मिल ने विभिन्न उत्तेजकों का विभाजन बाह्य और आन्तरिक उत्तेजकों में किया है; किन्तु उसने जो आन्तरिक उत्तेजक बताया है, वह किसी विशेष नियम के पालन में सुख अथवा दुःख की अनुभूति ही है। उन्होंने आन्तरिक प्रेरणा का जो स्वरूप बताया है, वह एक प्रकार की बाहरी प्रेरणामात्र है। इस प्रकार के प्रेरक को आन्तरिक नहीं माना जा सकता। जब तक हम आन्तरिक प्रेरक को अपने आन्तरिक स्वभाव की ही प्रेरणा नहीं मानते, तब तक उसकी सत्ता को हम नैतिक-सत्ता नहीं मानते, तब तक भय अथवा किसी प्रकार के प्रलोभन-वश जो कार्य होता है, वह नैतिक नहीं होता। जिस सत्ता के कारण ऐसा कार्य होता है, वह नैतिक सत्ता नहीं है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मिल और बेन्थम महाशय के बताए हुए नैतिकता के विभिन्न उत्तेजकों का सच्ची नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अन्तर्प्रेरक की सत्ता[1]—मिल महाशय ने अन्तर्प्रेरक की सत्ता को माना

1. The Authority of the conscience.

है। किन्तु इस अन्तर्प्रेरक को अनैतिक आचरण करने पर कष्ट एक प्रकार का देनेवाला मान लिया गया है। अन्तर्दर्शनवादी अन्तर्प्रेरक को कष्ट देनेवाला नहीं मानते। परन्तु इस पर भी वे इसको एक प्रबल सत्ता मानते हैं। बटलर महाशय का कथन है कि यदि हम अन्तर्प्रेरक में इस अधिकार की कल्पना न करें कि वह हमारी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों के ऊपर नियन्त्रण कर सकता है, तो ऐसी शक्ति व्यर्थ होगी। यदि इस सत्ता को मनुष्य के कामों के नियन्त्रण की पूर्ण शक्ति और अधिकार हो, तो संसार में कोई काम बुरा ही न हो। प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्तर्प्रेरक की आज्ञा को मानना चाहिये। अन्तर्प्रेरक का नियम अपने आप का ही नियम है। अतएव अन्तर्प्रेरक के आज्ञानुसार चलना अपने ही आज्ञानुसार चलना है; अन्तर्प्रेरक का बन्धन अपने-आप का ही बन्धन है। इस भाँति अन्तर्प्रेरक हमें न केवल नीति-पथ दर्शाता है, वरन् वही उस पथ पर चलने के लिये हमें बाध्य भी करता है।*

बटलर महाशय नैतिकता की वास्तविक सत्ता की ओर हमारा ध्यान ले गये हैं। यह अन्तर्प्रेरक की सत्ता है। परन्तु जबतक अन्तर्प्रेरक के स्वरूप का ठीक निरूपण नहीं होता, तब तक इसी को नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता मानना भ्रामक होगा। नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता का विवेक-युक्त होना आवश्यक है। अतएव जबतक विवेक और अन्तर्प्रेरक का एकत्व न मान लिया जाय तबतक अन्तर्प्रेरक में ही सर्वोच्च सत्ता मानना उचित नहीं। वास्तव में मनुष्य का विवेक केवल उसके नैतिक आदर्श का निर्माता और कर्तव्य का पथ-प्रदर्शक ही नहीं, वरन् वह नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता भी है।

विवेक की सत्ता[1]—कान्ट महाशय और आदर्शवादियों ने विवेक की

---

* Your obligation is to obey this law it being the law of your nature. That your conscience approves of it and attests to such a course of action is itself alone an obligation. Conscience does not only offer itself to show us the way, we should walk in but it likewise carries its own authority that it is our natural guide."

1. Authority of reason.

सत्ता को ही सर्वोच्च सत्ता माना है ! इसी को सूक्रात, प्लेटो और अरस्तू ने भी सर्वोच्च सत्ता माना है। आधुनिक काल में भी कर्तव्य-शास्त्र के गम्भीर लेखक इसी को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। प्रकृतिवादी इसे सर्वोच्च सत्ता नहीं मानते । वास्तव में उनके कथनानुसार नैतिकता की सत्ता को मानना ही अनावश्यक है; क्योंकि प्रकृति बाध्य कराके सबसे नैतिक आचरण करा ही लेती है।

मनुष्य का सबसे ऊँचा स्वत्व विवेकमय है। अतएव जब मनुष्य विवेकानुसार आचरण करता है, तो वह सर्वोच्च स्वत्व को मानता है। विवेक के अनुशासन में रहना अपने सर्वोच्च स्वत्व के अनुशासन में रहना है, और इसी में नैतिकता का सर्वोच्च अधिकार है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि जो लोग तर्क-बुद्धि के परे किसी विशेष स्वत्व के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उनके लिए इसी स्वत्व की सत्ता को सर्वोच्च मानना स्वाभाविक है।

नैतिक आदर्श की सर्वोत्कृष्टता[1]—नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं, वरन् एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करना है। यह लक्ष्य अपने आप को, अपने आचरण को, विवेकयुक्त बनाने का लक्ष्य है। मनुष्य का विवेक कहता है कि वह अपने आपको जितना ऊँचा उठा सकता है, उतना ऊँचा उठावे और जितना भला बना सकता है, उतना भला बनावे। किसी एक विशेष नियम के पालन करने से मनुष्य अपने नैतिक होने का आत्म-सन्तोष भले ही प्राप्त कर ले; किन्तु नैतिक नियम का पालन मात्र ही नैतिकता की सर्वोच्च वस्तु नहीं है। सबसे ऊँचा नैतिक जीवन उस मनुष्य का कहा जाता है, जो किसी नैतिक आदर्श को मानकर चलता है और विभिन्न प्रकार के नियमों की परवाह नहीं करता। जिस नियम का पालन करना उसके लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है; उसे वह पालता है और जो नियम उसके सुनिश्चित लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होता है, उसे वह नहीं मानता। वह अपने आदर्श अथवा लक्ष्य का ही बन्धन मानता है, न कि किसी नियम का।

आधुनिक काल में हमारे देश में हिंसा और अहिंसा के विषय में बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ है। प्रश्न यह है कि हमें शत्रु से लड़ने के लिए शस्त्र का उपयोग

1. Absoluteness of the moral Standard.

करना चाहिए या नहीं। अब इस विषय में कितने ही नियम क्यों न बनाए जायँ, वे कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकते। यदि हमने नैतिकता का आदर्श यह मान लिया है कि हमें अपने आचरण से संसार के लोगों की सबसे अधिक भलाई करनी है, तो विशेष समय की हिंसा अथवा अहिंसा का प्रश्न सरलता से सुलझ जाता है। फिर वही अहिंसा उचित है, जिससे अधिक प्राणियों का कल्याण हो; और जिस अहिंसा से समाज के चोर-डाकुओं को प्रोत्साहन मिले वह त्याज्य है। इस प्रकार का आचरण अपने विवेकशील स्वत्व के अनुसार आचरण होगा।

अब प्रश्न यह आता है कि यदि हम नैतिक आचरण के कुछ नियम न बनावें और उसे आचरणकर्त्ता की बुद्धि पर ही यह छोड़ दें कि वह अपने लिए अपने आदर्शानुसार उचित नियम बना ले तो, सम्भव है कि हम नैतिक जीवन को शिथिल कर देंगे। इसी विचार से प्रेरित होकर कर्तव्य-शास्त्र के कई-एक विद्वानों ने आचरण के कुछ नियमों को निश्चित करने पर जोर डाला है। पर इस प्रकार आचरण के नियमों को निश्चित कर लेना नैतिक विचार के विकास को नहीं दर्शाता। सभ्यता की निम्नकोटि के लोगों में नैतिकता के नियम बड़े कठोर होते हैं; परन्तु नैतिकता के आदर्श का ज्ञान न रहने के कारण इन नियमों का पालन करते हुए भी कभी-कभी वे वास्तविक नैतिकता के प्रतिकूल आचरण कर देते हैं। उनके नैतिक नियमों के पालन की कट्टरता ही समाज को हानि पहुँचाती है, और इस प्रकार वे नियम उनके आध्यात्मिक जीवन के विकास में सहायक न होकर उनमें रुकावट ही डालते हैं।

मनुष्य का उत्तरदायित्व जितना ही जटिल और उसके कार्य्यों का क्षेत्र जितना ही विस्तीर्ण होता जाता है, उसके नैतिक आचरण में एक ओर उतनी ही दृढ़ता और दूसरी ओर उसके नियमों में उतनी ही अनिश्चितता भी आती है। सेना के सिपाही की देश-भक्ति इसी में देखी जाती है कि वह सेवा के कुछ बँधे नियमों का पालन भली-भाँति करे। पर देश के नेता के लिए ऐसे कुछ नियम नहीं बने रहते। उसकी देश-भक्ति इसी में देखी जाती है कि वह देश के लिए ऐसा काम करे, जो उसे सबसे अधिक लाभकारी हो। वह काम क्या होगा और उसे कौन से नियम पालन करने होंगे—इसका उसे स्वयं निश्चिय करना पड़ता

है। जो बातें देश-भक्ति के आदर्श के विषय में सही हैं, वे ही बातें नैतिकता के आदर्श के विषय में भी सही हैं। नैतिकता की दृढ़ता की कसौटी नियमों की कट्टरता नहीं है। नैतिकता की दृढ़ता मनुष्य की उस भावना में है जिसके अनुसार वह अपने आप को सर्वोच्च बनाना चाहता है। अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए उपयुक्त नियम अथवा मार्ग मनुष्य स्वयं ही बनाता या उनमें परिवर्तन करता है।

प्रश्न

१. नैतिक बनने की प्रेरणा मनुष्य में कैसे आती है? बाहरी सत्ता उसे कहाँ तक नैतिक बना सकती है?

२. मनुष्य को नैतिक बनाने में विभिन्न प्रकार की नैतिक सत्ताओं की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिये।

३. नैतिक आचरण के प्रेरक कौन-कौन हैं? इस विषय में बेन्थम महाशय के विचारों की आलोचना करते हुए उन्हें स्पष्ट कीजिये।

४. अन्तरात्मा की सत्ता और विवेक की सत्ता की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। नैतिक आदर्श की उपस्थिति ही नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता है—इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये।

———

बीसवाँ प्रकरण

सद्गुण और उनका उपार्जन

सद्गुण की व्याख्या[1]—चरित्र के सद्गुण मनुष्य के धर्म कहलाते हैं। ये मानव-जीवन को सार्थक बनाते हैं। भारतीय दर्शनों में 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द के अर्थ 'मजहब', 'कर्तव्य', 'विशेषगुण', 'सृष्टि, अथवा 'समाज को चलाने वाले नियम' इत्यादि माने गये हैं। यहाँ पर हम धर्म शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में कर रहे हैं। पाश्चात्य कर्तव्य-शास्त्र में धर्म शब्द के अर्थ चरित्र के वे सद्गुण हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने-आपको और समाज को सुखी बनाता है। अंग्रेजी में इसका पर्यायवाची शब्द 'वरचू' है। अंग्रेजी वरचू शब्द लैटिन वीर शब्द से निकला है, जिसका अर्थ वही है; जो संस्कृत 'वीर' शब्द का है। वीर पुरुष साहसी और शक्तिशाली होता है। संसार के सभी काम शक्ति से चलते हैं। इस दृष्टि से वीरता अथवा धर्म संसार का संचालक है, क्योंकि संसार को धारण करनेवाला धर्म ही है। मनुष्य के व्यक्तित्व को सँभालनेवाला तत्त्व-धर्म है। इस सँभालनेवाले तत्त्व के अनेक रूप हैं, जिन्हें हम चरित्र के सद्गुण कहते हैं। जिस प्रकार हम बाह्य जगत् का कोई अनुशासन मानते हैं, उसी प्रकार हमें अपने आन्तरिक जगत् का भी एक अनुशासक मानना पड़ता है। इस अनुशासक के कुछ नियम हैं। इन नियमों का पालन करना कर्तव्य माना जाता है। बाह्य जगत् के नियम प्राकृतिक नियम और आन्तरिक जगत् के नियम नैतिक नियम कहे जाते हैं। कर्तव्य-शास्त्र इन नैतिक नियमों की व्याख्या करता है। इन नैतिक नियमों के पालन में ही कर्तव्य-परायणता मानी जाती है। कर्तव्य के पालन करने से

---

1. Cardinal Virtues.

मनुष्य के मन में विशेष प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। बार-बार कर्तव्य के पालन से ये संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। मनुष्य की भली आदतों के कारण ये संस्कार ही हैं। ये भली आदतें ही चरित्र के सद्गुण अथवा धर्म कहे जाते हैं।

प्रत्येक आदत एक क्रियात्मक मनोवृत्ति है। जिस मनुष्य का अभ्यास जिस प्रकार का होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति भी उसी प्रकार की हो जाती है। आदतें दो प्रकार की होती हैं; एक वे जो जानबूझ कर प्रयत्न-द्वारा अपने-आप में डाली जाती हैं; और दूसरी वे जो अपने-आप पड़ जाती हैं। चरित्र के सद्गुण अथवा धर्म वे आदते हैं जिसे मनुष्य जान-बूझकर अर्थात् विवेक की जाग्रतावस्था में ग्रहण करता है। जो आदतें अनायास पड़ जाती हैं अथवा अज्ञानावस्था में आ जाती हैं, अथवा जो बाध्य होकर डाली जाती हैं उनका नाम चरित्र के सद्गुण नहीं कहा जाता है। वे धर्म नहीं हैं। किसी प्रकार की आदत के डालने में मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति को जहाँ तक काम में लाता है और इस आदत के द्वारा वह जहाँ तक इस इच्छाशक्ति को बली बनाता है, वहाँ तक उस आदत को हम सद्गुण या धर्म कहते हैं। धार्मिक होने का अर्थ यही है कि हमारा चरित्र ऐसा बना है कि संसार के सत्यपथ पर चलने का अभ्यास हममें दृढ़ हो गया है। जब सदाचारी व्यक्ति किसी धर्म-संकट में पड़ जाता है, तो वह प्रेय-मार्ग को ग्रहण न कर श्रेय मार्ग को ग्रहण करता है।

सद्गुणी के जीवन में कुछ कठोरता पाई जाती है। इसमें त्याग और तपस्या की आवश्यकता होती है। चरित्र का प्रत्येक सद्गुण आत्मनियन्त्रण के द्वारा प्राप्त होता है। अरस्तू महाशय के कथनानुसार सद्गुण का एक लक्षण अतिक्रम का अभाव है। किसी प्रकार का अतिक्रम चरित्र का सद्गुण नहीं, बल्कि दुर्गुण माना गया है। इस प्रकार घोर तपस्या अथवा पूर्णतया निर्भीक रहने की आदत चरित्र के सद्गुण नहीं हैं। इनसे मनुष्य और समाज को लाभ न होकर हानि ही होती है। अतिक्रम से एक ओर मानसिक उथल-पुथल पैदा होती है तथा मनुष्य का जीवन शान्तिमय न होकर अपूर्ण हो जाता है; और दूसरी ओर अनेक प्रकार के सामाजिक झंझट उठ खड़े होते हैं। किसी प्रकार के अतिक्रम से मनुष्य का अहंकार बढ़ता है, जो अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण होता है। अतएव अरस्तू महाशय ने मध्यममार्ग को ही नैतिक दृष्टि

से श्रेष्ठ मार्ग माना है और ऐसी आदत को सद्गुण कहा है, जिसके द्वारा मध्यममार्ग का अनुसरण हो। जिस प्रकार भोग-विलास का अतिक्रम चरित्र का दुर्गुण है, उसी प्रकार घोर तपस्या भी चरित्र का दुर्गुण है। अरस्तू महाशय के कथनानुसार सद्गुण का एक लक्षण प्रसन्नता की उत्पत्ति है। किसी प्रकार के अतिक्रम से प्रसन्नता का नाश होता है। अतएव अतिक्रम का होना चरित्र के दोष को दर्शाता है। अतिक्रम मनुष्य की इच्छा-शक्ति की दृढ़ता का नहीं, वरन् उसकी निर्बलता अथवा हठीलेपन का सूचक है*।

जैसा कि पिछले एक प्रकरण में कहा जा चुका है कि मध्यममार्ग सभी व्यक्तियों के लिए एक ही नहीं होता। व्यक्तिगत भेद और परिस्थितिभेद के अनुसार यह भिन्न-भिन्न होता है। जितने न्याय और तपस्या की आशा एक भिक्षु से की जाती है उतने की आशा एक गृहस्थ से नहीं की जाती। हँसी-मजाक न करना, समय-समय पर मौन रहना, एक बार भोजन करना आदि अभ्यास भिक्षु के लिए चरित्र के सद्गुण हैं, पर ये सद्गुण किसी-किसी परिस्थिति में दूसरे व्यक्तियों के चरित्र में दुर्गुण का रूप धारण कर लेते हैं। जितनी बहादुरी की आशा हम एक सैनिक से करते हैं, उतनी एक वाणिज्य-व्यवसायी से नहीं करते। जब कोई व्यक्ति अपनी परिस्थिति को समझकर उसके उपयुक्त अभ्यास नहीं डालता, तो वह चरित्र में सद्गुण को न उत्पन्न कर दुर्गुण को ही उत्पन्न करता है। उचित मात्रा में किसी प्रकार के त्याग, तपस्या, साहस, उदारता आदि दर्शाना चरित्र के शुभ लक्षण हैं। उचित मात्रा क्या है इसका निर्णय समाज के कल्याण अथवा मनुष्य के सामाजिक जीवन के लाभ को देखकर

---

*अरस्तू के मध्यम मार्ग के सिद्धान्त में हम बुद्ध भगवान् के मध्यम प्रतिपदा का आभास पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो दो भिन्न-भिन्न भाषाओं में दो व्यक्तियों ने एक ही बात कही है। बुद्ध-भगवान् ने एक ओर विषय-लोलुपता के जीवन की निन्दा की है और दूसरी ओर घोर तपस्या के जीवन की भी उन्होंने दोनों प्रकार के जीवन का अनुभव किया और दोनों को ही दुःख और अज्ञान की वृद्धि करनेवाला पाया। समता के भाव के बिना मनुष्य के मन में न तो शांति आती है, और न उसे सच्चा ज्ञान ही होता है।

करना चाहिए। अरस्तू महाशय के कथनानुसार मध्यममार्ग मनुष्य की बुद्धि की कुशलता और उसकी सूक्ष्म-दृष्टि पर निर्भर है। संसार के महान् पुरुषों के चरित्र इस निर्णय में सहायक होते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सद्गुण के तीन प्रधान लक्षण हैं—

(१) विवेकशीलता अर्थात् स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कार्य,

(२) प्रसन्नता, और

(३) अतिक्रम का अभाव।

सद्गुण में देश-काल का स्थान—मनुष्य के सद्गुण देश और काल के ऊपर निर्भर हैं। मनुष्य के चरित्र के एक प्रकार के गुण एक देश अथवा एक काल में बहुत भले माने जाते हैं, और दूसरे देश तथा दूसरे काल में उतने भले नहीं माने जाते हैं। भिन्न-भिन्न समय के लोगों के सद्गुण-संबंधी विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। जिन लोगों को दूसरे लोगों से लड़ने की आवश्यकता हर समय पड़ती रहती है, युद्ध में वीरता को उनके लिए एक बड़ा सद्गुण माना जाता है। शान्तिप्रिय देशों अथवा शांति की अवस्था में शम और आत्म-निग्रह को अधिक बड़ा गुण माना जाता है। मुस्लिम देशों में आत्म-निग्रह अथवा शम और संतोष को उस दृष्टि से नहीं देखा जाता, जिस दृष्टि से इन गुणों को भारतवर्ष में देखा जाता है। सतीत्व के भाव को हमारे देश में जिस प्रकार का महत्व दिया जाता है, वैसा महत्व दूसरे देशों में नहीं दिया जाता। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वर्तमान समय के सद्गुण और पुराने समय के सद्गुणों में कोई साम्य है ही नहीं, अथवा एक देश और दूसरे देश के सद्गुणों में साम्य नहीं है। प्राचीनकाल में रण-भूमि में प्रदर्शित की गई वीरता की प्रशंसा की जाती थी और वर्तमानकाल में समाज की रूढ़ियों के विरोध करने में साहस की प्रशंसा की जाती है। अब वैयक्तिक जीवन की पवित्रता को उतना महत्व नहीं दिया जाता, जितना सामाजिक जीवन की पवित्रता को दिया जाता है। समाज में चरित्र के उन गुणों की प्रशंसा सदा की जाती है, जो समाज को स्थिर बनाये रखते हैं। प्रत्येक सुगठित समाज में बहादुरी, उदारता, आत्म-संयम और विवेकशीलता की आवश्यकता पड़ती

है। इन गुणों के बिना कोई समाज चल नहीं सकता। अतएव किसी-न-किसी रूप में इन सभी गुणों की वृद्धि की जाती है।

सद्गुणों में व्यक्तिगत भेद—चरित्र के सद्गुण सभी लोगों के एक से नहीं होते। इनमें व्यक्तिगत भेद होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के व्यवसायों के अनुसार उनके कर्तव्यों में भेद होते हैं, उसी प्रकार उनके चरित्र के सद्गुणों में भी भेद होते हैं। एक बुद्धिजीवी अथवा वणिक से उतनी शूर-वीरता की आशा नहीं की जाती, जितनी कि एक सैनिक से की जाती है। इनसे शम और दानशीलता की अधिक आशा की जाती है। अरस्तू महाशय ने सद्गुण को बीच का मार्ग कहा है। किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए बीच का मार्ग भिन्न-भिन्न होता है। अपने जीवन के व्यवसायों और अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार मनुष्य को भिन्न-भिन्न मात्रा में किसी सद्गुण की वृद्धि करनी पड़ती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने मनुष्यों के धर्मों को उनके गुण और कर्मों के ऊपर आधारित बताया है और प्रत्येक व्यक्ति को स्वभाव के अनुसार आचरण करने का आदेश दिया है। *

स्वार्थ-सद्गुण और परार्थ- सद्गुण—नीतिशास्त्र के पाश्चात्य पंडितों ने मनुष्य के सद्गुणों को स्वार्थ और परार्थ दो भागों में विभाजित किया है। स्वार्थ सद्गुण वे हैं, जो वैयक्तिक उन्नति के काम में आते हैं और परार्थ-सद्गुण वे हैं, जो समाज की सेवा करने अथवा समाज को उन्नत बनाने के काम में आते हैं। इन्द्रिय-निग्रह, सन्तोष, मितभाषण, विवेक शीलता आदि सद्गुण अधिकतर अपने-आप से ही सम्बन्ध रखते और मनुष्य के जीवन को उन्नतिशील बनाते हैं। इसके प्रतिकूल दानशीलता, न्यायप्रियता और

---

* भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः।"

यहाँ स्वधर्म का अर्थ किसी मत-मतान्तर से नहीं, वरन् मनुष्य के कर्तव्य अथवा चरित्र के सद्गुणों से है। जो मनुष्य अपने गुण-कर्म के प्रतिकूल किसी काम को करता है अथवा किसी गुण का अभ्यास करता है, वह अपने जीवन को क्लेशमय बनाने की तैयारी करता है।

शूर-वीरता सामाजिक सद्गुण हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को सफल बनाता और समाज का कल्याण करता है। अतएव ये गुण परार्थ सद्गुण कहे जाते हैं।

स्वार्थ और परार्थ सद्गुणों का भेद वास्तव में कोई मौलिक भेद नहीं है। यह केवल ऊपरी भेद है। वास्तव में जिन सद्गुणों से मनुष्यों का वैयक्तिक जीवन सफल होता है, उन्हीं सद्गुणों से उसका सामाजिक जीवन भी सफल होता है; और जिन सद्गुणों से कोई व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से उन्नतिशील होता है, उन्हीं सद्गुणों से सम्पूर्ण समाज भी उन्नत होता है। समाज-सम्बन्धी सद्गुण भी व्यक्ति का उसी प्रकार लाभ करते हैं, जिस प्रकार वे समाज का लाभ करते हैं। उदारता और न्याय-प्रियता दूसरों का लाभ करते हैं, किन्तु अपने मन में उदारता का भाव रखने से मनुष्य अपनी प्रसन्नता को बढ़ाता है और अपनी न्याय-प्रियता से वह अपनी इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाता है। इस प्रकार उक्त दोनों गुण सामाजिक और वैयक्तिक दृष्टि से, अर्थात् दोनों प्रकारों से उपादेय हैं।

प्रधान सद्गुण—प्रधान सद्गुण सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। जिन गुणों को पुराने समय के यूनानी लोग प्रधान सद्गुण मानते थे, उन्हें मध्यकालीन यूरोप के ईसाई लोग प्रधान सद्गुण नहीं मानते थे। यूनानी मत और ईसाई मत में कुछ भेद अवश्य रह आया है, पर भेद होते हुए भी दोनों में कुछ समानता है। यूनानी विचार-धारा के अनुसार मुख्य सद्गुण चार हैं—आत्म-संयम[1], शौर्य[2], विवेकशीलता[3] और न्याय-प्रियता[4]। इन गुणों की रूप-रेखा हम प्लेटो महाशय की 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में पाते हैं। संयम का अर्थ अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण है। शौर्य का अर्थ लड़ाई में बहादुरी है। विवेकशीलता अपने जीवन को समझ-बूझकर चलाने में है और न्यायप्रियता दूसरे को उसके उचित अधिकार के अनुसार काम करने देने में है। ईसाई धर्म में दूसरे ही प्रकार के सद्गुणों पर जोर डाला गया है। उसमें आशा[5], श्रद्धा[6], उदारता[7], चरित्र की पवित्रता[8] और आत्म-समर्पण[9] महान् सद्गुण बताए गये हैं। यूनानी लोगों ने अपने नैतिक विचारों में ईश्वर और

---

1. Temperance. 2. Courage. 3. Wisdom. 4. Justice. 5. Hope. 6. Faith. 7. Charity. 8. Purity. 9. Self-abnegation.

धर्म को स्थान नहीं दिया है। जिस व्यक्ति में चरित्र के सभी प्रकार के सद्गुण हैं; किन्तु आत्मसमर्पण करने का भाव नहीं है, वह ईसाई दृष्टि से सद्गुणी ही नहीं कहा जायगा। महात्मा कबीर ने चरित्र के गुणों को शून्य के रूप में और ईश्वरोपासना को अंक के रूप में माना है। अंक के अभाव में शून्य अर्थहीन है और उसकी उपस्थिति में शून्यसार्थक हो जाता है। इसी तरह मनुष्य के चरित्र के सभी सद्गुण तभी सार्थक होते हैं, जब वे ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करने के पश्चात् होते हैं। आत्म-समर्पण की मनोवृत्ति के अभाव में मनुष्य के सद्गुण उसके कोरे अभिमान को बढ़ाते और उसे विनाश की ओर ले जाते हैं। कबीर का जो मत है, वही मत ईसाई धर्म के एक महान् सन्त सेन्ट अगस्टाइन का भी है। *

इस प्रसंग में सेन्ट अगस्टाइन महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

* For though the soul may seem to rule the body admirably, and the reason the vices, if the soul and reason do not themselves obey God, as God has commanded them to serve Him, they have no proper authority over the body and the vices. For what kind of mistress of the body and the vices can that mind be which is ignorant of the true God, and which, instead of being subject to His authority, is prostituted to the corrupting influences of the most vicious demons ? It is for this reason that the virtues which it seems to possess, itself and by which it restrains the body and the vices that it may obtain and keep what it desires, are rather vices than virtues so long as there is no reference to God in the matter. For although some suppose that virtues which have a reference only to themselves, and are desired only on their own account, are yet true and genuine virtues, the fact is that even then they are inflated with pride, and are therefore to be reckoned vices rather than virtues. For as that which gives life to the flesh is not derived

समय के अनुसार सद्गुण-सम्बन्धी विचारों का परिवर्तन होता जाता था। एक ही नाम से पुकारे जानेवाले सद्गुण यूनानी काल में एक अर्थ रखते थे और वर्तमान काल में दूसरा अर्थ रखते हैं। उदाहरणार्थ शौर्य (बहादुरी) को लीजिये। यूनानी काल में रण में जो वीरता दिखाई जाती थी, उसीको शौर्य कहा जाता था, पर वर्तमान काल में समाज की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने में जो हिम्मत की आवश्यकता होती है, उसे भी शौर्य कहते हैं। अपने विरोधियों की आलोचना सहते हुए न्यायपक्ष पर डटे रहना उतना ही कठिन है, जितना किसी प्रबल शत्रु का रण में विरोध करना। आत्म-संयम शब्द के अर्थ में भी इसी प्रकार परिवर्तन हुआ है। किसी प्रबल प्रलोभन से चलायमान न होने की मनोभावना को आत्म-संयम कहा जाता है, परन्तु लगन के साथ काम करने में भी आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। अतएव अब आत्म-संयम के अन्तर्गत मनोयोग से अपने काम में लगे रहने का भाव भी आ जाता है। इसी प्रकार न्यायपराणता के अन्तर्गत दूसरों के प्रति उदारता दिखाने का भाव भी आ जाता है। सामान्यतः न्यायपरायणता दूसरों के प्रति अपने ऋण को ठीक से चुकाने का अर्थ रखती है। जिस व्यक्ति ने हमारे प्रति भला किया है, उसके प्रति हमें भी भला करना चाहिए, यही न्यायपरायणता है। न्यायपरायणता में साधारणतः उदारता का भाव नहीं आता। पर विचारों के विकास के साथ-साथ अब यह भाव भी आता जा रहा है। विवेकशीलता का पुराना अर्थ समाज में कुशलता पूर्वक आचरण करना था। अदूरदर्शिता को अविवेकशीलता कहा जाता था। पर अब विवेकशीलता का अर्थ अपने आपको उचित आदर्श की प्राप्ति में लगाना भी माना जाता है।

यूरोप में जिन सद्गुणों को ऊँचा माना गया है, उन्हें भारतवर्ष में वैसा ही ऊँचा नहीं माना गया। अतएव यूरोपीय विचार-धारा को समझते समय

---

fron flesh, but is above it, so that which gives blessed life to man is not derived from man but is something about him; and what I say of man is true of every celestial power and virtue whatsoever—'Saint Augustine. **The City of God** Bk XIX Sec 25.

वहाँ के सद्गुण-द्योतक शब्दों को जानना आवश्यक है। किसी विशेष शब्द के द्वारा यूरोप में होता है, जिस भाव का समावेश होता है; उस भाव का समावेश उसके पर्यायवाची हिन्दी अथवा संस्कृत शब्द में नहीं होता। किसी राष्ट्र की संस्कृति का विकास उसकी भाषा के विकास के साथ-साथ होता है। अतएव सांस्कृतिक भावों के द्योतक शब्दों को जाने बिना किसी समाज की संस्कृति को समझना कठिन है।

सद्गुणों की एकता—चरित्र के अनेक सद्गुण माने गये हैं। इनमें देश-काल का भी भेद होता है। पर यदि हम तात्विक दृष्टि से देखें, तो चरित्र के सभी सद्गुणों में एकता रहती है। एक सद्गुण की वृद्धि से मनुष्य के दूसरे सद्गुणों की भी वृद्धि होती है, और एक के ह्रास से दूसरों का ह्रास होता है। अतएव यह यूनानी कहावत सार्थक है कि जिस व्यक्ति में एक सद्गुण पाया जाता है, उसमें दूसरे सद्गुण भी पाये जाते हैं। ऐसा कोई सद्गुण नहीं, जिसको प्राप्त करने के लिये विवेक की आवश्यकता न हो। अतएव सूकरात महाशय ने विवेक को प्रधान सद्गुण माना है। विवेकयुक्त साहस ही साहस माना जाता है। विवेक के प्रतिकूल जो साहस दिखाया जाता है, उसे हठ कहा जाता है। हमारा विवेक हमें साहसी, आत्म-संयमी और न्याय-प्रिय बनाता है। अतएव विवेक-द्वारा सभी सद्गुणों में एकता आती है। अब यदि हम आत्म-संयम की दृष्टि से देखें, तो भी हमें चरित्र के सभी सद्गुणों में एकता दिखाई देगी। जिस व्यक्ति को अपने ऊपर काबू नहीं है, वह न तो विवेकी है और न साहसी या न्याय-परायण ही। आत्म-संयम से विचारों में स्पष्टता और दृढ़ता आती है, उत्साह की वृद्धि होती है और मनुष्य न्याय-प्रिय बनता है। विचार और आत्म-संयम का अभ्यास सभी सद्गुणों के प्राण हैं। इनके बिना कोई सद्गुण संभव नहीं। विचार और आत्म-संयम भी एक दूसरे पर आश्रित हैं।

चरित्र निर्माण के साधन

निर्देश और उदाहरण का प्रभाव—नीति-शास्त्र के अध्ययन का प्रधान उद्देश्य अपने चरित्र को नैतिक बनाना है। बालकों का चरित्र नैतिक कैसे बनाया जाता है, इसे हम शिक्षा-मनोविज्ञान से सीखते हैं। बालकों के चरित्र के निर्माण का जो ढंग है, वही ढंग अपने आप के चरित्र-निर्माण का भी है।

चरित्र के निर्माण में ऊँचे आदर्शों और अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान आवश्यक है। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी भली आदतों के बनने की आवश्यकता होती है। ये भली आदतें दूसरे लोगों के सन्निर्देश और आचरण के प्रभाव से बनती हैं। हम जिस प्रकार के वातावरण में रहते और दूसरे भले लोगों को जैसा आचरण करते देखते हैं, उसी प्रकार का आचरण करने की प्रवृत्ति हमारे मन में भी उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को भला बनाना चाहता है। परन्तु यदि उसमें इच्छा-शक्ति का बल नहीं है, तो केवल भले आदर्शों के ज्ञान से ही वह भला नहीं बन जाता। नैतिकता पर विचार न करके आचरण करनेवाले व्यक्ति को नैतिक ज्ञान से लाभ न होकर कभी-कभी हानि ही होती है। इच्छा-शक्ति की निर्बलता की अवस्था में जब किसी मनुष्य को नैतिक ज्ञान दिया जाता है, तब इससे उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसका बाह्य मन तो आदर्शवादी बन जाता है, किन्तु अन्तर-मन पाशविक अवस्था में ही रहता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसके मन के दोनों भागों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है, जिससे उसकी मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति और भी निर्बल हो जाती है और वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने आपको अपराध की ओर जाते हुये पाता है।

यदि ऐसे व्यक्ति को नैतिक उपदेश न देकर सहज भाव से सदाचरण के लिये निर्देश दिये जायें, यदि उसकी प्रशंसा करके उसके आत्म-विश्वास को बढ़ाया जाय, तो उसका अधिक कल्याण होगा। अपने आप को दिये गये कल्याणकारी आत्म-निर्देश भी हमें अधिक उन्नत बना सकते हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है कि सफलता के समान सफलता देनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो मनुष्य अपने विचारों को रचनात्मक बना लेता है, वह अपने आप में नैतिक सुधार करने में समर्थ होता है।

भले लोगों का आचरण भी हमें चरित्र-निर्माण में प्रोत्साहन देता है। दूसरे लोग जैसा काम करते हैं, वैसा ही काम करने की प्रवृत्ति हम में भी उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक बुरा अथवा भला आचरण संक्रामक होता है। जब किसी व्यक्ति का आचरण विशेष प्रकार का होता है, तो दूसरे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। फिर उसकी विभिन्न क्रियाएँ दूसरे लोगों के मन में उसी

के समान आचरण करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करने लगती हैं। अतएव किसी विशेष व्यक्ति के आचरण में दूसरे लोगों को प्रभावित करने की शक्ति सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होती है। यदि इस विशेष व्यक्ति का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ, तो उसके आस-पास रहनेवाले सभी लोगों का चरित्र अपने आप ही सुन्दर हो जाता है।

एक बार सेण्ट फ्रैन्सिस नामक ईसाई महात्मा ने अपने एक मित्र से कहा- "चलो, आज हम इस नगर के लोगों को कुछ धर्मोपदेश दे आयें।" उनकी यह बात सुनकर उनके शिष्य उनके साथ हो लिये। प्रातःकाल वे अपने मठ से निकले और पूरे दिन उस नगर में घूमते रहे। यहाँ तक कि एक भी गली ऐसी न रही, जहाँ वे न गये हों। जब दिन ढलने लगा, तब वे मठ की ओर लौटने लगे। इसी बीच एक शिष्य ने सेण्ट फ्रैंसिस से पूछा—"पिता! हम धर्मोपदेश देना कब प्रारम्भ करेंगे?" इस पर सेण्ट फ्रैंसिस ने कहा—"हम लोग अभी तक क्या कर रहे थे? हम इस नगर के एक-एक गली में गये। इस नगर के लोगों के लिये यह धर्मोपदेश था। उन लोगों ने हमें देखा, हमारे उपदेशों के बारे में कुछ ने आपस में चर्चा की और वे त्याग के जीवन की महत्ता को अपने हृदय में दृढ़ कर सके। भले मार्ग पर चलने में अब उन्हें उतनी कठिनाई न होगी, जितनी पहले होती थी। क्या यह धर्मोपदेश नहीं है?"

उपर्युक्त सन्त का आचरण चरित्र-निर्माण में उदाहरण की महत्ता को दर्शाता है। वास्तव में हम केवल किसी विशेष व्यक्ति के आचरण से ही नहीं, वरन् अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी लोगों के आचरणों से प्रभावित होते हैं। अतएव किसी विशेष व्यक्ति के आचरण को सुधारने के लिये सम्पूर्ण वातावरण को सुधारना पड़ता है।

व्यापक उद्देश्य की उपस्थिति—अपने आपको किसी एक महत्त्व के लक्ष्य की प्राप्ति में लगा देना चरित्र-निर्माण का दूसरा उपाय है। जब तक कोई मनुष्य किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति में अपने आपको नहीं लगा देता, तब तक उसमें चरित्र के वे सद्गुण नहीं आते, जो उसके जीवन को आदर्श जीवन बनाने के लिये आवश्यक हैं। किसी महान् उद्देश्य में लगने पर उसे उसी उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु दूसरे लोगों के साथ काम करना पड़ता है और यह दूसरों के

साथ काम करना मनुष्य के चरित्र का वास्तविक निर्माण करना है। किसी मनुष्य का उद्देश्य विज्ञान का अध्ययन, किसी का समाज की सेवा, और किसी का उद्देश्य कविता अथवा कला की वृद्धि अथवा धर्म का प्रचार आदि हो सकता है। मनुष्य का उद्देश्य चाहे जो कुछ हो, पर जब तक वह इस प्रकार का नहीं हो जाता कि उद्देश्य के लिये वह अपने आपको भूल जाये, तब तक उसका चरित्र सुगठित नहीं होता। किसी सद्गुण के विकास के लिये यह आवश्यक है कि हम दूसरों से मिलकर किसी ऐसे उद्देश्य के लिये प्रयत्न करें, जो सच्चा और तात्विक है।

अभ्यास की महत्ता—चरित्र का प्रत्येक सद्गुण अभ्यास से आता है। ऐसा कोई सद्गुण नहीं, जिसे मनुष्य अभ्यास के द्वारा प्राप्त न कर ले। मनोविज्ञान की पुस्तकों में चरित्र के सद्गुणों को प्राप्त करने के उपाय बताये जाते हैं। भली आदतें ही चरित्र के सद्गुण और बुरी आदतें चरित्र के दुर्गुण कहे जाते हैं। आदत डालने के जो नियम हैं, वे ही सद्गुण-प्राप्ति के नियम हैं। किसी सद्गुण को प्राप्त करने के लिये हमें पहले उस पर पर्याप्त विचार, फिर नित्य-प्रति अभ्यास करना पड़ता है। जिस व्यक्ति का संकल्प जितना दृढ़ होता है, किसी सद्गुण को प्राप्त करने में वह उतना ही अधिक समर्थ होता है। अभ्यास को लगातार जारी रखना आवश्यक है। प्रारंभ में ही अभ्यास में ढिलाई डाल देने पर आदत नहीं बनती, और इस प्रकार कोई भी सद्गुण नहीं होता।

तप और त्याग—चरित्र-निर्माण के लिए तप और त्याग भी आवश्यक होते हैं। अपनी प्राकृतिक इच्छाओं के बश में होकर हम अपने आप को किसी एक ओर जितना ही मोड़ देते हैं, उतना ही हमें स्वयं को दूसरी ओर मोड़ने की आवश्यकता होती है, जिससे कि हम स्वाभाविक साम्य को प्राप्त कर सकें। इस प्रकार जिस मनुष्य को विलासिता की लत लग गई है, मानसिक साम्य प्राप्त करने के लिए उसे तप के जीवन की आवश्यकता होती है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही आराम का जीवन व्यतीत कर रहा है, उसे अपने चरित्र-निर्माण के लिए उतना ही कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

तप के जीवन की एक और उपयोगिता है। तप में मनुष्य को अपने आप को नियंत्रित करना पड़ता है। अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उसे यत्न करना पड़ता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति

बलवती होती है। जो व्यक्ति अपने आप से लड़कर अपने पाशविक स्वभाव पर जितना ही अधिकार करता है, वह अपनी इच्छा-शक्ति को उतनी ही अधिक बलवती बनता है। परन्तु अन्तर्द्वन्द्व तभी उपयोगी होता है, जब वह मनुष्य के जीवन में सहज रूप से उपस्थित हो जाता है। जब जान-बूझकर इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व को लाया जाता है, अर्थात् जब मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव पर नियंत्रण करने के लिए ही कोई कठोर तप करने लगता है, तब उसमें असाधारण अभिमान उत्पन्न हो जाता है। आत्म-विजय की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के मन में अभिमान का उत्पन्न होना मानसिक साम्य के बिगड़ने की स्थिति को दर्शाता है। इसे मानसिक रोग की अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की भोगेच्छाएँ अपनी तृप्ति का गुप्त मार्ग खोज निकालती हैं।

आत्म-निरीक्षण—चरित्र-निर्माण के लिए आत्मनिरीक्षण करते रहना कुछ दूर तक आवश्यक होता है। इससे मनुष्य अपने को बहुत दूर तक नैतिक भूलों से बचाता रहता है। परन्तु अपनी त्रुटियों की आलोचना सदा ही करते रहना और उसके लिये आत्म-भर्त्सना करते रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवती न होकर क्षीण हो जाती है और मनुष्य का चरित्र विघटित होने लगता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से बचने का एक उपाय यह है कि हम अपने को सदा ही रचनात्मक कार्य में लगाए रहें। किसी दुर्बलता से बचने का सर्वोत्तम उपाय उस दुर्बलता पर ध्यान न जमा कर उसके विरोधी सद्गुणों के अभ्यास में अपना ध्यान लगाना है। मनुष्य का ध्यान जिस ओर केन्द्रित रहता है, वह अपने आपको अनायास उसी ओर जाते हुए पाता है। यदि कोई मनुष्य किसी बुराई के लिए अपनी भर्त्सना करता रहता है, तो वह देखेगा कि वह आगे न बढ़कर पीछे की ओर ही ढकेला जाता है। आत्म-भर्त्सना का भाव न आने दे उसमें भले ही वह दुर्गुण, जिसके लिए वह आत्म-भर्त्सना करता है, परन्तु इस प्रकार उसमें कोई ऐसे सद्गुण दृढ़ न होंगे, जिससे कि उसका चरित्र दृढ़ बने। चरित्र की दृढ़ता अपने ध्यान को किसी रचनात्मक सद्गुण के ऊपर केन्द्रित करने से ही आती है। एमर्सन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि भले लोग अपनी भूलों का प्रायश्चित नये भले

काम करने के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार से नहीं करते।* वे पुरानी भूलों के लिए सदा आत्म-भर्त्सना नहीं करते।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य को अपनी दुर्बलताओं को जानने की चेष्टा तथा आत्मनिरीक्षण ही न करना चाहिए। अपने आपको सुधारने और दृढ़ चरित्र-गठन के लिए अपनी दुर्बलताओं को पहचानना नितांत आवश्यक है। परन्तु जो व्यक्ति इतने से ही संतोष कर लेता है, वह अपने आपको धोखा देता है। वह सदा आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता रहता है। ठोस चरित्र का निर्माण आलोचनात्मक विचारों से नहीं, वरन् रचनात्मक विचारों से होता है। इसके लिए मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए, जिससे उसे आत्म-प्रसाद और आत्म-संतोष की अनुभूति हो।

आत्म-निरीक्षण से चरित्र का कोई भी सद्गुण प्राप्त किया जा सकता है। पर इस अभ्यास को जारी रखने के लिये मनुष्य में इच्छा की प्रबलता का होना आवश्यक है। मनुष्य जिस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे वह अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। इच्छा की प्रबलता ही उसकी लगन का आधार होती है। इच्छा की यह प्रबलता किसी पदार्थ के ऊपर बारबार विचार करने से आती है।

चरित्र का कोई भी सद्गुण एकाएक प्राप्त नहीं होता। चरित्र के सद्गुणों को प्राप्त करना अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रतिकूल जाना है। जब कोई व्यक्ति किसी एक गुण की वृद्धि एकाएक कर लेता है, तो उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का प्रबल दमन हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसके मन में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न हो जाती हैं और उसका सद्गुण ही उसकी मानसिक अशान्ति का कारण बन जाता है।

आत्म-संयम—चरित्र के सभी गुणों के लिये आत्म-संयम की आवश्यकता है। यह दूसरों के कल्याण और आत्म-कल्याण के लिये आवश्यक है।

---

* "New Actions are the only appologies and explanations of the old which the noble can bear to receive or offer."—

Emerson.—**Complete Works.**

जिस व्यक्ति को समाज का कोई काम करना है, उसे आत्म-संयम की आवश्यकता तो है ही; पर जो अपना जीवन सुखी बनाना चाहता है, उसे भी आत्म-संयम की आवश्यकता है।

आत्म-संयम के विपरीत विषय-लोलुपता है। विषय-लोलुपता से वैयक्तिक हानि है। जिस मनुष्य में आत्म-संयम का अभाव है और विषय-लोलुपता की वृद्धि होती है, वह विषय-भोग से भी सुख प्राप्त नहीं कर पाता। विषयों के भोग करने की शक्ति उसमें नहीं रह जाती है। सब प्रकार के भोग अपने समक्ष रखकर भी वह उनसे सुख प्राप्त नहीं कर सकता। इससे यह प्रत्यक्ष है कि सुख विषयों में नहीं, बल्कि हमारी मानसिक शक्ति में ही है। जो व्यक्ति जितना ही विषयोन्मुख होता है, वह उतना ही शक्ति-हीन होता है और उसमें विषय-सुख भोगने की उतनी ही कमी होती है। मन को बार-बार सुख में ले जाने से और एक हानि होती है। इस प्रकार मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इच्छा-शक्ति के निर्बल हो जाने पर मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है। इस प्रकार की मानसिक गुलामी से मनुष्य सदा दुखी बना रहता है।

अब प्रश्न आता है कि आत्म-नियंत्रण कैसे प्राप्त किया जाय। इस प्रसंग में रूस के प्रसिद्ध लेखक और समाज-सुधारक महात्मा टाल्सटाय का निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है—"आत्म-नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये पहले उन बुराइयों को जीतना चाहिये, जो स्थूल रूप से दिखाई देती हैं। पीछे सूक्ष्म बुराइयों को वश में किया जा सकता है। बकवाद करना, निंदा करना, किसी के बारे में अशुभ सोचना, ईर्ष्या करना आदि सूक्ष्म बुराइयाँ हैं। चोरी, व्यभिचार, आलस्य, चटोर वृत्ति, पेटूपन ये स्थूल रूप से चरित्र की बुराइयाँ हैं। पहले हमें स्थूल बुराइयों को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये, पीछे सूक्ष्म बुराइयाँ धीरे-धीरे छूटेंगी। महात्मा टाल्सटाय ने आत्म-नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये पहला कदम उपवास का रखना बताया है। मनुष्य की जिह्वा को वश में करने का साधन उपवास है, यह चटोरापन और पेटूपन की आदत का विनाशक है। वर्तमान सभ्यता चटोरेपन की सभ्यता है। इससे जिह्वा का नियंत्रण शिथिल होता है। हमारे प्रत्येक मंगल-कार्य में खाने का ही प्रथम स्थान रहता है। किसी के मिलने-जुलने में, शादी-विवाह में,

भजन-कीर्तन में, गाने-रोने में—सभी जगह भोजन का स्थान अवश्य रहता है। मंदिरों में प्रसाद के लिये जितने लोग जाते हैं, उतने हरिकीर्तन के लिये नहीं जाते। जहाँ प्रसाद की कमी हो जाती है, वहाँ दर्शकों की भीड़ भी कम हो जाती है। इस प्रकार हमारे सभी कार्यों के द्वारा जिह्वा का नियंत्रण शिथिल होता है।

फिर भोजनों में भी नये-नये आविष्कार होते जाते हैं। धनी लोग दिन में कभी चार बार और कभी छह बार खाते हैं। प्रत्येक समय कुछ नये खाद्य-पदार्थ की चाह रहती है। बहुत से धनी लोगों के रसोइये दिन भर कुछ-न-कुछ रसोई तैयार ही करते रहते हैं। फिर खाने के पदार्थों में जितना ही परिवर्तन किया जाता है, मन उनसे उतना ही असंतुष्ट होता जाता है।

इस प्रकार की ख़ब्बू-बीमारी की उचित चिकित्सा उपवास ही है। यदि प्रत्येक धनी व्यक्ति महीने में दो बार उपवास करे, तो एक ओर उसे भूख अधिक लगेगी जिसके कारण उसे नित्य प्रति खाने की नई-नई वस्तुओं को खोजने की आवश्यकता न हो, और दूसरी ओर समाज में रसोइए कहलाने वाले लोगों का समय बच जाएगा। इससे उनके स्वास्थ्य में भी पर्याप्त सुधार हो जाएगा। उपवास का लक्ष्य केवल किसी एक दिन बिना भोजन के रह जाना नहीं, वरन् बार-बार भोजन करने की आदत और चटोरापन को छोड़ देना है। इससे अनेक प्रकार के लाभ हैं।

जो व्यक्ति पेटूपन को छोड़ देता है, उसमें आलस्य भी नहीं ठहरता। जब आलस्य की आदत छूट जाती है, तो मनुष्य में कामुकता भी कम हो जाती है। जो जिह्वा के लालच को वश में कर लेता है, वह कामुकता के प्रलोभन को भी जीत लेता है। इसी प्रकार उसमें धीरे-धीरे अपनी वाणी और विचारों पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। अतएव जो व्यक्ति आत्म-नियंत्रण प्राप्त करना चाहता है, उसे नियंत्रण भोजन से प्रारंभ करना चाहिये। किसी प्रकार के अतिक्रम के प्रायश्चित-रूप उपवास भी लाभकारी होता है।

जब आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति सुख को एकाएक त्याग करके कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत करने लगते हैं, तब इस प्रकार की तपस्या के जीवन में आत्मसंयम की वृद्धि नहीं, अपितु रोगों की उत्पत्ति होती है। एकान्तता से मनुष्य एक प्रकार के सद्गुण को भले ही प्राप्त कर ले, पर उसमें दूसरे दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। दुर्वासा ऋषि भारी तपस्वी थे, पर उनमें

क्रोध की मात्रा भी अधिक थी। वे रामचंद्र को भी भस्म करने को तैयार हो गये थे। इसी प्रकार विश्वामित्र में तपस्या का बल था; किन्तु उनमें भारी अभिमान भी था। इनसे अधिक आत्म-नियंत्रण राजा जनक और रामचंद्र में पाया जाता है। गृहस्थ जीवन में जितना आत्म-नियंत्रण होने की संभावना है, भिक्षु जीवन में उतनी नहीं। सच्चे आत्म-नियंत्रण की परीक्षा विषयों की उपस्थिति में अपने आपको वश में करके रखने में है। क्रोध का वातावरण होने पर शान्त मन रहना जितना श्रेयस्कर है, उतना क्रोध के वातावरण के अभाव में क्रोध के अनुभव न करने में नहीं है।

सरलता—व्यवहार की सरलता और सचाई एक ऐसा सद्गुण है, जो वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से लाभकारी है। इसे प्राप्त करना भी हमारे चरित्र के निर्माण के लिये लाभकारी है। जिस व्यक्ति के व्यवहार में सचाई और सरलता नहीं रहती, उसका मन सदा दुःखी रहता है। उसपर न तो दूसरे लोग विश्वास करते हैं, और न वह दूसरे लोगों पर विश्वास करता है। वह सदा संदेहयुक्त मनोवृति का बना रहता है। अपने व्यवहार में सचाई न रखने से समाज का हित नहीं होता। व्यवहार की सचाई चित्त की सचाई से आती है। प्रत्येक मनुष्य को वही कहना चाहिये, जो उसका अर्थ हो, वह शब्दों को अपने भाव छिपाने के काम में न लावे। पर यहाँ की अतिशयता अनर्थमूलक होती है। कितने ही अवसर पर अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रकाशित न करने में ही अपना और दूसरों का कल्याण होता है। मनुष्य को सदा प्रिय और लाभकारी सत्य ही बोलना चाहिये। व्यर्थ की सत्यवादिता चरित्र का सद्गुण नहीं, अपितु उसका दुर्गुण है।

प्रश्न

१. नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य के सद्गुण क्या हैं? इस प्रसंग में यूनानी विचार-धारा को स्पष्ट कीजिये।

२. सद्गुण में देश-काल का क्या स्थान है? क्या सद्गुणों में व्यक्तिगत भेद का होना सम्भव है?

३. स्वार्थ सद्गुण और परार्थ सद्गुण के भेद को स्पष्ट कीजिये। यूनानी और ईसाई मत के अनुसार मनुष्य के प्रधान सद्गुण कौन-कौन से हैं? आधुनिक काल में उक्त विचार-धाराओं में क्या विकास हुआ है?

४. जिस मनुष्य में एक सद्गुण है, उसमें सभी सद्गुण हैं—इस विचार की मौलिकता को स्पष्ट कीजिये और यह बताइये कि सद्गुणों में कहाँ तक एकता है?

५. चरित्र-निर्माण के साधन कौन-कौन से हैं? चरित्र-निर्माण में उदाहरण का क्या महत्त्व है?

६. चरित्र-निर्माण में तप और त्याग का क्या स्थान है? क्या हम त्यागी मनुष्य को चरित्रवान व्यक्ति कह सकते हैं?

७. आत्म-संयम की प्राप्ति मनुष्य कैसे कर सकता है? इस सम्बन्ध में टाल्स-टाय महाशय के विचारों को स्पष्ट करके उनकी मौलिकता को दर्शाइये।

———

इक्कीसवाँ प्रकरण

व्यक्ति का नैतिक विकास

नैतिक विकास का अर्थ

मनुष्य के नैतिक विकास का अर्थ क्या है, इस प्रश्न के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार अपने आपको समाज के प्रति समर्पित करने में मनुष्य का नैतिक विकास होता है और दूसरों के अनुसार मनुष्य को अपना कर्तव्य स्वतः निश्चित करना चाहिए। समाज के नैतिक नियम कभी ठीक होते हैं, और कभी वे ठीक नहीं भी होते। हमें समाज के उन्हीं नैतिक नियमों को मानना चाहिए, जो हमारी अन्तरात्मा तथा विवेक के प्रतिकूल नहीं हैं। समाज भी अपने नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति व्यक्ति के द्वारा ही करता है। व्यक्ति न केवल समाज के उच्च-से-उच्च आदर्श को चरितार्थ करके उसे जीवित रखता है, वरन् वह अपने नैतिक जीवन को सामाजिक आदर्श से ऊँचा उठाकर समाज का सुधार भी करता है। वह समाज का नैतिक विकास करता है। अतएव अपने नैतिक विकास के लिए किसी भी व्यक्ति को समाज के ऊपर निर्भर न होकर, अपनी बुद्धि से ही काम लेना चाहिए। कभी उसे समाज के अनुसार काम करना पड़ेगा, और कभी समाज के प्रतिकूल भी।

इग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् एफ० एच० ब्रेडले महाशय का कथन है कि जो व्यक्ति अपने आपको संसार के दूसरे लोगों से बेहतर बनाने की इच्छा करता है, वह वास्तव में अनैतिकता की ओर जाता है।* ब्रेडले महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का जितना ही अधिक समाज

---

* 'To wish to be better than the world is to be already on The way to immorality''—F. H. Bradley

के व्यक्तित्व से ऐक्य कर देता है, वह उतना ही अधिक नैतिक है, और जो अपने आपको किसी विशेष प्रकार का व्यक्ति मानकर समाज के लोगों से भिन्न प्रकार का आचरण करता है, वह अपना पतन ही करता है। उसे यह अभिमान हो जाने की संभावना रहती है कि मैं दूसरे लोगों से अधिक अच्छा हूँ इसके कारण भूल करने पर वह दूसरे लोगों से शिक्षा ग्रहण नहीं करता, उनकी बात नहीं सुनता और अपने हठ में ही लगा रहता है। उसकी हठ की मनोवृत्ति के कारण उससे कठिन भूलें भी होती हैं। जो व्यक्ति उसका विरोध करता है, वह उसका विनाश करने के अथवा उसे दूसरे लोगों की दृष्टि में गिराने के लिए तुल जाता है। इस प्रकार वह दूसरे व्यक्ति को नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। पर इस प्रकार की चेष्टा करना ही अनैतिक आचरण है। जब कोई व्यक्ति अपने आपको असाधारण व्यक्ति—संत, महात्मा, साधु आदि मानने लगता है, तो उससे भारी नैतिक भूलें अवश्य होती हैं। उसके अभिमान को नष्ट करने के लिये ऐसी भूलों का होना आवश्यक भी है।

परन्तु अपने आपको समाज का विशेष व्यक्ति मानना जिस प्रकार नैतिक भूल है, उसी प्रकार समाज की अविवेक-युक्त प्रथाओं अथवा विचारों का समर्थन करना भी नैतिक भूल है। समय-समय पर हमें समाज की प्रचलित रूढ़ियों और विचारों का विरोध करना पड़ता है। इस विरोध के लिये समाज के प्रमुख लोग हमसे अप्रसन्न हो जाते हैं, और दण्ड देने की भी ठान लेते हैं। पर यदि उन लोगों के दण्ड के भय से हम अपने सत्य और विवेक पर आधारित निश्चयों को बदल दें, तो हमारा नैतिक विकास होना संभव नहीं। अपने आपको समाज का विशेष व्यक्ति सिद्ध करने के लिये समाज की रूढ़ियों का विरोध करना एक बात है, और समाज के वास्तविक कल्याण-हेतु उसकी रूढ़ियों को बदलने की चेष्टा करना दूसरी बात है। अमेरिका में गुलामों से काम लेने की प्रथा प्रचलित थी। वहाँ के धनी लोग अफ्रीका से निग्रोओं को मंगाकर अपने खेतों में जबरदस्ती काम कराते थे। इसे वे बिल्कुल नैतिक आचरण मानते थे। काम में किसी प्रकार की त्रुटि दिखाने पर गुलाम लोग पीटे जाते थे। उन्हें खाने, पीने, सोने और विवाह-शादी की कोई भी विशेष सुविधा नहीं दी जाती थी। वे जानवरों जैसे रखे जाते थे। इन लोगों की यह दशा देखकर वहाँ के

कुछ सहृदय व्यक्तियों ने अपने मन में इस प्रथा को अन्त करने की ठान ली। जिन लोगों ने इसका आन्दोलन उठाया, उन्हें प्रारम्भ में जनता का विरोध करना पड़ा और इस विरोध के कारण उन्हें अनेक प्रकार की यंत्रणाएँ सहनी पड़ीं। परन्तु अन्त में वे सफल हुए। यदि वे समाज में प्रचलित विचारों के अनुसार ही अपने विचारों को बना लेते, तो अमेरिका में गुलामों से काम लेने की प्रथा का अन्त न होता। इसी प्रकार लूथर, सूकरात आदि महापुरुषों ने जिन विचारों को उचित समझा, उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपने आचरणों को बनाया और ऐसे ही विचारों का उन्होंने समाज में प्रचार किया।

पर समाज के इन विशेष व्यक्तियों के लिये जिस नियम का पालन करना ठीक है, उस नियम का पालन करना समाज के साधारण व्यक्तियों के लिये ठीक नहीं है। समाज के कई लोग सामाजिक नियमों अथवा रूढ़ियों का विरोध समाज के कल्याण के लिये नहीं वरन् अपने किसी प्रकार की भोगेच्छाओं को तृप्त करने के लिये करते हैं। जब किसी सामाजिक नियम अथवा रूढ़ियों का उलंघन किसी स्वार्थवश किया जाता है, और जब इस प्रकार का उलंघन मनुष्य को पाशविकता के स्तर से ऊँचा न उठाकर नीचे गिराता है, तब वह अनैतिकता कहा जायगा। अपने आपको विशेष प्रकार का व्यक्ति सिद्ध करने के हेतु ही कभी-कभी कोई व्यक्ति किसी समाजिक प्रथा, नियम अथवा संस्था का विरोध करता है, पर उसे अपने ही वास्तविक हेतु का ज्ञान नहीं रहता। वह अपने विचारों को उच्च कोटि के नैतिक विचार मानकर ही उक्त कार्य करता है। उसकी ज्ञात भावनायें बहुत ही ऊँची होती हैं, पर उसकी अज्ञात भावनायें नीचे स्तर की होती हैं। अतएव ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना कठिन होता है कि नैतिक सुधार की चिन्ता करने वाले व्यक्ति का वास्तविक हेतु ऊँचा है अथवा निम्न स्तर का? इसी कारण हमें ब्रेडले महाशय की शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए। विशेष प्रकार का व्यक्ति न बनकर हमें सामान्य व्यक्ति बने रहने की चेष्टा ही करनी चाहिए। यदि हम संसार में अपने नैतिक विचारों के लिए क्रान्ति मचाये बिना ही समाज का कल्याण कर सकें, तो अत्युत्तम हो। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आचरण में पहले उतनी नैतिकता को चरितार्थ करे, जितनी कि समाज में प्रचलित है। फिर वह उससे आगे बढ़ने की

चेष्टा करे। आगे बढ़ते समय उसे खूब समझ-बूझ लेना चाहिए कि उसका आगे बढ़ना सभी प्रकार से उचित है अथवा नहीं। यदि किसी समाज में कोई ऐसी प्रथा प्रचलित है, जो संसार के दूसरे समाजों में नहीं पाई जाती और जिससे समाज की वास्तविक क्षति हो रही है, तो उसे इस प्रथा का विरोध करना ही उचित है। इसमें ही उसका नैतिक विकास है। संकुचित नियम को छोड़कर व्यापक नियम के पालने से व्यक्ति का नैतिक विकास होता है; चाहे वह अपने देश का हो अथवा दूसरे देश का।

किसी व्यक्ति का नैतिक विकास एकाएक नहीं होता। एकाएक समाज का विरोध करना भी अनर्थकारी है। अतएव मनुष्य को अपने स्वभाव का ज्ञान बढ़ाते हुए धीरे-धीरे नैतिक उन्नति में आगे बढ़ना चाहिए। जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता अथवा अतिक्रम दिखाते हैं, वे नैतिकता से आगे न बढ़कर पीछे ही चले जाते हैं। उनके उतावलेपन से न उनका कल्याण होता है, और न समाज का।

नैतिक विकास के उपकरण

वैयक्तिक और सामाजिक विचारों का साम्य—व्यक्ति का नैतिक विकास सभी बातों में मध्यम मार्ग के अनुसरण से होता है। एक ओर मनुष्य के व्यक्तिगत विचार होते हैं, और दूसरी ओर समाज के विचार होते हैं। इन दोनों प्रकार के विचारों में जब संघर्ष होता है, तो व्यक्ति को चाहिए कि वह आवेग में आकर समाज के विचारों का विरोध न करने लग जाय। जो व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है, उसकी भली बातों को भी समाज नहीं मानता और उसे पीछे पछताना पड़ता है। यदि वह समाज का सुधारक है, तो उसे समाज को उतना ही आगे ले जाने की चेष्टा करना चाहिए, जितना कि समाज जा सकता है। यदि समाज को एकाएक आगे बढ़ाने की चेष्टा की गई, तो प्रतिगामिनी क्रियायें आरम्भ हो जाती हैं। इससे समाज आगे न बढ़कर पीछे ही चला जाता है।

पर समाज के विचार हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रतीक होते हैं। कभी मनुष्य

---

1. Conditions of Moral evolutions.

के कुछ विचार आगे बढ़े रहते हैं, परन्तु उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिछड़ा हुआ ही रहता है। ऐसी अवस्था में जब कोई व्यक्ति भारी त्याग और उदारता का कार्य कर डालता है और जब समाज उसका आदर न करके उसके प्रतिकूल जाता है, तो उसके मन में आत्मभर्त्सना की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह अपने आपसे और समाज से निराश हो जाता है। ऐसा व्यक्ति फिर मृत्यु का आवाहन करने लगता है। अतएव हमें उतना ही ऊँचा उठने की चेष्टा करनी चाहिए, जितनी ऊँचाई पर हम सदैव रह सकें।

मान लीजिए कि भारतवर्ष में विधवा के पुनर्विवाह की प्रथा को तोड़ने के लिए हम अपने सम्बन्धी का पुनर्विवाह कर डालते हैं। पर पीछे समाज हमारा बहिष्कार करता है और इसके कारण हमें आत्म-भर्त्सना होती है, तो ऐसी अवस्था में हमारा कार्य हमारा नैतिक उत्थान न करके नैतिक पतन करता है। मनुष्य का नैतिक उत्थान उसके उसी कार्य से होता है, जिसके करने के पश्चात् उसे आत्म-सन्तोष होता है और जिसे करने के लिए उसे कितने ही कष्टों को क्यों न सहना पड़े, वह उसे सहर्ष सहता है। समाज में सदा अनेक प्रकार के अनाचार, पाखंड लूट-खसोट आदि होते रहते हैं। इनका अन्त करना उचित है। पर हमें इनके अन्त करने में वहीं तक भाग लेना चाहिए, जहाँ तक हम इस काम को पूरा करने के लिए अपने आप को समर्थ देखते हैं। इस प्रकार मध्यम मार्ग का अनुसरण मनुष्य का नैतिक विकास करता है।

सत्संग का प्रभाव—मनुष्य का नैतिक विकास सत्संग से होता है। भले लोगों का आचरण साधारण व्यक्ति के आचरणों को प्रभावित करता है। मनुष्य अपना समय भले लोगों की संगत में जितना ही देता है, उसके आचरण के सुधारने की सम्भावना उतनी ही अधिक है। समाज के सुधारक भी व्यक्ति के चरित्र को सुधारने में भारी कार्य करते हैं। वे व्यक्ति के सामने ऊँचे-ऊँचे आदर्श रखते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्तव्य का स्मरण सदा कराते रहते हैं। प्रत्येक सजीव समाज में इस प्रकार के समाज-सुधारक रहते हैं। व्यक्ति को इन सुधारकों से अपने सुधार के लिए आदेश और निर्देश मिलते रहते हैं।

किसी विशेष घटना का प्रभाव—कभी-कभी मनुष्य के जीवन में कोई विशेष घटना घटित हो जाती है। यह घटना ऊपरी दृष्टि से भले ही महत्व-नही

हो, पर मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के लिए यह बड़े महत्त्व की होती है। कभी-कभी ऐसी घटनाएँ उसकी सारी जीवन-धारा को बदल देती हैं। जब एक डाकू किसी सन्त को मारना चाहता है और सन्त उससे विशेष उदारता का व्यवहार करता है, तो कभी-कभी ऐसे डाकू का हृदय परिवर्तित हो जाता है और वह अपने दुराचरण को छोड़ सदाचारी महात्मा बन जाता है।

मनुष्य के जीवन में एकाएक परिवर्तन[1] प्रायः नैतिकता के विरुद्ध आचरण के अतिक्रम से होता है। जब मनुष्य किसी प्रकार के व्यभिचार में अतिक्रम कर बैठता है, तो उसे आत्म-भर्त्सना होने लगती है। इसके परिणाम-स्वरूप वह काम-वासना को अपना शत्रु मानने लगता है। वह पहले जितना विषय-भोगी था, पीछे वह उतना ही तपस्वी बन जाता है। तपस्या की यह मनोवृत्ति जब फिर साम्य-भाव को आ जाती है, तो व्यक्ति का स्थायी नैतिक सुधार होता है।

जागरूकता—अपने आचरण और विचारों के प्रति सदा जागरूक रहना मनुष्य के नैतिक विकास में महत्व का स्थान रखता है। जो व्यक्ति अपने आपको भला बनाना चाहता है, वह अपने काम के उचितानुचित पर विचार करके उसे करता है। जो व्यक्ति सदा काम की धुन में लगा रहता और उसके औचित्य पर विचार नहीं करता, वह अपने आपको किसी प्रकार के प्रवाह में बहा हुआ पाता है। अतएव अपने कामों को नैतिक बनाने और अपने जीवन में नैतिक विकास लाने के लिए काम के साथ-साथ उस काम की आलोचना करते रहना आवश्यक है।

जागरूक मनुष्य न केवल अपने बाहरी कामों का विचार करता है, वरन् वह उन कामों के हेतुओं पर भी विचार करता है। उसकी यह इच्छा रहती है कि उसके काम भले हों और वे ऊँचे-से-ऊँचे हेतुओं से किये गये हों। जब मनुष्य अपने कामों तथा विचारों को इस प्रकार देखता रहता है, तो उसे जागरूक मनुष्य कहते हैं। बुद्ध भगवान् ने जागरूकता को मनुष्य के नैतिक विकास में महत्व की वस्तु मानी है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक टामस हिल ग्रीन महाशय ने भी इसे महत्व का स्थान दिया है।

---

1. Moral Conversion

आत्म-परीक्षा—प्रत्येक मनुष्य को समय-समय पर आत्म-परीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। हृदय-परिवर्तन करनेवाली विशेष घटना के घटित होते समय आत्म-परीक्षा का कार्य विशेष रूप से होता है। पर यों भी मनुष्य समय-समय पर आत्म-परीक्षा की आवश्यकता देखता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पुराने कामों की आलोचना करता है। वह यह जानना चाहता है कि अपने पुराने आचरण में उसने अपने सिद्धान्तों को चरितार्थ किया है, अथवा नहीं। इस प्रकार की आत्म-परीक्षाजनित किसी विशेष परिस्थिति में वह न केवल अतीत काल के बाहरी कामों की आलोचना करता है, वरन् उन हेतुओं तथा सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है, जो उन कामों के प्रेरक अथवा पथ-प्रदर्शक थे। यदि इनमें कुछ त्रुटि हुई, तो वह उसे सुधारने की चेष्टा भी करता है। कभी-कभी मनुष्य अपने आचरण में भूल भी करता है; अर्थात् उसका आचरण उसके द्वारा स्थिर किये गये नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होता। कभी-कभी वह सिद्धान्तों को निश्चित करने में ही भूल करता है, अर्थात् उसके सिद्धान्त निम्नकोटि के होते हैं, और कभी-कभी वह अपने हेतुओं के विषय में नैतिक भूल करता है, अर्थात् वह जिन हेतुओं को ऊँचे हेतु मानता है, वे वास्तव में नीचे हेतु होते हैं। आत्म-परीक्षा से मनुष्य को इन सब बातों का पता चल जाता है और फिर वह अपने नैतिक सुधार करने में समर्थ होता है।

परन्तु निरन्तर आत्म-परीक्षा करते रहना स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। इससे मनुष्य के विचार नकारात्मक बन जाते हैं। अपनी बुराइयों पर ही विचार करते रहने से उसमें उत्साह न आकर निरुत्साह आ जाता है। निरन्तर आत्म-परीक्षा से मनुष्य में आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति अति प्रबल हो जाती है। फिर मनुष्य अपने आपको कोसने में ही अपना सारा समय बिता देता है। यह अवस्था एक प्रकार का मानसिक रोग है। इसके अधिक बढ़ जाने से मनुष्य में निकम्मा-पन आ जाता है। जब तक मनुष्य अपनी कमजोरियों को पार कर सकने की सामर्थ्य अपने आप में नहीं देखता, तब तक आत्म-निरीक्षण व्यर्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार के निरीक्षण से कभी-कभी मनुष्य का आत्म-विश्वास ही चला जाता है। जब किसी मनुष्य का आत्म-विश्वास चला जाता है, तो वह नैतिक सुधार से विमुख होने की चेष्टा करने लगता है। आत्म-विश्वास प्रयत्नशीलता का जनक

है और इस विश्वास का अभाव निकम्मेपन और आत्म-वञ्चना की मनोवृत्ति का। अति आत्म-निरीक्षण से मनुष्य दुःखी होकर अपने आपको भूल जाने की चेष्टा करने लगता है। अतएव आत्म-निरीक्षण उतना ही अच्छा है, जितने से मनुष्य के मन में रचनात्मक विचारों की वृद्धि हो; अर्थात् जितने से वह अपनी कमजोरियों को तो जाने, परन्तु इसके कारण आत्म-सुधार की हिम्मत को न हारे। अति आत्म-निरीक्षण के विषय में ही यह कहा जा सकता है कि जहाँ अज्ञान ही कल्याणकारी है, वहाँ ज्ञान प्राप्त करना मूर्खता है।

निरन्तर आत्म-निरीक्षण करनेवाले कितने ही व्यक्ति अपने आप में अनेक प्रकार के कल्पित दोषों को देखते रहते हैं। उनका आत्म-निरीक्षण उन्हें अपनी दृष्टि में सदा नीचे बने रहने के लिये बाध्य करता है। वे कितने ही स्वाभाविक क्रियाओं के लिये भी अपने आपको कोसने लगते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति कल्पित शारीरिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की मनोवृत्ति के सदृश है। हेपोकेन्ड्रिया की अवस्था में कितने ही लोगों को पेट के दर्द एवं क्षय आदि रोगों का संदेह सदा बना रहता है और वे हर समय डाक्टर से अपनी परीक्षा कराते रहते हैं तथा स्वास्थ्य सुधार के लिए अनेक प्रकार की सलाहें लेते रहते हैं। पर रोग के विषय में उनकी चिन्ता अविछिन्न ही उनके रोग को स्थायी बनाये रखती है। कितने ही वास्तविक शारीरिक रोग भी इसी कारण स्थायी बने रहते हैं क्यों कि उनके विषय में मनुष्य सदा चिन्तित रहता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सदा अपने नैतिक दोषों के विषय में ही सोचते रहता और अपने ध्यान को किसी रचनात्मक कार्य में नहीं लगाता है, उसका नैतिक दोष नष्ट न होकर और भी स्थायी हो जाता है। इस प्रकार कितने ही व्यक्ति अपनी कुवृत्तियों को जानते हैं, उनके विषय में वे सदा विचार और आत्म-भर्त्सना भी करते रहते हैं, पर उनसे मुक्त नहीं हो पाते। अत्यधिक आत्म-परीक्षा और अपने सुधार के विषय में अत्यधिक चिन्ता करने का यही फल होता है।

आत्म-परीक्षा के अतिक्रम से अपने आपको बचाने के लिये मित्र के समक्ष अपनी कमजोरियों को कहना और उन कमजोरियों से मुक्त होने के लिये उसकी सलाह लेना अच्छा है। जिस प्रकार कुशल डाक्टर दूसरे रोगियों की चिकित्सा तो ठीक से कर सकता है, पर जब वह स्वयं बीमार पड़ता है; तो उसे अपने दूसरे

मित्र डाक्टरों की सलाह लेनी पड़ती है। उसी प्रकार मनुष्य कितना ही विचारवान क्यों न हो, पर स्वयं किसी प्रकार के नैतिक विचार की उलझन में पड़ जाने पर वह अपने मित्र की सलाह से लाभ उठाता है। इस प्रकार की सलाह लेना उसके लिए आवश्यक होता है। मित्र एक ओर उसे उसके सच्चे गुण और दोषों को बताता है और दूसरी ओर वह उसे अपने दोषों को जीतने के लिये प्रोत्साहित भी करता है।

आदर्श की उपस्थिति—मनुष्य के जीवन के नैतिक विकास के लिये केवल योग्य सिद्धान्तों और आत्म-निरीक्षण की ही नहीं वरन् योग्य आदर्श की भी आवश्यकता होती है। किसी आदर्श पुरुष की भक्ति और उसके चरित्र और गुणों के विचार मनुष्य के आन्तरिक मन को प्रभावित करते हैं। जो मनुष्य जिस व्यक्ति के विषय में सदा चिन्तन करता है, उसी व्यक्ति के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। इस तादात्म्य के हो जाने पर मनुष्य सहज भाव से ही उसी प्रकार का आचरण करने लगता है, जिस प्रकार आदर्श पुरुष करते हैं। सिद्धान्तवादी पुरुष जो काम प्रयत्न पूर्वक कर्तव्य के रूप में करता है, 'अपने आदर्श के रंग में रंजित पुरुष वही काम अनायास आनंद से करता है। संसार के सभी देशों में ऐसे आदर्श पुरुषों की गाथायें प्रचलित रहती हैं। कितने ही सभ्य देशों में इन आदर्श पुरुषों को अवतार के रूप में माना जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना आदर्श पुरुष अपने आप चुनना पड़ता है। किसी का आदर्श पुरुष कृष्ण है, तो किसी का बुद्ध अथवा ईसा। कभी-कभी ये आदर्श पुरुष हमारे वर्तमान काल में ही रहते हैं। उनकी आत्म कथाओं और चरित्र के बारे में चिन्तन करने से भी मनुष्य का नैतिक विकास होता है। कवि और उपन्यासकार भी कभी-कभी अपनी कृतियों में किसी महान् पुरुष के रूप में एक विशेष आदर्श का चित्रण करते हैं। मनुष्य के नैतिक विकास पर इनका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

एकान्त सेवन—मनुष्य के नैतिक विकास के लिये कुछ समय तक एकान्त सेवन अच्छा होता है। साधारणतः हम दुनियाँ के कामों में व्यस्त रहते और दूसरे लोगों के विचारों से प्रभावित होते रहते हैं। यदि हमारा जीवन सदा इसी प्रकार का रहा और हमने आत्मोन्नति के लिये कोई थोड़ा बहुत अलग

समय नहीं दिया, तो अचानक कोई नैतिक भूल हो जाने की आशंका रहती है। मनुष्य जिस काम में लगा रहता है, उसी की उन्नति में उसका ध्यान रहता है। जब तक मनुष्य अपने ध्यान को किसी विशेष दिशा की ओर नहीं मोड़ता, तब तक उस ओर उसकी उन्नति नहीं होती। अतएव आत्मोन्नति के लिये अपने ध्यान को कुछ समय के लिये सांसारिक झंझटों से अलग कर उसे आध्यात्मिक चिन्तन में लगाना आवश्यक है। इसके लिये मनुष्य को प्रति-दिन एकान्त सेवन करना चाहिये। एकान्त के समय मनुष्य को अपने जीवन के सिद्धान्तों और आचरणों पर विचार करने का अवसर मिलता है।

कितने ही लोग अपने सारे जीवन को एकान्त-सेवन और आध्यात्मिक चिन्तन में व्यतीत कर देते हैं। वे संसार को छोड़कर कभी-कभी साधु हो जाते और अपना सारा जीवन किसी मठ अथवा जंगल में व्यतीत करते हैं। इस प्रकार के जीवन में वह समता नहीं रहती, जो साधारण गृहस्थ-जीवन में रहती है। ऐसे लोग केवल चिन्तन करते हैं, पर अपने चिन्तन की सत्यता का अनुभव करने का अवसर उन्हें नहीं मिलता। अतएव उनका ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। जो लोग पहले गार्हस्थ्य जीवन में होकर फिर संन्यास लेते हैं, वे प्रारंभ से ही घर छोड़ने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक लाभ उठाते हैं। उनके चिन्तन के पीछे अनुभव रहता है। अतएव उनके विचारों में एकान्तता के आने की संभावना नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति प्रत्येक समाज के लिये आवश्यक होते हैं। ये लोग समाज के साधारण लोगों के बदले चिन्तन करते, और अपने चिन्तन से समाज को लाभान्वित करते हैं।

कभी-कभी कोई व्यक्ति अपना घर-द्वार छोड़े बिना ही किसी विशेष काम में लगे रहने के कारण एकान्त-सेवी हो जाता है। वह संसार में उतना ही आता है, जितना जीवन-यापन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे लोग समाज की निधि होते हैं। संसार के महान दार्शनिक, सन्त और कवियों का जीवन इसी प्रकार का होता है। वे दुनियाँ की भीड़ से अलग रहकर अपनी साधना में लगे रहते हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपनी शक्ति को संसार के साधारण कार्यों में व्यर्थ खर्च होने से नहीं बचाता, वह तब तक कोई भी विशेष

कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता । अतएव अपने जीवन के प्रतिक्षण को महत्त्व का समझनेवाला व्यक्ति अपनी शक्ति को व्यर्थ की बकवाद और जीवन चलाने भर के साधारण कामों में खर्च न कर उसे अपने महान लक्ष्य में लगाये रहता है। ऐसा व्यक्ति गृह-त्याग किये बिना ही एकान्त-सेवी बन जाता है। समाज को ऐसे व्यक्तियों की सदा आवश्यकता रहती है। इसके बिना दर्शन, कला और कविता की सृष्टि हो ही नहीं सकती है। राष्ट्र का सांस्कृतिक विकास ऐसे ही लोगों की देन है।

तपस्या करना[1]—अपनी इन्द्रियों को वश में करके रखना नैतिक जीवन ही के विकास का एक आवश्यक साधन है। शारीरिक और मानसिक दोनों तप मनुष्य के नैतिक विकास के साधन हैं। इन्द्रियों को वश में करने के प्रयत्न से मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवती होती है । जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवती हो जाती है, तो वह जिस काम को करना चाहता है; उसे वह बड़ी सरलता से कर डालता है। कठिनाइयों के सामने आने से वह उनसे भयभीत नहीं होता।

परन्तु सिर्फ तपस्या के लिये तपस्या करने लग जाना अथवा अपनी इन्द्रियों को त्रास देने के लिये अपने आपको सुखाना नैतिक उत्थान का मार्ग नहीं है। इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण रखना वहीं तक ठीक है, जहाँ तक वे किसी भले काम के करने में बाधा डालती हैं। मनुष्य को अपने मन को भी निर्बल बनाने का आयोजन न कर लेना चाहिये । कई दिनों के उपवास करना, अपने मन में कठोरता लाने के लिये ही शीतोष्ण को सहना तथा अनेक प्रकार की आत्म-यंत्रणा भोगना मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिये लाभप्रद नहीं है। नीति-शास्त्र के प्रमुख विशेषज्ञों ने इस प्रकार के जीवन को अनर्थमूलक बताया है । इससे मन निर्बल हो जाता है और उसमें सोचने की शक्ति नहीं रह जाती है। वह जिस ओर मुड़ जाता, उसी ओर काम करता रहता है और अपने काम के बुरे परिणाम को देखते हुए भी हठ-वश उसे नहीं छोड़ता।

अत्यधिक तपस्या से मनुष्य में अभिमान की वृद्धि होती है । इसीलिये

---

1. Asceticism.

यह त्याज्य है। तपस्या के अतिक्रम से मनुष्य की वे ही इच्छायें प्रबल हो जाती हैं, जिन्हें दमित करने की चेष्टा वह करता है। अपने आप पर घोर नियंत्रण रखने वाले एकान्त-सेवी व्यक्ति कभी-कभी मानसिक रोग से भी ग्रस्त हो जाते हैं। उन्हें वे ही इच्छायें त्रास देने लगती हैं, जिनके ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये वे सतत चेष्टा करते रहते हैं। अतएव अपने विचारों को रचनात्मक बनाना और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जितने त्याग और तपस्या की आवश्यकता है, उतने ही त्याग और तपस्या करना अपने नैतिक विकास के लिए श्रेयस्कर है। इस प्रसंग में अपनी "मेनुअल आफ एथिक्स" नामक पुस्तक में दिया हुआ श्री जान एस० मेकेन्जी महाशय का निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है:—

"अपने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य को प्राप्त करने के हेतु अपनी इच्छाओं को दबाना उत्तम है। परन्तु तपस्वी इच्छाओं के मन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है और इस प्रकार इच्छाओं को दबाने का प्रयत्न स्वभावतः ही विफल होता है। इससे मनुष्य का चित्त इच्छाओं के विषयों के ऊपर एकाग्र हो जाता है और इससे वह उनका वैसा ही गुलाम हो जाता है, जैसा कि उन इच्छाओं की तृप्ति में लगा हुआ व्यक्ति। अतएव अपने आपको किसी योग्य उद्देश्य की प्राप्ति में लगाये रखना अपनी इच्छाओं से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। लिपे-पुते खाली घर में ही भूत का वास होता है; सब प्रकार से भरे-पूरे घर में भूत (शैतान) नहीं आता।"*

---

* It is important to repress our lower desires, in order that we may be able to devote ourselves, without let or impediment, to the highest ends of life. But the ascetic regards the suppression of desire as the end in itself. And the effort thus to suppress all natural desires frequently defeats its own aim. It concentrates attention on the objects of desire, and in a sense makes a man the slave of his desires as truly as in the case of him who yields to them. The best way to free ourselves from our lower desires is, as we have already indicated, to interest ourselves

आदर्श जीवन के लक्षण

नैतिक जीवन के विकास के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे आदर्श जीवन की रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। यहाँ पर हम आदर्श जीवन के ऐसे लक्षणों की चर्चा करेंगे, जिन्हें नीति-शास्त्र के प्रमुख विद्वानों ने निश्चित किया है।

चिन्तन शीलता—आदर्श जीवन विवेक-मय जीवन है। अपने जीवन को विवेक-युक्त बनाने के लिये मनुष्य को नित्यप्रति चिन्तन करने की आवश्यकता है। बिना विचार किये मनुष्य कोई स्थिर नैतिक सिद्धान्त पर नहीं पहुँचता और अपने जीवन को वह संसार के धारा-प्रवाह में बहते रहने देता है। संसार में सच्ची सफलता सिद्धान्तों की सफलता है। दूसरे प्रकार की सफलता अस्थायी होती है। संसार का वैभव वह दिखाऊ धन है, जो चार दिनों के बाद नष्ट हो जाता है। उच्च जीवन उसी व्यक्ति का है, जो अपने सिद्धान्तों के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये भी तत्पर रहता है।

परन्तु नैतिक सिद्धान्त मनुष्य में अनायास नहीं आ जाते। इसके लिये मनुष्य को ज्ञानोपार्जन करना है और अपने जीवन को चिन्तनशील बनाना पड़ता है। किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त को प्राप्त कर लेना अन्वेषण का कार्य है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये मनुष्य को कई दिनों तक विचार करने की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार नैतिक सिद्धान्त के अन्वेषण के लिए भी कई दिनों के विचार की आवश्यकता होती है। फिर सिद्धान्त को ठीक से बरतने के लिये भी सतत् चिन्तन की आवश्यकता होती है। चिन्तन के समय हम अपने सिद्धान्तों की कमियों को भी नाप लेते हैं।

क्रियाशीलता—ऊपर हमने नित्य चिन्तन की महत्ता को दर्शाया है। परन्तु केवल चिन्तन का जीवन भी सर्वश्रेष्ठ जीवन नहीं है। चिन्तन के समय हम

---

in something better. It is only into a mind swept and garnished that the devils can enter,• When it is well furnished and occupied they can find no room—Mackenzie. **A Manual of Ethics p. 358.**

जिन सिद्धान्तों को प्राप्त करते हैं, उनकी सत्यता को प्रमाणित करनेके लिए व्यावहारिक जगत में आना भी आवश्यक है। नैतिक जीवन ही व्यावहारिक जीवन है। जंगल में बैठकर हम जिस आदर्शवादिता का निरूपण कर सकते हैं, उस आदर्शवादिता की सत्यता लौकिक जीवन की कसौटी पर परखी जाती है। कितने ही आदर्शवादी व्यक्ति लौकिक जीवन में पड़ जाने पर अपनी आदर्शवादिता को खो देते हैं। इससे उनका अधःपतन एकाएक हो जाता है। सिद्धान्तों को अपने लौकिक जीवन में अव्यवहार्य पाकर जो व्यक्ति उनमें उचित परिवर्तन कर लेते हैं, वे सफल जीवन के व्यक्ति कहे जा सकते हैं। ऐसे ही लोगों का जीवन आदर्श जीवन माना जाएगा।

मध्यम मार्ग का अनुसरण—आदर्श जीवन वास्तव में वह जीवन है, जिसमें न तो लौकिक व्यवहार अथवा क्रिया का अतिक्रम है, और न चिन्तनशीलता का ही। जो मनुष्य चिन्तन और क्रिया में साम्य रखता है, वही आदर्श व्यक्ति है। चिन्तन के अभाव में जीवन की नाव के अनिश्चित लक्ष्य की ओर बह जाने का भय रहता है। पर यदि मनुष्य संसार से अलग रहकर सदा चिन्तन ही करे, तो उसे अपने अवगुणों का पता ही न लगेगा। मनुष्य को अपने गुण, और अवगुणों का पता तभी चलता है, जब वह संसार के कामों में हाथ बटाता और अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है। जब मनुष्य संसार में आता है, तो उससे अनेक प्रकार की भूलें होती हैं। इनके लिये उसे पश्चाताप अथवा आत्मवेदना होती है। इस प्रकार की वेदनाओं को बार-बार सहकर मनुष्य अपने आपको सुधारने में समर्थ होता है। जब मनुष्य अपने आपको सांसारिक कामों से अलग कर लेता है, तो वह अपनी कमजोरियों को जानने के अवसर को ही खो देता है। फिर उसकी आन्तरिक कमजोरियाँ उसके मन में उसी रूप में बनी रह कर उसे दुःख देती रहती हैं। अतएव बाह्य संसार में काम किये और लोगों से अपना सम्पर्क बढ़ाये बिना मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। आदर्श जीवन में क्रिया और ज्ञान का साम्य रहता है। यही वह मध्यममार्ग है, जिसका प्रवर्तन कृष्ण, बुद्ध और अरस्तू महाशय ने किया है। *

---

* इस प्रसंग में श्रीमेकेञ्जी महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

आदर्श व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध

आदर्श व्यक्ति समाज में रहकर समाज के लोगों से सहानुभूति दिखाते हुए उन्हें अपने नैतिक विचारों और आचरण से ऊँचा उठाने को सतत् चेष्टा करता रहता है। उसका मस्तिष्क स्वतन्त्र विचार के जगत में विचरण करता है, परन्तु उसका हृदय ससार के सामान्य लोगों में रहता है। वह उनकी त्रुटियों को जानता है, पर उन त्रुटियों के कारण उनसे घृणा नहीं करता और न वह उनसे अलग रहने का प्रयत्न ही करता है। पतित लोगों की मनोवृत्ति से छूत लग जाने का भय उसे नहीं रहता; अपने सम्पर्क से वह अनायास उन्हें सुधार देता है। †

एकान्तवास से मनुष्य अपना कल्याण भले ही कर ले पर उसके जीवन से समाज को कोई लाभ नहीं होता। फिर वह नैतिक जीवन कैसा, जिससे किसी का उपकार भी न हो। मनुष्य का नैतिक आदर्श वृहदात्मा की प्राप्ति है।

Action and reflection are the gymnastics and music of moral culture. In retirement we criticise the acts of life, in life we criticise the ideas of retirement—**A manual of Ethics. p. 360.**

क्रिया और विचार नैतिक जीवन के व्यायाम और संगीत हैं। एकान्त के समय जीवन के कार्यों की आलोचना की जाती है, और एकान्त में प्राप्त सिद्धान्तों की परख जीवन में होती है।

† इस प्रसंग में इमरसन महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

Solitude is fatal, society vulgar. We must keep our head in the one and hands in the other. The conditions are met when we maintain independence of thought and yet do not lose sympathy **Essay on Society and Solitude**

एकान्त घातक हैं, और समाज अशिष्ट। हमें अपना मस्तिष्क एक में और हाथों को दूसरे में रखना चाहिए; अर्थात् हमारे विचार तो एकान्त में उद्बुध हों, परन्तु हमारी क्रियाओं का क्षेत्र समाज ही हो। जब हम अपने विचारों को स्वतन्त्र रखते हैं और अपने संसर्ग के लोगों के प्रति सहानुभूति नहीं खोते, तो हम आदर्श जीवन को चरितार्थ करते हैं।

जो मनुष्य दूसरे लोगों के हित में अपने आपको जितना ही खो देता है, वह अपने आपको उतना ही अधिक पा लेता है। जिसे सदा अपने आपको सुधारने की इतनी चिन्ता लगी रहती है कि उसके कारण वह समाज की आवश्यकताओं के ऊपर कोई ध्यान नहीं देता, उसका नैतिक विकास होना कैसे संभव है?

आदर्श जीवनवाला व्यक्ति समाज-सुधारक होता है। प्रत्येक भला व्यक्ति एक तरह से समाज का सुधार करता है। उसके आचरण और विचारों का सहज प्रभाव दूसरे लोगों पर पड़ता है और इसके कारण उनके मन में आत्म-सुधार की प्रेरणा उत्पन्न होती है। कभी-कभी वह उन्हें उचित सलाह भी देता है। इस प्रकार सदाचारी मनुष्य दूसरों के सुधार का विशेषरूप से प्रयत्न किये बिना ही उनका सुधार कर डालता है। इमरसन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि हम अपने सद्गुण अथवा दुर्गुण का प्रकाशन केवल बाहरी क्रियाओं से ही नहीं करते, बल्कि ये सद्गुण अथवा दुर्गुण प्रतिक्षण अपनी विशेष सुगन्ध या दुर्गन्ध को छोड़ते रहते हैं।* समाज के लोग इनसे सदा प्रभावित होते रहते हैं। अतएव समाज में रहकर अपने आपको ऊँचा बनाने की चेष्टा करना ही समाज की सबसे अधिक मौलिक सेवा है। जो मनुष्य इस प्रकार से अपने आपको ऊँचा बनाता है, वह समाज के लोगों को भी ऊँचा बना देता है। जब मनुष्य अपने आपको लौकिक विभूतियों के उपार्जन में न खोकर और आस-पास के विचारों से विचलित न होकर आत्म-कल्याण में लग जाता है तथा अपने इस परिश्रम के फल को संसार के अन्य लोगों के हित के लिये त्याग देता है, तभी वह अपने जीवन को आदर्श जीवन बनाता है। संसार के सर्वोच्च व्यक्ति वे ही हैं, जो अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का फल समाज को सदा सहज भाव से देते रहते हैं। प्रयोग के करने के लिये मनुष्य को एकान्त चाहिये, पर केवल प्रयोग ही जीवन का उद्देश्य न बन जाए। प्रयोग तभी सार्थक होता है, जब उससे संसार का लाभ होता है। इस तरह जैसे-जैसे समाज ऊँचा उठता है, तैसे-तैसे व्यक्ति भी अपने

---

* Men imagine that they communicate their virtue or vice only by overt actions and do not see that virtue or vice emits a breath every moment—**Essay on character**

आप ही ऊँचा उठता जाता है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे से गुथे हुए हैं। एक के उत्थान से दूसरे का उत्थान होता है; और एक के पतन से दूसरे का पतन।

प्रश्न

१. मनुष्य के नैतिक विकास का अर्थ क्या है? यह नैतिक विकास कैसे होता है?

२. मनुष्य के नैतिक विकास में सत्संग और विशेष घटना का क्या स्थान है? क्या मनुष्य के नैतिक विकास को वातावरण का परिणाम कहा जा सकता है?

३. मनुष्य के नैतिक विकास में आत्म-परीक्षा और एकान्त-सेवन की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिए।

४. "लिपे-पुते खाली घर में भूत का निवास होता है, सब प्रकार से भरे-पूरे घर में भूत (शैतान) नहीं आता" इस कथन का क्या अर्थ है? यह कथन हमें कहाँ तक अपने नैतिक विकास के लिए उचित मार्ग दर्शाता है?

५. आदर्श जीवन में चिन्तनशीलता और क्रियाशीलता का क्या स्थान है? क्या दार्शनिक जीवन को हम आदर्श जीवन मान सकते हैं?

६. "क्रिया और विचार नैतिक जीवन के व्यायाम और संगीत हैं—" इस विचार की मौलिकता को दर्शाइये। आदर्श जीवन में व्यक्ति का समाज से कैसा सम्बन्ध रहता है?

———

इक्कीसवाँ प्रकरण

नैतिक रोग और उनके उपचार[1]

नैतिक रोग का स्वरूप

नैतिक रोग का अर्थ—जब कोई मनुष्य अपने नैतिक आदर्श से गिर जाता और निम्न स्तर के जीवन में रहने लगता है, तो उसकी मानसिक अवस्था को नैतिक दृष्टि से दोष-युक्त माना जाता है। यह नैतिक बुराई[2] है। यदि सदाचार का जीवन नैतिक स्वास्थ्य है, तो दुराचार का जीवन नैतिक रोग। जब किसी मनुष्य में अपने आपको सम्हालने की सामर्थ्य रहती है, जब उसके कार्य सुचारु रूप से चलते हैं और जब वह नित्यप्रति अपने शारीरिक बल में उन्नति करता है, तो उसे हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य कहते हैं। उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने नैतिक जीवन को सुचारु रूप से चलाता है, जिसके जीवन में आदर्शों की उपस्थिति है और उनकी ओर वह प्रति-दिन के अभ्यास से बढ़ता जाता है, उसे नैतिक दृष्टि से स्वस्थ कहा जाता है। इसके प्रतिकूल शारीरिक अथवा मानसिक परिस्थिति को रोग की स्थिति कहा जाता है। रोग की स्थिति में मनुष्य का आचरण दूषित हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके कार्य न तो अपना ही लाभ करते, और न दूसरों का ही। नैतिकता की दृष्टि से अपना वास्तविक लाभ दूसरों का लाभ करके ही होता है। जब मनुष्य अनैतिक आचरण करता है, तो इससे सिर्फ दूसरों की ही नहीं, स्वयं उसकी भी क्षति होती है। वह अपने आपको दण्ड का भागी बनाता है।

नैतिक बुराई का कारण

नैतिक रोगों के दो रूप—जिस प्रकार शारीरिक अथवा मानसिक रोगों

---

1. Moral pathology. 2. Moral evil.

के दो रूप होते हैं, उसी प्रकार नैतिक रोगों के भी दो रूप होते हैं; एक भीतरी और दूसरा बाहरी। भीतरी रोग को चरित्र का दोष और बाहरी रोग को पाप[1] अथवा अपराध[2] कहा जाता है। मनुष्य के चरित्र का दोष उसकी कलुषित भावनाओं के रूप में रहता है। दूसरों को उसका ज्ञान होना कठिन है। कभी-कभी स्वयं दोष-युक्त व्यक्ति को ही अपने चरित्र के दोष का ज्ञान नहीं रहता। कोई-कोई लोग अपने दोष को गुण के रूप में ही मानते हैं; और इस कारण उसे जानकर भी उससे मुक्त होने की चेष्टा नहीं करते। कई-एक लोग अपने चरित्र के दोषों को जान-बूझकर दूसरों से छिपाने की चेष्टा करते हैं। वे इस कार्य में कुछ समय तक सफल होते हैं, पर चरित्र के दोष अन्त में पापाचरण और अपराध के रूप में प्रकट हो ही जाते हैं। पापाचरण और अपराध चरित्र के दोष के बाहरी रूप हैं।

चरित्र के दोष[3]

चरित्र के दोषों की व्याख्या—चरित्र के किसी प्रकार की कमी को चरित्र का दोष कहा जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह दोष पाप और अपराध का आन्तरिक रूप अथवा उनका कारण है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपकी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। इस पूर्णता का ज्ञान ही उसे आत्म-संतोष देता है। जब कोई मनुष्य अपने आपमें किसी प्रकार की कमी देखता है, तो उसे आत्म-ग्लानि होती है। यह आन्तरिक संताप की स्थिति है। अतएव चरित्र का गुण वह है, जिससे मनुष्य अपने आपमें पूर्णता की अनुभूति करे और जिससे उसे आत्म-संतोष हो, और चरित्र का दोष वह है; जिसकी उपस्थिति से मनुष्य अपने आप में कमी की अनुभूति करे और जिससे उसे आत्म-संताप हो। जिस गुण के दूसरों के समक्ष प्रकाशित होने पर हमें प्रसन्नता होती है, वह सद्गुण है, इसे हम दूसरों को जनाना चाहते हैं; और जिस गुण के प्रकाशित हो जाने पर अथवा दूसरों के द्वारा जान लेने पर हमें दुःख होता है और जिसे हम सदा छिपाने की चेष्टा करते रहते हैं, वह चरित्र का दुर्गुण अथवा दोष है। चरित्र के सद्गुण मनुष्य के जीवन को उन्नत करते हैं और दोष उसे नीचे गिराते हैं। एक का अंतिम

---

1. sin. 2. Crime. 3. vice.

परिणाम आनंदमय और दुसरे का दुःखमय जीवन है।

चरित्र के दोषों के कारण—मनुष्य में चरित्र के दोषों के दो प्रधान कारण होते हैं—एक शिक्षा की कमी, और दूसरा आत्म-सुधार के सतत् प्रयत्न का अभाव। शिक्षा की कमी के कारण मनुष्य को ऊँचे आदर्श का ज्ञान ही नहीं हो पाता और न उसमें भली आदतें ही पड़ती हैं। बालक को पहले पहल उसके अविभावक और शिक्षक ही उसे चरित्र बनाने में सहायक होते हैं। वे उसे उचित आदर्शों का ज्ञान और अपने आप में सद्गुणों को दृढ़ करने के लिये अभ्यास भी कराते हैं। पीछे स्वयं बालक ही इस गुण की महत्ता को समझकर उनको बढ़ाने लगता है। भली शिक्षा के अभाव में बालक में अनेक बुरी आदतें पड़ जातीं और उसके विचार कलुषित हो जाते हैं। फिर वह अपनी नैतिक उन्नति करने में अपने को असमर्थ पाता है।

पर चरित्र-निर्माण में केवल वातावरण और शिक्षा से कार्य नहीं होता। अपने चरित्र के निर्माण के लिये मनुष्य को स्वतः प्रयत्न करना पड़ता है। शिक्षा का कार्य इतना ही है कि वह व्यक्ति में अपने आपको ऊँचा उठाने की प्रेरणा उत्पन्न करे। जब मनुष्य में आत्म-सुधार की प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है, तो शिक्षा का कार्य समाप्त हो जाता है। फिर मनुष्य अपना सुधार अथवा बिगाड़ अपने आप ही करता है। शिक्षा के द्वारा ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि मनुष्य चरित्र के गुण अथवा दोषों को प्राप्त करे, पर वे वस्तुयें अपने प्रयत्न से ही प्राप्त होती हैं। सतत् प्रयत्न से चरित्र के गुण स्थिर रहते हैं। प्रयत्न के अभाव में अनेक प्रकार की चारित्रिक बुराइयाँ अपने आप ही चली आती हैं। जब मनुष्य अपने आपको ऊँचा उठाने की चेष्टा को बन्द कर देता है, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार वह स्वभावतः नीचे गिरने लगता है। जिस प्रकार कपड़े को स्वच्छ रखने के लिये हमें सदा सावधान रहना और कभी-कभी उसे धोना भी पड़ता है, उसी प्रकार अपने चरित्र को स्वच्छ रखने के लिये भी मनुष्य को सदा सावधान रहना पड़ता है और कभी-कभी उसे प्रायश्चित के रूप में अनायास आये हुए दोषों को धोना भी पड़ता है।

चरित्र के दोषों के प्रकार—मनुष्य के चरित्र के दोष दो प्रकार के होते

हैं—एक चारित्र-हीनता सूचक, और दूसरा चरित्र का एकाङ्गी-सूचक। संसार के अधिकतर लोगों में पहले प्रकार के दोष होते हैं, दूसरे प्रकार का दोष विशेष व्यक्तियों को होता है। संसार के साधारण कामों में लगे रहनेवाले व्यक्ति चरित्र का मूल्य उतनी ही दूर तक करते हैं जितनी दूर तक वह उन्हें सांसारिक सफलता प्राप्त करने में सहायक होता है। उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य धन, ऐश्वर्य, सुख आदि को प्राप्त करना होता है। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के सद्गुणों को वहीं तक प्रदर्शित करते हैं, जहाँ तक वे सद्गुण लौकिक दृष्टि से लाभकारी दिखाई देते हैं। किसी प्रकार का सद्गुण जब लौकिक दृष्टि से लाभकारी नहीं दिखाई देता, तो वे उस सद्गुण का अभ्यास छोड़ देते हैं। फिर उनके चरित्र में वे ही दोष दिखाई देने लगते हैं, जिनकी वे पहले निंदा करते थे। जब किसी व्यापारी को सच बोलकर पैसे का लाभ होता और उसकी दूकान की साख जमती है, तब वह सच बोलता है; पर जब इससे उसे व्यापार में बार-बार घाटा उठाना पड़ता है, तो वह झूठ बोलकर भी मुनाफा उठाने की चेष्टा करता है। दूकान को बरबाद होने देने के बदले वह झूठ बोलना ही उचित समझता है। इस प्रकार अच्छी साख वाले व्यापारी भी चोर बाजारी करने लगते हैं।

इस प्रकार की चारित्रिक कमी चरित्र की दृढ़ता की कमी को दर्शाता है। ऐसे लोगों में कोई वास्तविक नैतिक विचार नहीं रहता। उनके जीवन में आदर्शों का अभाव रहता है। ऐसे लोग अवसरवादी होते हैं। वे जिधर अधिक लाभ होते देखते हैं, उधर ही ढल जाते हैं। वास्तव में वे जीवन के किसी नैतिक सिद्धान्त का पालन नहीं करते। नैतिकता के अधिक दोष जीवन में सिद्धान्त के अभाव के कारण ही होते हैं।

दूसरे प्रकार का चारित्रिक दोष संसार के प्रतिभाशाली लोगों में पाये जाते हैं। प्रतिभा में कुछ-न-कुछ एकाङ्गिता पाई ही जाती है। बिना एकाङ्गिता के मनुष्य में किसी विशेष प्रकार की योग्यता अथवा चरित्र के सद्गुण का विकास नहीं होता। पर किसी प्रकार की एकाङ्गिता स्वयं चरित्र का दोष है। अतएव चरित्र के विशेष दोष उन्हीं लोगों में पाये जाते हैं, जिनमें विशेष प्रकार के गुण होते हैं। मेकेञ्जी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि मनुष्य के चरित्र के दोष उसके सद्गुणों की छाया हैं; पारदर्शी भलाई अर्थात् पूर्णता की परछाई भले ही

न पड़े, परन्तु जब तक मनुष्य इसे प्राप्त नहीं कर लेता; तब तक मनुष्य के दृढ़तम सद्गुण घनी छाया भी डालना हैं। *

संसार के विशेष पुरुषों में हठीलापन रहता है। यह हठीलापन उन्हें अपनी लगन में बल प्रदान करता है। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वे अपने सिद्धान्तों को नहीं बदलते। प्रतिकूल परिस्थितियों में उनकी लगन और भी दृढ़ हो जाती है। उनका कार्य-क्षेत्र एक विशेष क्षेत्र में सीमित रहता है। उसी प्रकार उनके विचार भी विशेष प्रकार के होते हैं। वे विरोधी विचारों अथवा सिद्धान्तों का समावेश अपने सिद्धान्तों में नहीं करते। इसके कारण उनका नैतिक विकास उतना नहीं होता, जितना कि पूर्णता की प्राप्ति के लिये आवश्यक होता है। जिस व्यक्ति के नैतिक विचार और आदर्श प्रगतिशील होते हैं, जो अपने सिद्धान्तों में उचित परिवर्तन करने के लिये तैयार रहता है, वही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है। पर मनुष्य का जैसा स्वभाव है, उससे यह आशा करना ठीक नहीं है। कविता की धुन में लगा हुआ मनुष्य जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की ओर अपनी दृष्टि नहीं ले जाता। वह समाज के रूढ़िवादी नियमों के पालन की परवाह नहीं करता। इसी प्रकार समाज-सुधारक दूसरे लोगों की कमजोरी को ध्यान में न रखकर कभी-कभी अपराधी के लिये अत्यधिक दण्ड देने की सूझ दे देता है। उसकी दृष्टि आलोचनात्मक होती है। यह दूसरे लोगों को बुरा लगता है, पर वह इसकी परवाह नहीं करता। विद्याध्ययन में लगन रखने वाले विद्वान अपने घरेलू जीवन में प्रायः असफल हो जाते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि मनुष्य के चरित्र का सद्गुण उसके जीवन के विशेष प्रकार के दुर्गुण का कारण भी हो जाता है। प्रकृति के सभी आध्यात्मिक कारणों के नियम के अनुसार यह ठीक ही है। *

---

* A man's sins are the shadows of his virtues, and though a life of transparent goodness would cast no shadow, yet so long as men fall short of this the strongest virtues will often have the deepest shades—**A Manual of Ethics P. 368.**

* मनुष्य के सद्गुण जिस प्रकार उसके उत्थान के कारण होते हैं, उसी प्रकार उसके दोष उसके पतन के कारण भी होते हैं। अतएव प्रत्येक विवेकी

चरित्र के दोषों का निवारण—चरित्र के दोषों का निवारण दो प्रकार से होता है—एक प्राकृतिक रूप से और दूसरा अपने प्रयत्न के द्वारा। हमारा यह विश्वास है कि संसार की सभी क्रियाओं का संचालन विवेकी तत्त्व अथवा नियम के द्वारा होता है। इस नियम की उपस्थिति को स्वीकार न करने पर नैतिक आचरण अर्थ-हीन हो जाता है। यह एक अखण्ड नियम है कि हमारे शुभ कामों का परिणाम शुभ और अशुभ कार्यों का परिणाम अशुभ होता है। इस नियम को चाहे आध्यात्मिक नियम कहा जाए अथवा प्राकृतिक; पर इसकी सत्यता में विश्वास करना प्रत्येक विवेकशील और सदाचारी व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। यह नियम अथवा सत्ता मनुष्य के चरित्र में किसी प्रकार के दोष को ठहरने नहीं देती। वह उसका परिष्कार करते रहती है।

जब मनुष्य के चरित्र के दोष का निवारण प्राकृतिक रूप से होता है, तो पहले वह अपनी अप्रकाशित अवस्था से प्रकाशित अवस्था में आता है। चरित्र के दोष का प्रकाशन पापाचरण, अपराध और शारीरिक तथा मानसिक रोगों में होता है। दोष कारण है, और पाप तथा अपराध कार्य। चरित्र के दोषों को बनाए रखने की अपेक्षा पापाचरण करना अथवा अपराध करना भला है। चरित्र के दोष जबतक बाहर नहीं आते, तब तक चरित्र का सुधार नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य की कोई शारीरिक व्याधि जब किसी फोड़े, फुंसी, खुजली या छाजन का रूप धारण कर लेती है, तो उसकी चिकित्सा का होना सरल हो जाता है, उसी प्रकार चरित्र का कोई दोष जब पापाचरण अथवा अपराध का रूप ले लेता है, तो उसका नाश करना सरल हो जाता है। पापाचरण और अपराध के परिणाम-स्वरूप मनुष्य को आत्म-भर्त्सना होती है, अथवा उसे समाज या प्रकृति से दण्ड मिलता है। दण्ड यदि थोड़े समय के लिए न मिला, तो पीछे वह ब्याज

पुरुष का काम है कि वह सदा आत्म-निरीक्षण करता रहे और अपने गुण तथा दोषों को साक्षीभाव से देखने की चेष्टा करे। दूसरे लोगों के विचारों की सर्वथा अवहेलना कर अपने ही सिद्धान्तों को ठीक मानना ऊँची नैतिकता को नहीं दर्शाता।

सहित मिलता है। इस दण्ड में चरित्र को सुधारने की शक्ति होती है। दण्ड चरित्र के दोष का औषध है।

कभी-कभी चरित्र का दोष किसी बाहरी दण्ड की अपेक्षा न रख अपने आप-द्वारा दण्ड के रूप में ही प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में वह शारीरिक अथवा मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है। जो लोग दूसरे लोगों के प्रति अपने मन में घृणा के भाव रखते हैं, उन्हें कोढ़, बवासीर, क्षय अथवा अन्धेपन का रोग हो जाता है। इन रोगों के द्वारा उनकी दुर्भावनायें अथवा चरित्र के दोष नष्ट होते हैं। ये रोग तभी होते हैं, जब मनुष्य अपने चरित्र के दोष को नहीं मानता अथवा उसे स्वीकार नहीं करता। अपने दोष को समझकर जब वह अपने चरित्र को सुधारने के लिए तत्पर हो जाता है, तो उसका दोष नष्ट हो जाता है। कई प्रकार की झक, भय या निरर्थक बाध्य शारीरिक चेष्टायें भी मानसिक विकार को बाहर फेंकने के लिए उत्पन्न होती हैं। गंदगी का भय भीतरी गंदगी के भय का प्रतीक है। यह भय आन्तरिक गंदगी को प्रतीक-रूप से बाहर निकालता है। साँप का भय काम-वासना का भय है, यह मनुष्य की छुपी काम-वासना का परिचायक होता है। किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक रोग कुछ काल तक तीव्र रहने के पश्चात् शान्त होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि वह मानसिक विकार को बाहर निकालने में समर्थ हुआ है।

चरित्र के दोषों का निवारण जिस प्रकार प्राकृतिक रूप से होता है, उसी प्रकार हम अपने प्रयत्न से भी उनका निवारण कर सकते हैं। किसी कुकृत्य के लिए सदाचारी मनुष्य को अपने आप पश्चाताप होता है। पश्चाताप स्वयं दोष का निवारण नहीं करता; बल्कि वह दोष के निवारण की आवश्यकता को दर्शाता है। दोष का ज्ञान पश्चाताप उत्पन्न करता है; और प्रायश्चित से दोष का परिष्कार होता है। जब पश्चाताप प्रायश्चित का कारण बन जाता है, तभी वह दोष का निवारण करता है। अपने आपको दण्ड देना ही प्रायश्चित है। चरित्र के परिष्कार के लिए इस प्रकार का दण्ड आवश्यक है।

पाप और अपराध

पाप और अपराध की व्याख्या—पाप और अपराध चरित्र के दोष के

बाहरी रूप हैं। पाप और अपराध मनुष्य की क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं और दोष उसके स्वभाव से पुण्य नैतिक शुभाचरण का नाम है, और पाप नैतिक दुराचरण का। पाप ही अपराध के रूप में प्रकाशित होता है। सभी पाप अपराध नहीं कहे जाते। अपराध वे पाप हैं, जो समाज-द्वारा दण्डनीय हैं। किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसकी निंदा करना पाप है; अपराध नहीं। पर जब किसी व्यक्ति की निंदा खुलेआम जनता के समक्ष की जाती है, तो वह अपराध बन जाता है। इसके लिए समाज ऐसे व्यक्ति को दण्ड देता है। इस प्रकार के अपराध को रोकने के लिए राज-सत्ता कानून बनाती है और उसके विरुद्ध चलनेवाले को दण्ड देती है।

पाप के प्रकार—पाप दो प्रकार के होते हैं, एक मानसिक और दूसरा शारीरिक तथा वाचिक। किसी-किसी समाज में बुरे कामों में प्रकाशित पाप को ही पाप समझा जाता है; वहाँ मानसिक पाप को पाप नहीं माना जाता। पर यह अनुचित है। उन्नतशील समाज के नेता जनता को न केवल शारीरिक पाप से अपने आप को रोकने की शिक्षा देते हैं, वरन् वे मानसिक पाप से भी अपने आपको रोकने की शिक्षा देते हैं। हजरत ईसा का कथन है कि जो व्यक्ति किसी स्त्री को कामुकता की दृष्टि से देखता है, वह उसके साथ मानसिक व्यभिचार कर ही चुका है।* भगवान बुद्ध की शिक्षा का सार भाग भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को न केवल शारीरिक बुरे कामों से बचना चाहिए, वरन् उसे मानसिक बुरे कामों को भी न करना चाहिये। मानसिक पाप शारीरिक पापों से अधिक बुरा इसलिए है कि शारीरिक पाप कभी-न-कभी प्रकाशित हो जाता है और इसके लिए हमें दण्ड भी भोगना पड़ता है, इससे हमारे चरित्र के दोष नष्ट हो जाते हैं। प्रकाशित न होने के कारण मानसिक पाप दण्डनीय नहीं होते और इस प्रकार हमारे चरित्र के दोष भी बने रहते हैं। मानसिक पापों के परिणाम तुरन्त प्रकट नहीं होते। अस्तु मनुष्य ऐसे पापों की संख्या बढ़ाते जाता है और फिर उसे उनका भुगतान एक साथ करना पड़ता है।

---

* Whoever looked on a woman to lust after her, has committed adultery with her already in heart—**New Testament.**

वास्तविक अपराध क्या है—ऊपर बताया जा चुका है कि प्रत्येक वास्तविक अपराध की जड़ में पाप रहता है। परन्तु मनुष्य को कभी-कभी समाज-द्वारा ऐसे कामों के लिए भी दण्डित होना पड़ता है, जो वास्तव में पाप नहीं हैं, पर समाज-द्वारा पाप मान लिए गये हैं। मनुष्य के वे ही कृत्य पाप हैं, जिन्हें वह सभी प्रकार का ज्ञान होने पर भी जान-बूझ कर अपनी स्वतंत्र इच्छा से करता है। नैतिक दृष्टि से मनुष्य के कार्य का हेतु ही महत्व का वस्तु है। जिस कार्य का हेतु बुरा है, वह कार्य भी बुरा है। अज्ञान के कारण कभी-कभी मनुष्य कुछ ऐसे काम कर बैठता है, जो अपराध माने जाते हैं। पर जब यह निश्चित हो जाए कि किसी काम के करते समय कर्त्ता को उसके बुरे परिणाम का ज्ञान नहीं था अथवा उसने उसे भला काम समझकर ही किया था, तो नैतिक दृष्टि से वह अपराधी नहीं माना जाएगा। उदाहरणार्थ यदि कोई डाक्टर किसी रोगी को पेचिश की दवा देता है; पर इस रोगी को कोई ऐसा दूसरा रोग भी है, जिसका ज्ञान डाक्टर को नहीं है। अब यदि यह रोग बढ़ जाता है, तो इसकी नैतिक जिम्मेदारी डाक्टर को नहीं है। इसी तरह यदि कोई गोलंदाज अपने दल को ही शत्रु की टोली समझकर उस पर गोला दाग देता है, तो वह उसके लिए नैतिक दृष्टि से दोषी नहीं समझा जाएगा। अरस्तू का कथन है कि ऐसे कामों को मनुष्य बिना संकल्प के करता है, पर उनके करने के पश्चात् जब उसे उनके बुरे परिणामों का ज्ञान होता है, तो उसे पश्चाताप होता है।[1]

परन्तु जिन बातों को जानना सर्व साधारण के लिए आवश्यक है, उनका अज्ञान मनुष्य को किसी अपराध के दोष से मुक्त नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति ऐसी जगह पर गोलियाँ चलाता है, जहाँ अनायास लोगों के आ जाने की संभावना है और यदि अचानक किसी को उसकी गोली लग जाती है, तो उसका यह कहना उसे अपराध के दोष से मुक्त नहीं करेगा कि एकाएक आ जानेवाले व्यक्ति का ज्ञान

---

1. What is done through ignorance is always un-intentional, but it is done unwillingly only if pain and regret are felt.

—**Nichomachean Ethics B. K. III.**

उसे नहीं था। दूसरे के बगीचे से फूल तोड़ते समय पकड़ जाने पर यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं था कि इस बगीचे के फूलों को तोड़ने की मनाही है, तो अज्ञान की आड़ में होकर वह अपराध की जिम्मेदारी से नहीं बच सकता। दूसरे व्यक्ति की किसी वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना न लेना चाहिए यह एक सामान्य ज्ञान है, जिसे सभी लोगों को जानना चाहिये।*

विक्षिप्तता की अवस्था में भी मनुष्य कई ऐसे काम कर बैठता है, जो अनुचित होते हैं, पर उन्हें अपराध नहीं कहा जाता। अपने किसी अनुचित कार्य के लिए जब कोई व्यक्ति कचहरी में न्यायाधीश के सामने लाया जाता है और जब उसके विषय में यह सिद्ध कर दिया जाता है कि उसका दिमाग ठिकाने नहीं है, तो उसे साधारण अपराधी के समान दण्ड नहीं होता। हत्या का अपराध करने पर भी ऐसे व्यक्ति को कभी-कभी कोई भी दण्ड नहीं दिया जाता। वह पागलखाने में भेज दिया जाता है।

कभी-कभी मनुष्य किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण कोई ही दुराचरण करता है। यह एक प्रकार का सामान्य पागलपन है। इस प्रकार के कार्य साधारणतः अपराध ही समझे जाते हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार के कामों को उदारता की दृष्टि से देखने की भावना उत्पन्न हो रही है। जब बालक किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण दुराचारी बनते अथवा कोई अपराध कर डालते हैं, तो न्यायाधीश उन्हें साधारण जेलों में न भेजकर सुधारगृह में भेजता है। ऐसे बालकों को योग्य शिक्षा देकर तथा उनकी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण करके उन्हें सदाचारी बनाने की चेष्टा की जाती है। अतएव इस प्रकार के कार्य उस प्रकार के अपराध नहीं समझे जाते, जिस प्रकार पूरी तरह समझ-बूझकर किये गये कार्य समझे जाते हैं।

किसी आवेग में आकर भी मनुष्य बहुत से अनुचित काम कर बैठता है। इन आवेगों का कारण प्रायः कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। अपने आप पर

---

* The ignorance that excuses is not ignorance of the universal principles (for we blame a man for this) but ignorance of particulars of the circumstances and specific effects of an act— **Nichomachean Ethics III, p. 14.15** and quoted by Wheelwright in **A Critical Introduction to Ethics p. 239.**

पर्याप्त नियंत्रण न रहने के कारण भी मनुष्य आवेग में आ जाता है। अपने आप पर नियंत्रण कई दिनों के अभ्यास से आता है। जिन लोगों को बाल्यकाल में योग्य शिक्षा नहीं मिलती, उनमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं आती। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के आवेगों में आ जाते हैं। मन की इस अवस्था में वे जो काम करते हैं, उन्हें अपराध ही कहा गया है। पर इच्छा-शक्ति का पूरा प्रयत्न न होने के कारण वे कार्य उतने निंद्य नहीं होते, जितने सोच-विचार कर किसी निकृष्ट हेतु से प्रेरित होकर किए गए काम होते हैं। किसी व्यक्ति की गाली सुनकर उसे घातक शस्त्र से मारना उतना निंद्य अपराध नहीं है, जितना पुराना वैर भंजाने अथवा उसका रुपया छीनने के लिए उसे मारना निंद्य है।

बुद्धि की कमी भी अपराध का कारण होती है। जिन लोगों में बुद्धि की कमी होती है, उनमें किसी बुरे काम को अपराध समझने की शक्ति ही नहीं होती। वे बुरे काम के बुरे परिणाम को नहीं देख सकते। क्या ऐसे लोगों के अनुचित कामों को अपराध मानना ठीक है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि बुद्धि की कमी के कारण किये गये कामों को अपराध मानना ही होगा। उनकी बुद्धि की कमी शिक्षा से पूरी हो सकती है। समाज अपराधी को यह शिक्षा दण्ड के रूप में देता है।

अन्त में वे काम आते हैं, जिन्हें व्यक्ति जान-बूझकर अपनी स्वतंत्र इच्छा से करता है। यदि ये काम उचित हैं, तो हम उन्हें भले काम अथवा पुण्य मानते हैं। हम काम करनेवाले के इन कामों की पूरी प्रशंसा भी करते हैं। यदि ये काम अनुचित हैं, तो हम काम करनेवाले की निंदा करते हैं और उसे दोषी अथवा अपराधी समझते हैं। जिस प्रकार के कामों के लिये मनुष्य अपने आपको स्तुति का पात्र समझता है, उसी प्रकार के कामों के लिये वह निंदा का भी पात्र होता है। यदि ये काम उसे सर्वोच्च नैतिक आदर्श की ओर ले जाते हैं, तो वे स्तुत्य हैं, और यदि वे उसे इससे गिराते हैं, तो निन्द्य हैं।

दण्ड विधान

दण्ड की आवश्यकता—दण्ड अपराध की मनोवृत्ति का सुधार करता है। यदि कोई मनुष्य कोई प्राकृतिक भूल करता है, तो प्रकृति उसे दण्ड देती

है, यदि वह सामाजिक भूल करता है, तो समाज उसे दण्ड देता है, और यदि वह नैतिक भूल करता, तो उसकी अन्तरात्मा उसे कोसती है। इस तरह प्रत्येक प्रकार की भूल के लिये मनुष्य को दण्ड सहना पड़ता है। दण्ड अपराध की मनोवृत्ति की चिकित्सा है। यदि अपराधी को प्रारंभ में दण्ड न दिया गया, तो उसकी भूल करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप आगे चलकर उसे भारी दण्ड सहना पड़ता है। संसार में कोई भी गंदगी, भूल अथवा अन्याय देर तक नहीं ठहर सकता। सृष्टि का संचालन विवेक-युक्त सत्ता करती है, यही नीति-शास्त्र तथा नैतिक आचरण की पूर्व मान्यता[1] है। अतएव किसी प्रकार की भूल के सुधार में जितनी ही देर होती है, भूल करने-वाले व्यक्ति के लिये वह उतनी ही घातक होती है।

दण्ड के सिद्धान्त[2]—दण्ड के प्रयोजन के विषय में नीति-शास्त्रज्ञों के तीन प्रकार के मत हैं—प्रतिबंधात्मक[3], सुधारात्मक[4] और प्रतिशोधात्मक[5]।

प्रतिबंधात्मक—प्रतिबंधात्मक सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का मुख्य उद्देश्य समाज के लोगों को दुराचरण से रोकना है। जब कोई अपराधी अपराध करता है, तो दूसरे लोगों के मन में भी अपराध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जब अपराधी को उसके अपराध के लिये दण्ड दिया जाता है, तो समाज के दूसरे लोग उसके दुःख से शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे जान लेते हैं कि अपराध दण्डनीय कार्य है। दण्ड का ध्यान उन्हें कुमार्ग पर जाने से रोकता है। यदि अपराधी को दण्ड न दिया गया, तो दूसरे लोग उसका अनुकरण करके अपने आप अपराधी बन जायेंगे। इससे समाज-व्यवस्था ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। अतएव दण्ड का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि उससे अपराधी का भला होता है, अथवा नहीं! इससे समाज व्यवस्था स्थिर बनी रहती है। एक अपराधी के प्रति कहा गया यूनान के एक न्यायाधीश का यह वाक्य उल्लेखनीय है कि तुम्हें भेड़ चुराने के लिये नहीं, वरन् इसलिये दण्ड दिया जाता है कि भेड़ों की चोरी न हो।

कुछ लोगों के कथनानुसार दण्ड के द्वारा अपराधी को समाज के अन्य लोगों

---

1. Postulate.
2. Theories ot Punishment. 3. Deterent. 4. Reformative. 5. Retributive.

से अलग कर दिया जाता है, ताकि वह समाज की और अधिक क्षति न कर सके। यह सिद्धान्त पहले सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। जब किसी अपराधी को चोरी के लिये जेल में भेज दिया जाता है, अथवा जब किसी हत्यारे को फाँसी का दण्ड दिया जाता है; तो वह समाज का और अधिक नुकसान नहीं कर पाता। इससे समाज के दूसरे लोगों का धन अथवा जन बचा रहता है।

दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का उद्देश्य एक-सा ही है। इन सिद्धान्तों में अपराधी के कल्याण को नहीं वरन् समाज के कल्याण को ही ध्यान में रखा जाता है। पहले सिद्धान्त में समाज को नैतिक क्षति से बचाने को महत्ता दी गई है और दूसरे में भौतिक क्षति से। परन्तु नीति-शास्त्र के ऊँचे उद्देश्य की दृष्टि से इस प्रकार का दण्ड नैतिक नहीं कहा जा सकता। नैतिक दण्ड वह है, जिसमें स्वयं अपराधी का लाभ हो। दूसरे व्यक्ति के लाभ के लिये किसी दूसरे को ताड़ना देना अनैतिक है। इस सिद्धान्त में मनुष्य को एक जड़ पदार्थ के समान मान लिया गया है। इसमें उसकी मानवता का आदर नहीं किया गया है। मानवता की अवहेलना करके जो दण्ड दिया जाता है, वह अनैतिक है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन अपने लिये है, न कि दूसरों के लिये। यह नैतिकता की आधार-भित्ति है।

सुधारात्मक सिद्धान्त—सुधारात्मक सिद्धान्त के अनुसार अपराधी का सुधार करना ही दण्ड का प्रधान उद्देश्य होना चाहिये। यह सिद्धान्त उन लोगों का है, जो अपराधी को सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार के दण्ड को शैक्षिक दण्ड[1] कहा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दण्ड देने के इसी हेतु को विशेष महत्व देते हैं। जिस दण्ड से अपराधी का सुधार नहीं होता वह दण्ड व्यर्थ समझा जाता है। दण्ड पाने के पश्चात् बहुत से अपराधी अपने आचरण में सुधार नहीं करते, वरन् और भी बिगड़ जाते हैं। इन लोगों को दिया गया दण्ड व्यर्थ समझा जाना चाहिये। फिर कई प्रकार के दण्ड ऐसे होते हैं, जिससे अपराधी का कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। मृत्यु का दण्ड इसी प्रकार का है। इससे अपराधी का कोई लाभ होना सम्भव ही नहीं।

---

1. Educative punishmetn.

यदि इस सिद्धान्त को माना जाए, तो कई प्रकार के अपराधियों को दण्ड नहीं दिया जायगा। जहाँ प्रेम से काम चल सकता है, वहाँ किसी अपराधी को दण्ड देना अनैतिक है। बहुत से अपराधियों में प्रेम के द्वारा पश्चाताप की भावना उत्पन्न की जा सकती है। जो व्यक्ति अपने अपराध के लिये पश्चाताप करता है, उसके लिये दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रतिकारात्मक सिद्धान्त—दण्ड के प्रयोजन का तीसरा सिद्धान्त प्रतिकारात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड बुरे काम का पुरस्कार है। यदि कोई मनुष्य भला काम करता है, तो उसे सुखद पुरस्कार मिलता है; और यदि वह कोई बुरा काम करता है, तो उसे दुःखद पुरस्कार मिलता है। ये पुरस्कार भले और बुरे कामों के स्वाभाविक परिणाम हैं। समाज जब किसी व्यक्ति को दण्ड देता है, तो इससे वह उसका कल्याण ही करता है। मनुष्य और समाज का स्वत्व एक ही है। आदर्शवाद के अनुसार समाज मनुष्य का वृहत् और व्यापक स्वत्व माना गया है। अतएव जब समाज मनुष्य को उसके किसी बुरे काम के लिये दण्ड देता है तो हम कह सकते हैं, कि वह मनुष्य ही अपने आपको सुधारने के हेतु दण्ड देता है।

हीगेल महाशय, जो उक्त सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक हैं, के कथनानुसार किसी अपराधी को दण्ड न देना उसे अपने नैतिक अधिकार से वंचित करना है। जिस प्रकार भले काम करनेवाले व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसे भला पुरस्कार मिले, उसी प्रकार बुरे काम करनेवाले व्यक्ति का यह आध्यात्मिक अधिकार है कि उसे दण्ड मिले। जब हम किसी अपराधी को उसके अपराध के लिये दण्ड नहीं देते, तो हम उसे अपने जन्म-सिद्ध अधिकार से वंचित करते हैं। हम उसे अपने आपको सुधारने का अवसर नहीं देते। इस प्रकार किसी व्यक्ति को उसके अधिकार से वंचित करके हम उसके प्रति अन्याय करते हैं।

उक्त सिद्धान्त को कुछ लोगों ने निर्दयता का सिद्धान्त माना है। उदार विचार के लोग दूसरे व्यक्ति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहते और न वे किसी ऐसे सिद्धान्त का समर्थन ही करते हैं, जिससे किसी को कष्ट दिया जाए। पर बिना कष्ट के न तो मनुष्य को शिक्षा ही मिलती है, और न वह चरित्र के दोष से ही मुक्त हो सकता है। जब हमारे पहनने के कपड़े में कोई दाग लग

जाता है, तो उसे हटाने के लिए हमें कपड़े पर साबुन लगाना उसे भट्टी में डालना और पत्थर पर पटकना पड़ता है। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति के चरित्र में कोई दाग लग गया हो, तो उसका नैतिक सुधार तभी होता है, जब उसे अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। पर जब हम उसे किसी प्रकार का दण्ड देते हैं, तो हमारे मन में प्रतिशोध अथवा बदला लेने की भावना नहीं रहनी चाहिए। बदला लेने की भावना से किसी व्यक्ति को दण्ड देना, अपने आपको नीचे गिराना है। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति कोई बुराई करे, तो उसे दण्ड देने की भावना मन में लाना अपने आपको गिराना है। परन्तु यदि व्यक्ति समाज की बुराई करता है और उसके आचरण से समाज का नुकसान होता है, तो उसे दण्ड न देने से केवल समाज की ही नहीं, वरन् अपराधी की भी हानि होगी। अतएव दण्ड से बदला लेने की भावना को निकाल कर अपराधी के कल्याण की दृष्टि से ही उसे दण्ड दिया जाना चाहिये। न्यायाधीश जब किसी चोर को दण्ड देता है, तो उसका ध्येय चोर को सुधारना मात्र रहता है; उसके मन में प्रतिशोध की भावना नहीं रहती।

दण्ड देने का वास्तविक हेतु अपराधी के मन में इस भावना को जाग्रत करता है कि अपराध स्वभावतः ही दण्ड को लाता है। अपराध और दण्ड कारण और कार्य के समान एक दूसरे से लगे हुए हैं। जहाँ कारण होगा, वहाँ कार्य भी होगा। जिस प्रकार फूल और फल एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार अपराध और दण्ड भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जब अपराधी के मन में यह विचार दृढ़ हो जाता है, तो दण्ड अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेता है। मनुष्य अपने आचरण में किसी प्रकार का सुधार तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसे इस बात का ज्ञान न हो जाए कि भले आचरण का भला और बुरे आचरण का बुरा परिणाम अवश्य होगा। यह उसका न केवल बौद्धिक ज्ञान रहे, वरन् उसके स्वभाव का अङ्ग बन जाए। अभ्यास के द्वारा यह ज्ञान स्वभाव का अङ्ग बन जाता है। जब किसी अपराधी को अपराध के लिए प्रत्येक बार दण्ड मिलता है, तो यह निश्चित होता है कि अपराध के काम को करना उचित नहीं है। उससे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। फिर जब वह कोई अपराध करता है, तो उसे स्वयं ही आत्मग्लानि अथवा पश्चात्ताप होने लगता है। जब मनुष्य के मन की यह

स्थिति हो जाय, तो हम कह सकते हैं कि उसका नैतिक सुधार हो गया। जब मनुष्य का मन अपराध के लिए अपने आपको दण्ड नहीं देता, तभी बाहरी दण्ड की आवश्यकता होती है।

नैतिक विकास में आत्म-भर्त्सना की उपयोगिता—मेकेञ्जी महाशय के अनुसार नैतिक विकास में पश्चात्ताप की भारी उपयोगिता है। जब कोई मनुष्य कोई बुरा काम कर बैठता है और उसे ज्ञात होता है कि वह काम दण्डनीय है, तो उसकी अन्तरात्मा उसे कोसने लगती है। अन्तरात्मा का इस प्रकार कोसना दुःखद होता है। जब इस प्रकार की भर्त्सना कभी-कभी होती है, तो उसे पश्चाताप और जब बार-बार होती है; तो उसे आत्म-भर्त्सना कहते हैं। भर्त्सना सभी लोगोंको कुछ-न-कुछ दूर तक होती ही है। इसी के कारण मनुष्य अपने आपको, बाहरी दण्ड के भय के, बिना ही बुरे मार्ग पर जाने से रोकने की चेष्टा करता है। बाहरी दण्ड की आवश्यकता उन्हीं लोगों को होती है, जिन्हें आत्म-भर्त्सना की अनुभूति नहीं होती। आत्म-भर्त्सना की अवस्था में मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अपने आदर्श से गिर गया है और वह अपना सर्वस्व खो चुका है। जिस प्रकार कोई कंजूस अपने धन के खो जाने से दुःख की अनुभूति करता है, उसी प्रकार चरित्रवान व्यक्ति अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण करने से दुःख की अनुभूति करता है। वह ऐसा अनुभव करता है, मानो उसका सर्वस्व खो गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों का कथन है कि इस प्रकार की भर्त्सना की अनुभूति मनुष्य के चरित्र को बली नहीं, वरन् उसे निर्बल ही बनाती है। उनके इस कथन में मौलिक सत्य है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि किसी मनुष्य को पाप के लिए यदि कुछ भी पश्चाताप न हो, तो वह अपना पापाचरण कभी भी न छोड़ेगा। मनुष्य प्रलोभन-वश पाप करता है। पाप से सुख की उत्पत्ति होती है। इस सुख का त्याग मनुष्य तभी कर सकता है, जब उसे किसी भारी दुःख का ध्यान हो। राज-दण्ड, समाज-दण्ड आदि बाहरी दुःख हैं, और पश्चाताप का दण्ड भीतरी दुःख है। जो व्यक्ति इस दुःख की अनुभूति करता है, वह इसके भय से डरता भी है। ऐसा व्यक्ति अनायास ही सदाचारी बना रहता है। यदि उससे कोई भूल हो गई, तो उसके लिए अपने आप ही

प्रायश्चित करके वह उसका सुधार कर लेता है। किसी को गाली देने पर वह उससे माफी मांगता है, किसी धन को चुराने पर वह उस धन को अपने काम में नहीं लाता और उसके लिए दूसरे प्रकार के दण्ड भोगने के लिए तत्पर रहता है। भले लोग बाहरी दण्ड से उतना नहीं डरते, जितना अन्तरात्मा के दण्ड से डरते हैं।

पश्चाताप और आत्मभर्त्सना उन्हीं लोगों को होती है, जिनका नैतिक आदर्श ऊँचा होता है। अतएव जिस व्यक्ति का नैतिक आदर्श जितना ही ऊँचा होता है, किसी पाप के कर लेने पर उसे उतनी ही अधिक आत्म-भर्त्सना भी होती है। पहले-पहल बुरे काम करने पर सभी लोगों को पश्चाताप होता है, पर जब कोई मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना बार बार करता है, तो फिर वह उसे किसी बुरे काम से नहीं रोकती। ऐसी अवस्था में बाहरी दण्ड ही उसकी भूलों का एकमात्र सुधारक रह जाता है। यह दण्ड मनुष्य में आत्म-सुधार की वैसी प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता, जैसी पश्चाताप का भाव करता है।

यह यदि मनुष्य में चरित्र-लाभ के प्रति निराशा उत्पन्न करती है, तो वह मनुष्य का नैतिक लाभ न कर उसका ह्रास ही करता है। अत्यधिक आत्म-भर्त्सना का होना उसी प्रकार बुरा है, जिस प्रकार उसका सर्वथा न होना। हालैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पैनौजा महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि पश्चाताप दो तरह से बुरा है; एक तो वह इच्छाशक्ति की कमजोरी को दर्शाता है, और दूसरे इच्छा-शक्ति को और भी कमजोर करता है। अतएव आत्म-भर्त्सना की स्थिति को हर प्रकार से मिटाना चाहिए। जब मनुष्य जान-बूझकर इस स्थिति को मिटाने की चेष्टा नहीं करता, तो वह उसे भुलाने की चेष्टा करने लगता है। ऐसी अवस्था में ही मनुष्य में अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ये रोग अपराधी को वही दण्ड देते हैं, जिससे वह अपनी जान बचाता है। ये उसके चरित्र के दोष को बाहर लाते हैं।

आत्म-भर्त्सना का अन्त प्रायश्चित अथवा नए शुभ कर्मों से होता है। ये आत्म-सुधार के उपाय हैं। इमरसन महाशय के कथनानुसार नये शुभ कर्मों का करना पुराने पापों के लिए उत्तम-से-उत्तम प्रायश्चित है। अतएव किसी भूल के लिए अपने आपको बार-बार धिक्कारते रहना बुरा है। जो भूल हो गई उसे ध्यान

में रखकर आगे अपने आप का सुधार करने की सतत् चेष्टा करते रहने से ही मनुष्य के जीवन का नैतिक विकास होता है।

क्षमा की उपयोगिता

क्षमा का ध्येय—क्षमा का भी वही ध्येय है, जो दण्ड का है। जिस प्रकार दण्ड से किसी व्यक्ति का नैतिक सुधार होता है, उसी प्रकार क्षमा से भी मनुष्य का नैतिक सुधार होता है। पात्रता के अनुसार मनुष्य को क्षमा और दण्ड देने चाहिए। दण्ड मनुष्य के नैतिक सुधार का नकारात्मक और क्षमा उसका विधेयात्मक उपाय है। जब किसी ऐसे अपराधी को क्षमा प्रदान कर दी जाती है, जिसका सामान्य नैतिक जीवन भला है; तो यह क्षमा उसके मन में आत्म-भर्त्सना का रूप धारण कर लेती है। अब वह बाहर से दण्ड न पाकर भीतर से ही दण्ड पाने लगता है। भले लोगों में क्षमा एक ओर कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करती है और दूसरी ओर वह उन्हें अपनी नैतिक जिम्मेदारी के प्रति सचेत करती है। जिस व्यक्ति को क्षमा मिली है, वह दूसरे लोगों के प्रति उदारता दिखाने की चेष्टा करता है। वह जानता है कि जिस प्रकार उसके अपराध क्षमा किये गये, उसी प्रकार उसे दूसरे लोगों के अपराध क्षमा करने चाहिये।

क्षमा की पात्रता—सभी लोग क्षमा के पात्र नहीं होते। ऊँचे नैतिक आदर्श के लोग ही क्षमा के पात्र होते हैं। जिन लोगों में अपनी भूल को सम्भालने की शक्ति है, उन्हें क्षमा देकर हम उनका नैतिक सुधार करते हैं। क्षमा देने के बाद वे अपने कामों पर और भी अधिक विचार करते हैं और अपने आपको फिर उसी प्रकार की परिस्थिति में पड़ने से बचाने की चेष्टा करते हैं। क्षमा उसी मनुष्य को देना उचित है, जिसे क्षमा प्राप्त करने का शर्म होता है, जिसमें पश्चाताप की भावना है। जिस व्यक्ति में यह भावना नहीं है, उसके अपराध को क्षमा करना उसके प्रति अन्याय करना है। उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। विवेकशील को क्षमा और अविवेकी को दण्ड देना उचित है। चरित्रवान् के लिए क्षमा ही दण्ड होता है।

मनुष्य को क्षमा अथवा दण्ड देते समय एक ही बात का ध्यान रखना आवश्यक है—उसका इससे नैतिक सुधार होता है, अथवा नहीं। सभी लोगों के

साथ एक-सा व्यवहार करना, अथवा किसी एक ही व्यक्ति के साथ सभी परिस्थितियों में एक-सा व्यवहार करना नैतिक विकास के नियम की अज्ञता को दर्शाता है।

लोभी, हठी और दुराचारी व्यक्ति को क्षमा करने से उसकी अपराध की प्रवृत्ति के और भी बढ़ जाने की सम्भावना है। उसे यह धारणा हो जाने की सम्भावना है कि संसार में कोई नैतिक नियम काम ही नहीं करता। ऐसे लोगों को द्वेष-वश नहीं वरन्, उनके अथवा समाज के हित को ध्यान में रखकर जब दण्ड दिया जाता है; तो उनका सुधार होता है और इससे समाज की भी भलाई होती है। ऐसे व्यक्ति को क्षमा करना न केवल अपने प्रति अन्याय है, वरन् यह समाज और स्वयं अपराधी व्यक्ति के प्रति भी अन्याय है। जब कोई व्यक्ति अपने बालक को झूठ बोलने, चोरी करने, गाली बकने आदि दुर्गुणों को क्षमा कर देता है, तो वह उसका भविष्य कल्याणमय नहीं बनता, वरन् वह उसके लिए नरक की तैयारी हो करता है। उसका वर्तमान जीवन ही उसके लिए नरक की यन्त्रणा देनेवाला होगा। जिस मनुष्य को अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करने की शिक्षा नहीं मिली, उससे अधिक अभागा कौन है?

जिस प्रकार ऊँचे आदर्श वाले व्यक्ति की भूलों को क्षमा करने से उनका सुधार होता है, उसी प्रकार कभी-कभी मानसिक ग्रन्थि के जटिल लोगों के अपराधों को क्षमा करने से उनका भी सुधार हो जाता है। पर इस प्रकार के सुधार की योग्यता थोड़े ही व्यक्तियों में होती है। आधुनिक शिक्षावैज्ञानिक जटिल बालकों के सुधार का उपाय उनके प्रति प्रेमपूर्वक व्यवहार करने को ही बताते हैं। उनके इस कथन में मौलिक सत्य है। अपने नैतिक सुधार में जिस व्यक्ति का विश्वास नहीं है, उसे भला बनाना कठिन होता है। इस आत्म-विश्वास को लाने के लिए जटिल अपराधी के साथ प्रेम का व्यवहार करना आवश्यक होता है। पर सभी प्रकार के अपराधियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना अनुचित है।

पागलों के व्यवहार को क्षमा करना ही पड़ता है। पागलों के नैतिक सुधार की सम्भावना नहीं। अतएव उनके नैतिक सुधार में दण्ड का कोई महत्व

नहीं। यदि उन्हें कोई लाभ हो सकता है, तो उनके प्रति प्रेम-प्रदर्शन से। अतएव सभ्य समाज में पागलों पर दया ही की जाती है।

अज्ञानी व्यक्ति का अपराध क्षम्य है अथवा नहीं, यह उसके विशेष प्रकार के अज्ञान पर निर्भर है। इसकी चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। पर उसी व्यक्ति के अज्ञान-कृत अपराध को क्षमा करना उचित है, जो अपराध के परिणाम का ज्ञान कर लेने पर उसके लिए पश्चात्ताप की अनुभूति करता है। अपनी भूल को समझकर भी जो व्यक्ति आत्म-ग्लानि की अनुभूति नहीं करता, उसे भूल के महत्व को दर्शाने के लिये दण्ड देना ही उचित है। जो व्यक्ति किसी भूल के लिए एक बार पश्चात्ताप की अनुभूति करता है, वह उस भूल को दूसरी बार नहीं करता। अतएव पश्चात्ताप की भावना के उत्पन्न हो जाने पर किसी भी अपराधी को क्षमा कर देना उचित है। उसके नैतिक सुधार के लिये पश्चात्ताप ही पर्याप्त है।

नैतिक सुधार

मनुष्य का नैतिक सुधार तभी होता है, जब कि वह अपने आपको बुरे कामों से अलग करके भले कामों में लगा देता है। दण्ड और पश्चात्ताप अपराधी के सुधार के नकारात्मक उपाय हैं। इनसे मनुष्य के दुराचरण की प्रवृत्ति दुर्बल हो जाती है, पर उसके चरित्र को बलवान बनाने के लिए दण्ड और पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ करना भी आवश्यक होता है। दण्ड, चाहे वह दूसरों के द्वारा दिया गया हो अथवा अपने आप के द्वारा ही, मनुष्य के मन में अपराध के फल के प्रति भय उत्पन्न करता है। भय मनुष्य को बुरे काम से रोकने में समर्थ भले ही हो, वह उसे भले काम में लगाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिए मनुष्य के मन में फल के प्रति आशा का भाव उत्पन्न करना आवश्यक है। दण्ड केवल बुरे काम करने के प्रति मनुष्य के मन में अनिच्छा उत्पन्न करता है, पर जबतक मनुष्य के मन में भले काम करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती; तबतक उसमें नैतिक सुधार नहीं होता।

किसी मनुष्य को बार-बार दण्ड देने से उसका आत्म-विश्वास चला जाता है। इस विश्वास के अभाव में उसके आचरण का सुधार होना

असम्भव है। जब किसी व्यक्ति का शुभाचरण कर सकने का विश्वास चला जाता है तो उसे सदाचारी नहीं बनाया जा सकता है। वह फिर निकम्मा, भाग्य को कोसनेवाला अथवा रोग का आवाहन करनेवाला व्यक्ति बन जाता है।

जिस प्रकार अपराधी का सुधार बार-बार दण्ड देने से नहीं वरन् उसमें आत्म-विश्वास की उत्पत्ति से होता है, उसी प्रकार किसी पाप के लिए हर समय आत्म-भर्त्सना से भी मनुष्य का वास्तविक और स्थायी आत्म-सुधार नहीं होता। अपने आपको रचनात्मक काम में लगाने से ही मनुष्य के चरित्र का वास्तविक सुधार होता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है और फिर वह सहज भाव में सदाचारी बन जाता है। सदा भले काम में लगे रहने से मनुष्य के बुरे कामों के संस्कार अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

अपने दोषों से मुक्त होने के लिए मनुष्य को अपने विचार नराकात्मक न बनाकर रचनात्मक बनाना चाहिए। मनुष्य की दृष्टि जिस ओर रहती है, उसका आचरण भी उसी ओर जाता है। दोष से मुक्त होने की चिन्ता मनुष्य को अनायास दोषों की ओर ही ले जाती है और रचनात्मक कार्य करने की चिन्ता मनुष्य को रचनात्मक कार्यों की ओर ले जाती है। बार-बार दण्ड के भय और आत्म-भर्त्सना के परिणामस्वरूप जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है, तो उसके द्वारा अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी अपराध हो जाते हैं। इनके लिए वह दुःख की अनुभूति करता है, पर फिर भी वह मानसिक साम्य को प्राप्त करने में असमर्थ ही रहता है। रचनात्मक विचारों के अभाव में वह वर्जित काम में भी अपने आपको अनायास लगा हुआ पाता है। अतएव अपराधी को किसी-न-किसी प्रकार रचनात्मक काम में लगाये रखना चाहिए।

इसके लिए उसके प्रति सहानुभूति दिखाना आवश्यक होता है। न्याया-धीश उद्दण्ड बालक को दण्ड के रूप में सुधार-गृह में भेजता है, पर यदि सुधार-गृह में उसे कठोरता का ही व्यवहार मिले तो; उसका सुधार न होकर वह और भी बिगड़ जायेगा। सुधारगृह में बालक को रचनात्मक काम में लगाना आवश्यक होता है। सुधारगृह का लक्ष्य बालकों को उनकी पुरानी आदतों से मुक्त करना मात्र ही नहीं, बल्कि उनमें उत्तम आदतें डालना भी उसका लक्ष्य है।

नैतिक जिम्मेदारी

नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति का स्वरूप—जब हम कोई बुरा अथवा भला काम करते हैं, तो हम आत्म-प्रसाद अथवा आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करते हैं। हमारी यह अनुभूति नैतिक जिम्मेदारी का आधार है। जिस मनुष्य को भले काम के लिए आह्लाद या बुरे काम के लिए भर्त्सना नहीं होती, उसमें नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति का भी अभाव रहता है। नैतिक जिम्मेदारी का भाव मनुष्य में विवेक की वृद्धि के साथ-साथ आता है। जिस मनुष्य का विवेक जितना ही कम विकसित रहता है, उसमें नैतिक जिम्मेदारी का भाव भी उतना ही कम होता है। बालक में नैतिक जिम्मेदारी का भाव कम रहता है, पर जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है और उसे योग्य शिक्षा मिलती जाती है, तैसे-तैसे उसमें नैतिक जिम्मेदारी का भाव आता जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य के चरित्र का विकास होता है, तैसे-तैसे उसके नैतिक जिम्मेदारी का भाव भी बढ़ता जाता है। जिम्मेदारी का यह भाव मनुष्य में तबतक रहता है, जबतक उसे अपने व्यक्तित्व का ज्ञान और उसका अहंकार रहता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व के ज्ञान से रहित हो जाता है, और उसमें आत्म-प्रतिष्ठा की आकांक्षा नहीं रहती, तो उसकी नैतिक जिम्मेदारी के भाव का भी अन्त हो जाता है। मन की विक्षिप्त अथवा पूर्णता की अवस्था में मनुष्य में नैतिक जिम्मेदारी का भाव नहीं रहता। विक्षिप्त अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व में एकत्व नहीं रहता। वह अपने भूतकाल के अनुभवों को स्वीकार करने और उनके लिए प्रायश्चित करने से बचना चाहता है। अतीत के अनुभव जब इतने अप्रिय होते हैं कि मनुष्य उनका स्मरण भी नहीं करना चाहता, तो उसके व्यक्तित्व का एकत्व नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पुराने कृत्यों के लिए अपने आपको जिम्मेदार न समझकर किसी दूसरी सत्ता को ही जिम्मेदार समझने लगता है।

नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति की महत्ता—नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति ही नैतिकता का आधार है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अपने शुभ काम के लिए पुरस्कार का और अशुभ काम के लिए दण्ड का भागी मानता है; दण्ड चाहे उसे यह समाज से मिले अथवा वह अपने आपको स्वयं ही दे ले। समाज-द्वारा दिया गया पुरस्कार अथवा दण्ड उसकी प्रशंसा अथवा

निन्दा का रूप लेता है। जब कोई काम बहुत ही भला अथवा बुरा होता है, तो ऐसे काम करनेवाले को राज्य के द्वारा सम्मान या दण्ड मिलता है। अपने आप-द्वारा दिया गया पुरस्कार आत्म-संतोष का और दण्ड आत्म-भर्त्सना का रूप लेता है। जबतक मनुष्य पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे सम्पूर्ण आत्म-संतोष नहीं होता है। भूलों के लिए सामाजिक दण्ड अथवा आत्म-भर्त्सना के भय से उसे सदा सचेत होकर काम करना पड़ता है। नैतिकता की विकसित अवस्था में मनुष्य बाहरी पुरस्कार अथवा दण्ड के प्रति उदासीन हो जाता तब है। उसका लक्ष्य आत्म-संतोष प्राप्त करना और आत्म-भर्त्सना के अवसर को न आने देना ही हो जाता है।

जो मनुष्य अपने कामों के लिये नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति नहीं करता, वह अपना नैतिक विकास भी नहीं कर पाता। जब कोई मनुष्य यह मानने लगता है कि उसके सभी प्रकार के आचरणों के लिये उसका वातावरण ही जिम्मेदार है, तो उसमें नैतिक जिम्मेदारी की भावना की कमी हो जाती है। नैतिक जिम्मेदारी उसी व्यक्ति पर डाली जा सकती है, जो अपने आप में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की उपस्थिति का अनुभव करता है और जो अपने आपमें वातावरण के प्रतिकूल आचरण करने की भी सामर्थ्य पाता है। अपने किसी कार्य के लिये वातावरण को दोषी ठहराना नैतिक जिम्मेदारी से बचने की मनोवृत्ति का परिचायक है। ऐसे व्यक्ति को अपने कार्यों के लिये आत्म-भर्त्सना नहीं होती, पर उसका नैतिक विकास भी नहीं होता। ऐसे लोगों का सुधार बाहरी दण्ड-द्वारा होता है। मनुष्य में नैतिक जिम्मेदारी की भावना का विकास करना बाहरी दण्ड का ध्येय है।

नैतिक जिम्मेदारी की परिस्थिति—हम किसी व्यक्ति को विशेष परिस्थिति में ही उसके काम के लिये नैतिक रूप से जिम्मेदार मान सकते हैं। जिस मनुष्य को जिस काम को करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता नहीं है, उसके ऊपर उस काम की नैतिक जिम्मेदारी भी नहीं होती। नौकर के विशेष काम की नैतिक जिम्मेदारी उसके मालिक पर होती है। कितने ही काम ऐसे हैं, जो मानवता के प्रतिकूल हैं। नौकर को भी चाहिये कि वह नौकरी को छोड़ दे, पर ऐसे काम न करे। जब कोई नौकर अपने स्वामी से पुरस्कार पाने के हेतु अथवा अपनी

नौकरी रखने के लिये जघन्य अपराध करता है, तो वह सर्वथा दोष से मुक्त नहीं माना जा सकता।

अज्ञान की अवस्था में भी नैतिक जिम्मेदारी उतनी अधिक नहीं होती, जितनी सपूर्ण ज्ञान की अवस्था में रहती है। परन्तु जैसा कि अपराध के स्वरूप-निरूपण के समय बताया गया है, सभी प्रकार का अज्ञान क्षम्य नहीं है और न वह हमें अपने बुरे कामों की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त ही करता है। प्रत्येक विवेकशील मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान को प्राप्त करे, जिसके द्वारा वह भले और बुरे की पहचान ठीक से कर सकता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के उचित उपायों को जान सकता है।

प्रलोभनों की उपस्थिति मनुष्य को नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करती। प्रलोभनों के ऊपर विजय प्राप्त करने में ही मनुष्य का नैतिक विकास है। जिस व्यक्ति का चरित्र जितना ही दृढ़ होता है, प्रलोभनों के वश में वह उतना ही कम आता है। प्रलोभनों से बचने के लिये ही मनुष्य को दण्ड दिया जाता है। जब प्रलोभन-वश हमसे कोई काम हो जाए, तो हमें अपने ऊपर उसकी पूरी नैतिक जिम्मेदारी लेनी चाहिए।

दूसरे लोगों की सलाह का तर्क भी मनुष्य को अपने काम की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करता। प्रत्येक मनुष्य के काम की नैतिक जिम्मेदारी उसके ऊपर ही है, न कि उसे सलाह देनेवाले के ऊपर। सलाह देनेवाले की सलाह देने के काम की नैतिक जिम्मेदारी अलग है। हम किसी की भली अथवा बुरी सलाह को तभी मानते हैं, जब निर्दोष पथ की ओर हमारी पहले से ही प्रवृत्ति होती है। मनुष्य की इच्छा के प्रतिकूल सलाह उसे ग्राह्य नहीं होती। अतएव अपने किसी भी पाप अथवा अपराध के लिये किसी सलाहकार के सिर दोष मढ़ना अपने आपको धोखा देना है। इससे मनुष्य कुछ काल के लिये योग्य दण्ड से भले ही बच जाय, पर उसे वह दण्ड पीछे व्याज सहित मिलता है।

आवेग की उपस्थिति की युक्ति मनुष्य के काम की नैतिक जिम्मेदारी को कम अवश्य कर देती है; पर इसके कारण मनुष्य उससे सर्वथा मुक्त नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करे, उसी प्रकार उसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपने आवेगों के कारण

को जानकर उनके ऊपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करे। आवेगों के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी जड़ मनुष्य के अचेतन मन में रहती है, अतएव उन पर विजय प्राप्त करना उतना सरल नहीं है, जितना कि अपने प्रलोभनो पर विजय प्राप्त करना। अतएव आवेगों के वश में मनुष्य जो काम कर डालता है, उसके लिए हम उसे उतना दोषी नहीं मानते; जितना कि प्रलोभनों के वश में होकर काम करनेवाले व्यक्ति को मानते हैं।

अपने काम की पूरी नैतिक जिम्मेदारी उसी व्यक्ति में होती है, जो सुशिक्षित है, जिसका व्यक्तित्व सुगठित और विवेक जाग्रत है। ऐसा व्यक्ति अपने कार्यों की नैतिक जिम्मेदारी का भार किसी दूसरे व्यक्ति के कंधों पर न डाल कर अथवा परिस्थितियों के सिर न मढ़कर सहर्ष अपने ऊपर ही लेता है। इसमें ही वह अपना सच्चा कल्याण देखता है।

नैतिक जिम्मेदारी से बचने की मनोवृत्ति—दोषी मनुष्य नैतिक जिम्मेदारी से बचने की चेष्टा सदा करते रहता है। संसार का साधारण मनुष्य भले काम के लिए अपने आपको प्रशंसा का पात्र तो समझता है, पर अपने बुरे काम के लिए वह अपने को निन्दा का भागी नहीं समझता। निन्दा पाने की परिस्थिति से वह किसी-न-किसी प्रकार बचने की चेष्टा करता है। बुरे काम के लिए जब उसे आत्म-भर्त्सना होती है, तो वह या तो इस दुःख की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है अथवा अपने बुरे काम का उत्तरदायित्व किसी दूसरे व्यक्ति, परिस्थिति, देवी-देवता, भूत-प्रेत अथवा ईश्वर के ऊपर डालता है। पर यह अपने आपको धोखा देना है। इससे उसके व्यक्तित्व का एकत्व नष्ट हो जाता है और उसका मानसिक विकास रुक जाता है। इसके कारण कभी-कभी उसमें मानसिक रोग अथवा विक्षिप्तता आ जाती है। इसके कारण शारीरिक रोग भी उत्पन्न होते हैं। इन रोगों को प्रकृति मनुष्य से आत्म-स्वीकृति कराने और उसमें नैतिक जिम्मेदारी का भाव लाने के लिए ही भेजती है। पाप के लिए प्रायश्चित कर लेने पर मनुष्य में आत्म-विश्वास आ जाता है। वह फिर अपने कामों की नैतिक जिम्मेदारी को अपने से बाहर किसी पदार्थ, घटना, अथवा व्यक्ति पर न डाल कर अपने आप पर ले लेता है।

सामाजिक बुराइयाँ

सामाजिक बुराइयों का स्वरूप—जिस प्रकार व्यक्ति के नैतिक जीवन में बुराइयाँ रहती हैं और वे उसके नैतिक विकास को रोकती हैं, उसी प्रकार समाज में भी नैतिक बुराइयाँ रहती हैं और वे समाज की प्रगति में बाधक होती हैं। सुयोग्य समाज वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए सब प्रकार की पर्याप्त सुविधाएँ मिलती हैं। सब प्रकार की उन्नति में श्रेष्ठ नैतिक उन्नति है। अतएव जो समाज नागरिकों को नैतिक उन्नति की जितनी ही अधिक सुविधाएँ देता है, वह उतना ही भला समाज है। व्यक्ति की नैतिक उन्नति में सामाजिक व्यवस्था जिस प्रकार सुविधा दे सकती है, उसी प्रकार वह बाधा भी डाल सकती है। नैतिक दृष्टि से निकृष्ट समाज में ये बाधायें अधिक-से-अधिक होती हैं। जिस समाज में अधिकारों की समानता नहीं, जिसमें ऊँच-नीच का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है, जिसमें एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों का शोषण सदा करते रहते हैं और उन पर सभी प्रकार के अत्याचार करते हैं; वह समाज नैतिक दृष्टि से निकृष्ट समझा जायगा। समाज के शुभ-चिन्तक प्रत्येक समझदार का यह कर्तव्य है कि वह इन सामाजिक बुराइयों का अन्त करने की चेष्टा करे।

सामाजिक बुराइयों का एक प्रधान कारण नागरिकों में योग्य शिक्षा की कमी होती है। इसीलिए बर्बर समाज में सभ्य समाज की अपेक्षा अधिक बुराइयाँ पाई जाती हैं। सभ्यता का विकास शिक्षा का परिणाम है। शिक्षा से मनुष्य के स्वत्व का विकास होता है, फिर वह केवल अपने और अपने सम्बन्धियों के सुख-दुःख की ही चिन्ता नहीं करता, वरन् दूसरे लोगों के सुख-दुःख को भी अपने सुख-दुःख जैसा ही मानता है। अतएव वह दूसरों को भी सुखी बनाने की चेष्टा करता है। पर इस प्रकार की भावना योग्य शिक्षा से ही आती है। सभ्य देशों की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यह लक्ष्य नहीं दिखाई देता। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मनुष्य को अपने सुख की सामग्री बढ़ाने की योग्यता प्रदान करती है, परन्तु वह उसके हृदय को वृहत् नहीं बनाती। इसके कारण मनुष्य की इच्छाएँ बढ़ जाती हैं और उसमें दूसरों के प्रति ईर्ष्या का भाव भी

बढ़ जाता है। इससे मनुष्य का नैतिक विकास न होकर नैतिक ह्रास ही होता है।

संसार के कुछ प्रतिभावान विद्वानों का कथन है कि सभ्यता अर्थात् वैज्ञानिक आविष्कार-द्वारा प्राप्त सुविधाएँ जैसे-जैसे बढ़ती हैं, वैसे-वैसे मनुष्य का नैतिक विकास न होकर उसका ह्रास होता जाता है। रूसो महाशय ने अपनी पुस्तकों में इसे दर्शाया है। टाल्सटाय महाशय के भी ऐसे ही विचार थे। आधुनिक सभ्यता का विकास विज्ञान के आविष्कार के साथ-साथ हुआ है। यह सभ्यता मनुष्य की इच्छाओं को उसी प्रकार बढ़ाती है, जिस प्रकार उन इच्छाओं की तृप्ति के साधनों को वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मनुष्य को इच्छाओं की वृद्धि की ओर ले जाती है। ऐसी अवस्था में एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य को अपने स्वार्थ का साधन बनाना और उसके परिश्रम का फल चुराना स्वाभाविक है। जब तक समाज के विचारवान लोगों में यह भाव जागृत नहीं होता कि सच्चा सुख दूसरे को सुखी बनाने में है, न कि अपने आप उसका उपभोग करने में; तबतक गरीबों के शोषण और सामाजिक कलह का अन्त न होगा।

सामाजिक बुराइयों का अन्त दो प्रकार से होता है—एक समाजिक के प्रयत्न के द्वारा और दूसरे प्राकृतिक रूप से। नैतिक सुधार का जो नियम व्यक्ति के जीवन में कार्य करता है, वही नियम समाज के जीवन में भी कार्य करता है। समाज के नेता लोगों-द्वारा सामाजिक बुराइयों के अन्त करने का प्रयत्न जनता के सुधार के यत्न में देखा जाता है। जब समाज किसी प्रकार की सामाजिक बुराई से ऊब जाता है, तो उसमें आत्म-सुधार की भावना उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में किसी समाज-सुधारक का उदय होता है। समाज इस प्रकार के समाज-सुधारक का स्वागत करता है और उसके बताए हुए पथ पर चलने की चेष्टा करता है। इस तरह वह अपनी बुराइयों से मुक्त हो जाता है।

पर जब कोई समाज अपने सुधारक की बात नहीं सुनता और पुरानी रुढ़ीपर ही चला जाता है, तो सामाजिक बुराई सामाजिक विस्फोटक का रूप धारण करके बाहर आ जाती है। ऐसी अवस्था में राज्य-क्रान्तियाँ होती हैं।

इन क्रान्तियों के परिणाम-स्वरूप समाज के विवेकशील व्यक्तियों ने यदि समाज की बुराइयों को हटा दिया, तो समाज का कल्याण होता है। परन्तु साधारणतः राज्य अथवा समाजिक क्रान्ति अत्यन्तता की ओर जाती है और नई बुराइयों को जन्म दे देती है। इससे कभी-कभी समाज और भी निर्बल हो जाता है। सामाजिक संगठन दृढ़ हुए बिना समाज में बल नहीं आता।

सामाजिक संगठन की दृढ़ता अपने नेताओं के ऊपर समाज की साधारण जनता की श्रद्धा पर निर्भर है। समाज के नेता ही समाज को भले मार्गपर चला और उसे नष्ट होने से बचा सकते हैं। जब समाज के नेताओं पर सामान्य जनता की श्रद्धा नहीं रहती, तो समाज में मानसिक विषमता अथवा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप समाज निर्बल हो जाता है, फिर उसका नैतिक सुधार होना कठिन हो जाता है।

जब किसी राष्ट्र की ऐसी अवस्था रहती है, तो दूसरा प्रबल राष्ट्र उसे अपने अधिकार में कर लेता है। फिर यह राष्ट्र विजित राष्ट्र की जनता में उचित सुधार करने की चेष्टा करता है। यदि वह ऐसी चेष्टा न करे, तो विजित राष्ट्र की बुराइयाँ ही संक्रामक रोग के समान विजेता में आ जाती हैं; और फिर वे उनका भी पतन कर देती हैं।

प्रश्न

१. नैतिक रोग क्या है? इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न समाज में क्या विचार रहते हैं?

२. मनुष्य के चरित्र के दोष कौन-कौन-से हैं? उनके प्रधान कारण कौन-कौन-से हैं?

३. मनुष्य के चरित्र के दोषों का निवारण किसप्रकार से होता है। इसमें समाज क्या कार्य करता है?

४. दण्ड की नैतिक उपयोगिता के विषय में कौन-कौन से प्रधान मत हैं? किसी व्यक्ति को दण्ड उसके नैतिक सुधार के लिए दिया जाना चाहिये, न कि समाज-व्यवस्था को कायम रखने के लिए—इस विचार की आलोचना कीजिए।

५. दण्ड के विषय में हीगेल महाशय का क्या मत है? इस मत का क्या दुरुपयोग हो सकता है?

६. अपराधी के सुधार के लिए आधुनिक काल में कौन-सा सर्वोत्तम उपाय बताया गया है? यदि सभी लोगों को उनके अपराधों के लिए क्षमा कर दिया जाय, तो इसका परिणाम क्या होगा?

७. "समझदार के लिए क्षमा ही दण्ड है" इस कथन का अर्थ क्या है? समझदार के लिए क्षमा ही दण्ड क्यों हो जाता है?

८. मनुष्य के नैतिक विकास में पश्चाताप और आत्म-भर्त्सना की उपयोगिता को दर्शाइये। अपनी भूल के लिए सदा आत्म-भर्त्सना करते रहना बुरा क्यों है?

९. मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी किस स्थिति में होती है? क्या अज्ञान के कारण किसी व्यक्ति को उसका नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त किया जा सकता है?

१०. पागलों को अपने काम के लिए क्यों जिम्मेदार नहीं माना जाता? और कौन-कौन सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें मनुष्य को अपने कार्य की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त किया जा सकता है?

———

बाइसवाँ प्रकरण

नैतिक प्रगति

नैतिक प्रगति की वास्तविकता—जो व्यक्ति नीतिशास्त्र पर विचार करता है, उसे नैतिक प्रगति में विश्वास करना आवश्यक है। इस प्रकार के विश्वास के बिना नीतिशास्त्र में रुचि रखना संभव ही नहीं। मनुष्य की नैतिक प्रगति की संभावना नीतिशास्त्र की पूर्वमान्यता है और नैतिक बातों में रुचि रखने के लिए संसार में नैतिक प्रगति को देखना आवश्यक है। जो व्यक्ति मनुष्य की नैतिक प्रगति को सभी ओर देखता है, वह समाज और अपने आप की नैतिक प्रगति करने की चेष्टा भी करता है। इसके विरुद्ध जो व्यक्ति नैतिक प्रगति के तथ्य में विश्वास ही नहीं करता, वह निराशावादी होता है। वह न तो समाज की नैतिक उन्नति करने की चेष्टा करता है, और न अपने आप की।

समाज की नैतिक उन्नति हो रही है, अथवा नहीं; इस प्रश्न के विषय में दो प्रकार के प्रधान मत हैं। एक मत के अनुसार समाज की नैतिक उन्नति नहीं हो रही है; और दूसरे मत के अनुसार उसकी नैतिक उन्नति हो रही है। फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी दार्शनिक रूसो महाशय का कथन है कि जैसे-जैसे सभ्यता की वृद्धि होती है तैसे-तैसे नैतिकता का ह्रास होता है। सभ्यता मनुष्य की बुद्धि और चतुराई को बढ़ाती है, वह उसके हृदय को पवित्र नहीं बनाती। सभ्यता की वृद्धि से मनुष्य चालाक, कपटी और स्वार्थी बनता है, सत्यता मनुष्य को दूसरों पर दया तथा करनेवाला, उनसे सहानुभूति रखनेवाला नहीं बनता। सभ्यता मनुष्य की भोग-सामग्री को बढ़ाती है। मनुष्य अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए अनेक प्रकार के साधन पा लेता है, अतएव वह इन्हीं के प्राप्त करने में लगा रहता है। फिर मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है, उसका स्वभाव भी

वैसा ही बन जाता है। वह सदा स्वार्थ के कामों में लगा रहता है। वह दूसरों को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का उपाय तो सोचता रहता है, पर उनसे प्रेम दिखाने के अनेक ढोंग भी रचता है। रूसो महाशय का कथन है कि मनुष्य जब अपनी प्राकृतिक अवस्था में था, तब वह अधिक नैतिकता प्रदर्शित करता था। अतएव यदि वह फिर से अपनी पुरानी अवस्था में चला जाय, तो वैसा ही सीधा-सादा और भला व्यक्ति बन जाय।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि विलियम वर्ड्सवर्थ और साहित्यकार एडवर्ड कार-पेन्टर महाशयों के मत भी इसी प्रकार के हैं। इनके कथनानुसार मनुष्य को अपना जीवन प्राकृतिक बनाना चाहिए। मनुष्य जैसे-जैसे प्रकृति से दूर जाता है, वह तैसे-तैसे अपने जीवन को नैतिक दृष्टि से कलुषित और आध्यात्मिक दृष्टि से दुःखी बनाता है। वर्तमान सभ्यता मनुष्य की नैतिक प्रगति न कर उसको और भी नीचे ले जाती है।

भारतवर्ष में वर्तमान काल को कलियुग का समय बताया जाता है। जिस प्रकार ईसाई लोग अपना स्वर्णयुग भूतकाल में देखते हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के लोग भी अतीत काल में ही सतयुग की कल्पना करते हैं। वर्तमान काल अधर्म का काल है। इसमें जो कुछ अनर्थ हो जाय, वह थोड़ा है। कलियुग के अन्त में प्रलय होगा, तब नई सृष्टि होगी। आधुनिक काल के सुधारक जिन बातों को नैतिकता की प्रगति का लक्षण मानते हैं, उन्हीं बातों को पुरानी विचार-धारा के व्यक्ति उसका विनाशक मानते हैं। वर्तमान काल में जिन बातों को कर्तव्य माना जाता है पुराने विचार के लोग उन्हें अकर्तव्य मानते हैं। अकर्तव्यों की संख्या को बढ़ते हुए देख ये पुराने विचारों के लोग सोचते हैं कि अब समाज का विनाश होनेवाला है।

उक्त प्रकार के विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचरण और चरित्र पर पड़ता है। जो मनुष्य जैसा सोचता है, वह वैसा करता भी है। जिस व्यक्ति के विचार आशावादी होते हैं, वह दूसरों के विचारों को भी आशावादी बनाता और उन्हें उत्साहित करता है। इसके प्रतिकूल निराशावादी चिन्तक न केवल अपने आप दुःखी और अप्रगतिशील होता है, वरन् वह दूसरों को भी वैसा ही बनता है। समाज में प्रगति हो रही है, अथवा नहीं यह बात वास्तविक जगत

की घटनाओं पर उतना निर्भर नहीं है, जितना कि चिन्तन करनेवाले व्यक्ति की मानसिक बनावट पर। अपने आपसे असन्तुष्ट व्यक्ति जगत में असन्तोष के पर्याप्त कारण देखता है; और अपने आप से सन्तुष्ट व्यक्ति जगत की घटनाओं से आशा और प्रोत्साहन पाता है। जो व्यक्ति अपने आप में बाह्य परिस्थितियों से लड़ने की सामर्थ्य की अनुभूति करता है, वह संसार में कठिनाइयाँ तो देखता है; पर वह ऐसा विश्वास रखता है कि वह इन कठिनाइयों को पार कर सकेगा और इन कठिनाइयों को पार करने में उसे समाज और प्रकृति से सहायता भी मिलेगी। पर जो व्यक्ति अपने आप में इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं पाता, वह इसके लिए अपने आपको दोषी न ठहराकर अपनी अप्रगतिशीलता का दोष समाज, काल अथवा प्रकृति के ऊपर मढ़ता है।

नीति-शास्त्र का स्वस्थ लेखक मनुष्यों में यह विचार उत्पन्न करने की चेष्टा करता है कि आदर्श युग भूतकाल में नहीं था, वरन् भविष्य में आनेवाला है और इसके लिए हम सबको मिलकर प्रयत्न करना है। हम अपने कर्तव्यों के पालन में जितनी ही ढिलाई दिखाते हैं, इस आदर्शयुग अथवा स्वर्णकाल के आने में उतनी ही अड़चन भी डालते हैं। संसार की उन्नति करने में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान है, बिना उसके प्रयत्न के संसार तथा समाज उन्नत नहीं हो सकता। मनुष्य वर्तमान समय में जितना स्वार्थी और झूठा है, भविष्य में उससे कम होगा और उसमें आज जितनी पवित्रता है, भविष्य में उससे अधिक पवित्रता होगी। भविष्य को अन्धकारमय और भूत को प्रकाशमय देखना मानसिक बुढ़ापे की निशानी है। जब समाज में मानसिक बुढ़ापा आ जाता है, तो समाज के लोग यह सोचने लगते हैं कि पुराने समय के समान समय अब नहीं आ सकता। इसके प्रतिकूल जिन लोगों के मन स्वस्थ हैं, जो अपने आप में युवावस्था की अनुभूति करते हैं, वे भविष्य को सदा सुन्दर और रम्य ही देखते हैं। उन्हें अतीत के विषय में सोचने की फुरसत ही नहीं मिलती। अतीत के विषय में उतना ही सोचना अच्छा है, जितना वर्तमान काल के कर्तव्यों का पालन करने और भविष्य को सुन्दर बनाने के लिये अवश्यक है।

वर्तमान काल में समाज नैतिक प्रगति कर रहा है, अथवा नहीं; इसका निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान काल में

नैतिक प्रगति के जितने साधन हैं, उतने पहले नहीं थे। इन साधनों का सदुपयोग करना आवश्यक है। साधन स्वयं नैतिकता अथवा अनैतिकता नहीं ला सकते, उनका उपयोग ही नैतिकता अथवा अनैतिकता लाता है। जो शिक्षा आज समाज के साधारण व्यक्ति को उपलब्ध है, वह पहले बहुत से लोगों को प्राप्त नहीं थी। परन्तु शिक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य गिर भी सकता है। अतएव किसी सम्पूर्ण समाज के विषय में यह कहना बड़ा कठिन है कि वह नैतिक दृष्टि से आगे बढ़ा रहा है, अथवा नहीं।

नैतिक प्रगति के कारण—समाज के नैतिक जीवन के तीन अंग हैं—नैतिक आदर्श, सामाजिक संस्थायें और प्रतिदिन का अभ्यास। जब इन तीनों प्रकार के अंगों में कुछ समता रहती है, तो समाज में कोई नैतिक उथल-पुथल नहीं होती। पर जब तीनों में विषमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो समाज में उथल-पुथल मच जाती है। नैतिक प्रगति प्रधानतः दो कारणों से होती है—एक नैतिक जीवन के अंगों में पारस्परिक विरोध से; और दूसरे किसी अंग में अपूर्णता की अनुभूति से। मनुष्य के नैतिक आदर्श और नैतिक संस्था में जब कभी विरोध होता है, तब या तो मनुष्य नये आदर्श का निर्माण करता है, अथवा नई संस्था का। इसी प्रकार जब मनुष्य के दैनिक आचरण से किसी संस्था का विरोध होता है, तो संस्था में परिवर्तन हो जाता है; अथवा आचरणों में। कभी-कभी मनुष्य का नैतिक आदर्श बहुत ऊँचा होता है, पर नैतिक संस्थाएँ नीचे स्तर की होती हैं। ऐसी स्थिति में प्रगतिशील व्यक्ति प्रायः अपनी संस्थाओं को अपने आदर्श के अनुसार बनाने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति का आचरण जब संस्था के नियम के विरुद्ध होता है, तो साधारणतः उस मनुष्य में अपने आचरण के सुधारने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार उसका सुधार भी हो जाता है। इस तरह मानव-समाज की नैतिक प्रगति होती है। पर कभी-कभी मनुष्य का आचरण अच्छा होता है, परन्तु सामाजिक संस्था निम्न कोटि की नैतिकता को प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति में संस्था को बदलने की आवश्यकता उत्पन्न होती है और इस प्रकार के परिवर्तन से भी समाज की नैतिक प्रगति होती है। इसी प्रकार नैतिक संस्था भी नैतिक आदर्श को ऊँचा बनाने का कारण बन जाती है।

कभी-कभी मनुष्य को समाज के नैतिक आदर्श की कमी का भी ज्ञान होता है। वह अपने आदर्श को ही नीचा देख सकता है, अथवा किसी भी नैतिक संस्था अथवा व्यवहार को नीचा जान सकता है। ऐसी स्थिति में भी मनुष्य की नैतिक प्रगति होती है। समाज के नैतिक आदर्शों में प्रगति उत्पन्न करने का काम समाज के महान पुरुषों का होता है। पहले वे अपने आचरण में इन नैतिक आदर्शों को चरितार्थ करते हैं, पीछे समाज उनका अनुकरण करता है। हजरत मूसा ने कहा था कि तुम अपने मित्रों को प्यार करो और शत्रुओं से वैर-भाव रखो; इसके बदले में हजरत ईशा ने कहा कि तुम न केवल अपने मित्रों को प्यार करो, वरन् शत्रुओं को भी प्यार करो। यदि प्रेम करना अच्छा है, तो सभी के प्रति प्रेम करना और भी अच्छा है। अपने नैतिक सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाने से मनुष्य की नैतिक प्रगति होती है। हम अपने सम्बन्धियों के प्रति जो उदारता दिखाते हैं, उसी को जब हम दूसरे लोगों के प्रति दिखाने लगते हैं; तो हम अपनी नैतिक प्रगति करते हैं। मनुष्यों के व्यवहार, उनकी संस्थाओं और उनके आदर्शों में जब एक ही प्रकार का सिद्धान्त काम करता है, तो मनुष्य अपने आप में पूर्णता की अनुभूति करता है। यह उसकी नैतिक प्रगति की स्थिति है। साधारणतः हम देखते हैं कि मनुष्य एक व्यक्ति से एक प्रकार का व्यवहार करता है और दूसरे से दूसरे प्रकार का। इसी प्रकार वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न तरह से व्यवहार करता है। नैतिक दृष्टि से यह अनुचित है। सभी लोगों से व्यवहार करते समय एक ही सिद्धान्त का पालन करना भला है।

नैतिक प्रगति के लक्षण—टामस हिल ग्रीन महाशय के कथनानुसार नैतिक प्रगति के दो लक्षण हैं—(१) नैतिक विचार का गंभीर होना (२) नैतिक कर्तव्यों का विस्तार होना। जब मनुष्य का नैतिक विचार गम्भीर होता है, तो वह किसी भी कार्य को पवित्र हेतु से करता है। मान लीजिए, कि कोई व्यक्ति अपने आचरण में सचाई अथवा उदारता दिखाता है। ये उसके चरित्र के सद्गुण हैं। पर इन गुणों को वह समाज मे प्रतिष्ठा का स्थान पाने के लिये दिखा सकता है, अथवा वे आत्म-सन्तोष प्राप्त करने के लिये उपार्जित किये जा सकते हैं। यदि प्रतिष्ठा प्राप्त करने के हेतु वह इन गुणों का अभ्यास करता है, तो उसका हेतु निम्न कोटि का है, और यदि वह अन्तरात्मा की प्रेरणा के कारण इन

सद्गुणों को दिखाता है; तो उसका हेतु उच्चकोटि का है। फिर नैतिक प्रगति सचाई अथवा उदारता के विचार से भी होती है। सचाई का अर्थ पहले इतना ही होता है कि मनुष्य वही करे, जो वह कहता है, पर पीछे उसका अर्थ यह हो जाता है कि मनुष्य वही करे, जो वह सोचता है। विचार, वाणी और कर्म की एकता का नाम ही सचाई है। इसी प्रकार उदारता न केवल अपने परिचित व्यक्तियों के प्रति दिखाना ठीक है, वरन् अपरिचितों के प्रति भी दिखाना उचित है। उदारता फिर गरीबों को दान देने, बच्चों के प्रति प्रेम दिखाने और हठी लोगों के विचारों का विरोध नहीं करने में है। विचारों की उदारता क्रिया की उदारता से कहीं कठिन वस्तु है। हम अपना धन देकर दूसरे व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकाशित कर सकते हैं, पर जो व्यक्ति हम से विरुद्ध विचार रखता है, उसके प्रति सहानुभूति दिखाना और उसके विचारों को धैर्य से सुनना बहुत कठिन होता है।

जब मनुष्य के नैतिक विचारों में पहले प्रकार का परिवर्तन होता है, अर्थात् जब उसके नैतिक विचार गंभीर हो जाते हैं, तो उसके जीवन में कई ऐसे कर्तव्य उपस्थित हो जाते हैं; जो पहले नहीं थे। यदि कोई मनुष्य अपने प्रति उपकार करनेवाले व्यक्ति की भलाई करने मात्र को अपना कर्तव्य समझता है, तो वह रास्ते में चलते हुए अन्धे को ठीक मार्ग पर कर देना, अथवा उसे इक्के-तांगे से बचा लेना अपना कर्तव्य न समझेगा। कितने ही लोग हमारी कोई व्यक्तिगत बुराई नहीं करते, परन्तु समाज की बुराई करते हैं। जो मनुष्य समाज से तादात्म्य स्थापित नहीं करता, वह ऐसे व्यक्ति को बुराई के कामों से रोकने की चेष्टा न करेगा। समाज के बच्चों के लालन-पालन और उनकी शिक्षा के बारे में सोचना, स्त्रियों और दलित वर्गों के प्रति अत्याचार को रोकने की चेष्टा करना, मजदूरों के शोषण के विरुद्ध प्रचार करना आदि कर्तव्य समाज के साधारण व्यक्ति के ध्यान में नहीं आते। इस प्रकार के कर्तव्य उसी व्यक्ति को सूझते हैं, जिसका नैतिक विचार गंभीर है।

नैतिक प्रगति में बाह्य और आन्तरिक उपकरणों की महत्ता— जड़वादी नीति-शास्त्रज्ञों का मत है कि समाज की नैतिक प्रगति उसके वातावरण में परिवर्तनों का परिणाम है। वर्तमान काल का समाज पुराने समाज से भिन्न

है। वर्तमान काल की समाज-व्यवस्था पुराने ढंग पर नहीं चल सकती। अतएव विशेष प्रकार का परिवर्तन अपने आप हो जाता है। जिसे हम नैतिक प्रगति कहते हैं, वह मनुष्य की आर्थिक उन्नति का परिणाम है। जैसे-जैसे मनुष्य के धनोपार्जन के साधनों और यंत्रों में उन्नति होती है, तैसे-तैसे समाज व्यवस्था भी उसी केसाथ बदलती है। समाज-व्यवस्था के बदलने की आवश्यकता के साथ-साथ नये नैतिक विचारों का भी जन्म होता है। वर्तमान काल में गुलामों की आवश्यकता नहीं है। अतएव गुलामों की प्रथा के विरुद्ध विचार का प्रचार होना सरल हो गया और इसके परिणाम-स्वरूप यह प्रथा भी नष्ट हो गई। भारतवर्ष की अछूत-प्रथा के विषय में भी बहुत-कुछ यही ठीक है। मशीन-युग में सभी मनुष्य एक बराबर काम करने की योग्यता रखते हैं। अतएव उनका समान आदर होना भी स्वाभाविक है। पुराने समय में मनुष्य को जन्म के अनुसार समाज में जो स्थान मिलता था, अब वह मिलना सम्भव नहीं। अतएव हमारा नैतिक विचार भी उदार हो गया है। यहाँ वातावरण ही परिवर्तन का कारण है, और नये नैतिक विचार का आना उसका परिणाम है।

आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों का विचार इस विचार के विरुद्ध है। इनके कथनानुसार मनुष्य के विचार ही उसकी नैतिक प्रगति में प्रधान स्थान रखते हैं। एक ही प्रकार के वातावरण के होते हुए भी समाज के सभी लोगों के नैतिक विचार एक-से नहीं होते। नैतिक विचारों की उत्पत्ति मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन से होती है। अपनी आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवाले व्यक्ति को ही नैतिक विचार आते हैं। ऐसा व्यक्ति समाज के कल्याण के लिए नया मार्ग खोजने की चेष्टा करता है। विशेष वातावरण की उपस्थिति रहने पर भी किसी-किसी समाज में नैतिक उन्नति इसलिए नहीं होती कि मनुष्यों की मनोवृत्ति पुरानी ही बनी है; अथवा उन्हें उचित नेता ही नहीं मिला। किसी प्रकार के वातावरण को मनुष्य के विकास के काम में लाना स्वतंत्र चिन्तन का फल है। वास्तव में मनुष्य का नैतिक विकास उसके हेतुओं की शुद्धता में है, और इन हेतुओं को वहीं तक भला अथवा बुरा कहा जा सकता है, जहाँ तक मनुष्य स्वतंत्र विचार से उन हेतुओं को बनाता है।

नया वातावरण मनुष्य को नया ज्ञान प्राप्त करने और नये कार्य करने का

अवसर प्रदान करता है। परन्तु नया ज्ञान प्राप्त करना और नया कार्य करना मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव मानव-समाज के नैतिक विकास को वातावरण के परिवर्तन का परिणाम मात्र नहीं माना जा सकता। यह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है।

नैतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य—मनुष्य का नैतिक विकास उसे वैयक्तिक जीवन के परे जाने के लिए प्रेरित करता है। अपने स्वार्थ को भूल कर वह दूसरों के साथ अपना जितना ही तादात्म्य कर देता है, वह उतना ही अधिक नैतिक व्यक्ति है। पर जब मनुष्य अपने स्वार्थ को बिलकुल भूल जाता है और वह अपने स्वार्थ-त्याग का अभिमान भी नहीं करता, तो वह व्यक्तित्व की सीमा के बाहर चला जाता है। जब उसमें यह परिवर्तन हो जाता है, तब वह केवल नैतिक व्यक्ति न रहकर नैतिकता के परे चला जाता है। नैतिकता में मनुष्य को अपने सद्गुणों का अभिमान रहता है। जब मनुष्य नैतिकता के पार जाता है, तब उसे अपने सद्गुणों का अभिमान भी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में मनुष्य जो कुछ करता है, वह सहज भाव से करता है। उसकी इच्छा-शक्ति स्वतंत्र रहती है, पर इच्छा-शक्ति की यह स्वतंत्रता वैयक्तिक स्वतंत्रता नहीं रहती; वह अपने आपको संसार को प्राण देनेवाली, उसे व्याप्त करनेवाली सत्ता में मिला देती है।

जब मनुष्य नैतिकता के परे जाता है, तो किसी भले काम को करने से उसे न तो विशेष आह्लाद होता है और न किसी बुरे काम के करने से आत्मग्लानि ही। प्रत्येक प्रकार की बुराई का भला पहलू होता है, और प्रत्येक प्रकार की भलाई का भी बुरा पहलू होता है। अतएव सच्चा ज्ञानी समदर्शी होता है। वह सोचता है कि सब कुछ भला ही है। किसी प्रकार की घटना से वह उद्विग्न-मन नहीं होता। जब संसार का चलानेवाला विवेकशील और सर्व शक्तिमान तत्त्व है, तो उसके होते हुए संसार में किसी प्रकार की बुराई कैसे संभव है। जो घटना आज हमें बुरी दिखाई देती है, वही आगे चलकर भली सिद्ध हो सकती है। यदि हम यह नहीं मानते, तो हम संसार के चलानेवाले के विवेकशील और सर्व शक्तिमान होने में अविश्वास करते हैं; और इस अविश्वास के होते हुए सच्ची नैतिकता संभव नहीं। इस तरह जो विचार मनुष्य में नैतिकता का आधार है, वही विचार उसे नैतिकता के परे भी ले जाता है।

नैतिकता की सार्थकता मनुष्य की परम शान्ति अथवा परमार्थ तत्व के प्राप्त कराने में है।

चेतना की अपूर्णता की अवस्था में ही नैतिकता सम्भव है। अतएव नैतिकता में जो व्यक्ति जितना ही आगे बढ़ता है, अपने आपसे असन्तुष्ट होने का वह उतने ही अधिक कारण देखता है। अपूर्णता की अनुभूति, आत्म-असंतोष और सतत प्रयत्न करने की इच्छा नैतिकता के आधार हैं। ये मनुष्य में तब तक रहते हैं, जब तक वह अपने व्यक्तित्व का अभिमान रखता है। व्यक्तित्व का अभिमान रखते हुए वह पूर्णता प्राप्त करने की पर्याप्त चेष्टा कर लेता है, पर जब वह सफलता प्राप्त करने का कोई लक्षण नहीं देखता; तब अपने व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ देता है। व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ने पर मनुष्य अपने आप में पूर्णता को देखने लगता है।

व्यक्तित्व का यह अभिमान दो प्रकार से छोड़ा जाता है—एक संसार की अनित्यता पर सदा चिन्तन करने से और दूसरे अपने आपको एक सम्पूर्ण सत्ता से अभिन्न मानने से। पहले प्रकार के मार्ग का निदर्शन भगवान बुद्ध ने किया है और दूसरे प्रकार का मार्ग ससार के अन्य धर्म-प्रवर्तकों-द्वारा बताया गया है। नैतिक जीवन का असंतोष मनुष्य को अपने आपको सर्वात्मा में लय कर देने के लिए प्रेरित करता है। जब हम अपने व्यक्तित्व के त्याग को जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं, तब फिर नैतिकता व्यावहारिक जीवन की एक उपयोगी वस्तु मात्र रह जाती है। पूर्णता नैतिक जीवन की वस्तु नहीं, यह आध्यात्मिक जीवन की वस्तु है। यहाँ बहिर्मुखता का अन्त होता है, और मनुष्य अन्तर्मुखी होता है। फिर सभी मूल्य नई दृष्टि से देखे जाने लगते हैं।

प्रश्न

१. "जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, तैसे-तैसे नैतिकता का ह्रास होता है"—रूसो महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये।

२. "वर्तमान समय कलियुग का समय है," इस विचार का नैतिक मूल्य आँकिये।

३. संसार के आदर्शवादी दार्शनिकों ने मानव-जीवन की पूर्णता की क्या कल्पना की है? इसमें नैतिक आचरण का क्या स्थान है?

———

तेईसवाँ प्रकरण

नैतिकता के नए मूल्य

आधुनिक काल में विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल हो रही है। आइंस्टाइन के सापेक्षवाद और अणु की शक्ति की खोजों ने मनुष्य की चिन्तन प्रणाली को एक नया ही रूप दे दिया है। आज हमारे सामने संसार का वह रूप नहीं है, जो आज से सौ वर्ष पूर्व था। वैज्ञानिक विचार-प्रणाली अब नए प्रकार की हो गई है और हम शक्ति के नए-नए केन्द्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इसके कारण समाज-विकास की जो कल्पनाएँ आज से सौ वर्ष पूर्व की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित थीं, वे बदल गईं। कार्लमार्क्स का साम्यवाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित था। उस समय तक किसी के मन में सापेक्षवाद अथवा अणु-शक्ति की कल्पना भी न थी। अब यदि हम साम्यवाद चाहते हैं, तो वह नए प्रकार का ही साम्यवाद होगा।

जिस प्रकार भौतिक प्रकृति के सम्बन्ध में विगत पचास वर्षों में नए-नए आविष्कार हुए हैं, उसी प्रकार मानस-जगत में भी बड़ी ही विप्लवकारी खोजें हुई हैं। इन खोजों के कारण मनुष्य के नैतिक दृष्टिकोण और उसके नैतिक मूल्यों तथा मानदण्डों में आमूल परिवर्तन हो गए हैं। प्राचीन काल में जो मनुष्य अपने जीवन में तपस्या, ब्रह्मचर्य और अहिंसा के अत्यधिक प्रदर्शन करते, अथवा जो इनके विषय में समाज में सदा चर्चा करते रहते थे, उन्हें हम सामान्य मनुष्यों से उच्च मानते थे। हम जानते थे कि दूसरे लोगों की अपेक्षा उन पर अधिक विश्वास किया जा सकता है। आधुनिक काल की मनोवैज्ञानिक खोजों से पता चला है कि हमारा इस प्रकार का विश्वास भ्रमात्मक है। अत्यधिक तपस्या का जीवन भी भोगवादी प्रवृत्तियों की प्रबलता का आवरण मात्र होता है। इस प्रकार के जीवन से भोगवादी प्रवृत्तियों की शक्ति कम न होकर और बढ़ जाती है। जिस प्रकार क्रान्तिकारियों के दमन से उनकी

शक्ति बढ़ती है और उनके असंतोष की भावनाओं के प्रकाशन से उनकी शक्ति घट जाती है, उसी प्रकार जब मनुष्य की भोग-प्रवृत्तियाँ अपने प्रकाशन का कोई मार्ग नहीं पातीं, तो वे उसके अचेतन मन में चली जाती हैं। वे मनुष्य की चेतना से तिरोहित तो हो जाती हैं, परन्तु वे चेतना के स्तर के नीचे सक्रिय बनी रहती हैं। फिर वे सदा चेतना के विरूद्ध षडयंत्र करती रहती हैं। इसी के कारण मनुष्य नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों का शिकार हो जाता है। इसी के कारण मनुष्य के मन में अपराध की मनोवृत्ति भी उत्पन्न होती है। ये प्रवृत्तियाँ कभी-कभी भयानक विस्फोट के रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व में प्रकाशित होती हैं। कठोर तप के जीवन का निर्वाह करनेवाला व्यक्ति यदि सामाजिक नेता हुआ, तो उसके नेतृत्व में रहकर समाज के व्यक्तित्व में विभाजन हो जाता है और इसी के कारण ऐसे नेता की इच्छा के प्रतिकूल ही अनेक प्रकार के सामाजिक दंगे और क्रान्तिकारी आन्दोलन उठ खड़े होते हैं। तपस्वी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के बल से इस प्रकार के असंतोष पैदा करने-वाले विचार और संस्थाओं को दबाते रहते हैं। परन्तु इससे उनकी आन्तरिक शक्ति दिन-प्रतिदिन घटती जाती है और जब चेतना का बल कम हो जाता है, तो सामाजिक आन्तरिक असंतोष अनेक प्रकार के सामाजिक रोग और अपराधों के रूप में अपना वीभत्स अभिनय दिखाने लगते हैं। इस प्रकार इन तपस्वियों के जीवन में भलाई के इरादे कभी-कभी मनुष्य को नरक की ओर भी ले जाते हैं।

जिस प्रकार अत्यधिक इन्द्रिय-निग्रह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए हानिकारक होता है, उसी प्रकार अत्यधिक अहिंसावाद भी मनुष्य के मन में विरोधी प्रवृत्तियों को संचित करता और अन्त में हानिप्रद सिद्ध होता है। बहुत से लोगों के जीवन में तो अहिंसा हिंसात्मक और स्वार्थमयी प्रवृत्तियों का आवरण मात्र रहती है। राजनैतिक नेता इस आवरण को जान-बूझकर काम में लाते हैं। विश्व-शान्ति के संगठन करनेवाले और शान्ति-दिवस मनाने वाले देश ही युद्ध की सबसे अधिक तैयारी करते रहते हैं। संसार के कुशल राज-नीतिज्ञ अपने भीतरी इरादों को, जहाँ तक सम्भव होता है, दूसरों से छिपाते हैं, और उनकी सफलता भी इसी बात पर निर्भर है कि वे अपने इरादों को दूसरों से कहाँ तक छिपा सकें। राज-सत्ताधारी प्रत्येक शासक अथवा संस्था अपने

व्यवहारों में ऊपर से बड़ी ही शिष्ट और भीतर से बड़ी ही कठोर होती है। जो लोग बाहर से कठोर होते हैं, उनका राज्य शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकार का व्यवहार नैतिक कुशलता है। इसके विरुद्ध कुछ लोग अपने सच्चे मंसूबों को जानते ही नहीं। चेतन मन से वे जिस प्रकार अपने आपको तपस्वी, मनस्वी और उदार जानते हैं, उसी प्रकार अपने भीतरी मन से भी वे अपने आप को वही मान लेते हैं। इस प्रकार के लोग कभी-कभी समाज के नेता हो जाते हैं। इन लोगों से समाज को कूटनीतिज्ञों को अपेक्षा अधिक क्षति होती है। दूसरों को धोखा देने से अधिक अपराध अपने आपको धोखा देना है। पहिले प्रकार के आचरण से समाज में अपराध की मनोवृति बढ़ती है तथा बड़े-बड़े विनाशकारी युद्ध होते हैं; परन्तु इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति असहायावस्था में नहीं आती तथा इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन नहीं होता। परन्तु अपने आपको न समझने तथा अपनी सभी वासनाओं की स्वीकृति न करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन एवं उसकी इच्छाशक्ति का ह्रास हो जाता है, जिससे उसके चरित्र की आधार-शिला ही मिट जाती है। इसी स्थिति में मनुष्य के आदर्श बड़े ऊँचे होते हैं, परन्तु उसकी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि यदि किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के जीवन में अत्युच्च आदर्शवादिता देखी जाए, तो हमें उसके भावी आचरण से सतर्क होना चाहिए। निम्न स्तर के आदर्शवादी व्यक्ति की बातों पर विश्वास किया जा सकता है, पर अत्युच्च आदर्शवादी की बातों पर विश्वास करना आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों के प्रति अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है।

जिस प्रकार मनुष्य के प्रकाशित नैतिक मूल्य एक प्रकार के होते हैं और उसकी अचेतन मनोस्थिति दूसरे प्रकार की होती है, उसी तरह उसके किसी काम का ज्ञात हेतु एक प्रकार का होता है और अज्ञात प्रेरणा दूसरे प्रकार की। मनुष्य के कार्य के हेतु (reason) और उसके प्रेरक (motives) की विषमता व्यक्तित्व-विच्छेद के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। मार्टन प्रिंस ने व्यूसान्प नामक एक महिला के व्यक्तित्व के अध्ययन से पता चलाया है कि मनुष्य अपने काम का जो हेतु समझता है, वह हेतु वास्तव में नहीं होता। व्यूसान्प के व्यक्तित्व में तीन व्यक्तित्व एक ही शरीर में थे। एक भला, एक

शैतानी और एक साधारण। इन व्यक्तियों में शैतानी व्यक्तित्व का ज्ञान भले और साधारण व्यक्तित्व को नहीं था; परन्तु शैतान व्यक्तित्व को दूसरे दोनों व्यक्तित्वों के कामों का ज्ञान रहता था। जब साधारण व्यक्तित्व कोई विशेष प्रकार का काम करने लगता था, तो बीच-बीच में शैतान व्यक्तित्व उसके काम को बिगाड़ देता था। कभी-कभी इस तरह साधारण व्यक्तित्व-द्वारा यह शैतान व्यक्तित्व उसकी नैतिक भावना के प्रतिकूल निम्नकोटि का काम करा लेता। इन कामों का ज्ञान जब साधारण व्यक्तित्व को होता था, तो वह महिला आत्म-ग्लानि की अनुभूति करती। पीछे वह शैतान व्यक्तित्व ब्यूसान्प के शरीर में समा जाता और साधारण व्यक्तित्व की खिल्ली उड़ाता। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि मनुष्य बहुत से ऐसे काम करता है, जिनके वास्तविक हेतु का ज्ञान स्वयं उसे भी नहीं रहता।

कभी-कभी मनुष्य के प्रकाशित हेतु बड़े ही उदार होते हैं, परन्तु उसके अप्रकाशित हेतु बड़े ही निम्नकोटि के होते हैं। बहुत से लोग ऊपरी दृष्टि से बालकों को कठोर यंत्रणा में इसलिए रखते और उन्हें इसलिए बार-बार दण्ड देते हैं कि उनका आचरण न बिगड़े। परन्तु इस प्रकार की क्रिया का आन्तरिक हेतु बच्चे के सुखी जीवन के प्रति आन्तरिक ईर्ष्या होती है। कभी-कभी माता का प्यारा लड़का पिता-द्वारा बहुत ही पीटा जाता है। इस ताड़ना का कारण भी ईर्ष्या ही होती है। बहुत से राजनीतिक नेता लम्बे-लम्बे उपवास करते हैं। इनका प्रकाशित हेतु आत्म-शुद्धि होता है; परन्तु उनका अचेतन हेतु अपनी खोई हुई कीर्ति का फिर से प्राप्त करना अथवा दूसरों-द्वारा अपनी बातों का समर्थन पाना ही होता है।

जिन लोगों को धनी लोगों से तिरस्कार मिला है, अथवा धनियों के द्वारा जिनका सम्मान ठुकराया गया है; वे पूँजी-पतियों के विनाश के लिए बड़े व्यापक संगठन करते और राजनीतिक क्रान्तियों में उनकी निर्मम हत्या करते हैं। इन संगठन-कर्त्ताओं के प्रकाशित हेतु बड़े उदार होते हैं। जनता को शोषण से बचाना, गरीबों के अधिकार की रक्षा करना, सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना आदि हेतु उनकी चेतना पर रहते हैं; परन्तु उनके अचेतन मन में धन लोगों से बदला लेने की भावना रहती है।

बहुत से राजनीतिक नेताओं के उच्चस्तर की नैतिकता का जीवन व्यतीत करने का हेतु अपने प्रतिपक्षी को संसार की निगाहों से गिराना ही होता है। विश्व-शान्ति के हेतु से प्रेरणा पाकर काम करनेवाले बहुत से लोगों का आन्तरिक हेतु इन हेतुओं का विरोधी होता है। कायर मनुष्य दया का गुणगान करता है और कृपण मितव्ययिता से चरित्र-निर्माण का मार्ग दर्शाता है। ये ऊपरी हेतु वास्तविक हेतुओं के आभास मात्र होते हैं। अतएव किसी व्यक्ति की नैतिकता का मूल्यांकन करने के लिए किसी व्यक्ति के प्रकाशित हेतुओं को ही नहीं, वरन् उसके अचेतन हेतुओं को भी जानना पड़ेगा। यदि किसी मनुष्य के आन्तरिक हेतु उच्चकोटि के हैं, तभी हम उसके कार्यों को ऊँचा कह सकेंगे। परन्तु इन हेतुओं का ज्ञान करना अत्यन्त कठिन है। इस कार्य में हम दूसरों को जितना धोखा देते हैं, उससे कहीं अधिक अपने आपको देते हैं।

वर्तमान काल में सभी जगह मनुष्य की नैतिकता को उच्चस्तर पर लाने की चर्चा हो रही है। बालकों के चरित्र-निर्माण और जन-साधारण में भाई-चारे के व्यवहार को फैलाने की बातें चारों ओर सुनी जाती हैं। इस प्रकार की चर्चा का साधारण परिणाम मनुष्य के नैतिक स्तर को ऊपर उठाना होता है। परन्तु देखा गया है कि जो लोग इन नैतिक मूल्यों की चर्चा अधिक-से-अधिक करते हैं, उनके जीवन में ही इन मूल्यों की सबसे बड़ी अवहेलना पाई जाती है। अतएव मानव-समाज अब धर्म और नैतिकता दोनों से ही उदासीन होता जा रहा है। जिस प्रकार पिछली शताब्दी में धर्म-चर्चा शोषक वर्ग का ढोंग समझी जाती थी, क्योंकि धर्म-चर्चा के द्वारा ही जनता का अधिक शोषण होता आया है, उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में नैतिक मूल्यों की अधिक चर्चा होना इन चर्चा करनेवालों में नैतिक दिवालियापन का द्योतक है। सचाई और उच्च नैतिक मूल्यों की चर्चा एक दूसरे के सहगामी न दिखाई देने के कारण जो लोग नैतिक मूल्यों की अधिक चर्चा करते हैं, उनके प्रति जनता का सहज अविश्वास हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान यह दर्शाता है कि मनुष्य का नैतिक विकास क्रमशः होता है। मनुष्य पहिले व्यक्तिगत स्वार्थ से ही प्रेरित होकर कार्य करता है, फिर उसके स्वार्थ का एकत्व क्रमिक रूप से परिवार, ग्राम, वर्ग, देश और

मानवमात्र से होता है। जिस व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छाएँ समुचित रूप से तृप्त नहीं हुईं, वह जब ऊँचे नैतिक मूल्यों की चर्चा करता है, तब वह या तो दूसरों को धोखा देता है, अथवा अपने आप को ही। इस प्रकार की चर्चा से दूसरों के साथ-साथ अपना भी अहित होता है। आधुनिक मनोविज्ञान यह प्रेरणा देता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव को समझ कर ही अपने नैतिक आदर्श की स्थापना करे और समाज में प्रचलित सभी नैतिक चर्चाओं को अपने जीवन का नियामक न बना ले। भिन्न-भिन्न व्यक्ति जीवन के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्था में हैं। अतएव उनके नैतिक आदर्श भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि सभी लोगों के सामने एक-सा ही नैतिक आदर्श उपस्थित कर दिया जाए, तो इससे सम्पूर्ण समाज की नैतिक प्रगति न होकर उसके प्रतिगमन के होने की सम्भावना ही है। मनुष्य की नैतिकता की सीमाएँ उसके अपनेपन के भाव से निर्धारित होती हैं। अपनेपन का यह भाव तब तक धीरे-धीरे प्रसरित होता है, जब तक यह सम्पूर्ण विश्व को अपने में समाहित नहीं कर लेता। जिस व्यक्ति का अपनापन परिवार अथवा जाति तक ही सीमित है, परन्तु जो अपने आपको विश्व-मानव के रूप में मान बैठता है, वह अपने व्यक्तित्व में विभाजन की अवस्था उत्पादित कर लेता है। इससे उसकी सामयिक नैतिक प्रगति भले ही हो, किन्तु अन्त में उसका नैतिक पतन अवश्यम्भावी है। अतएव अपने आपको अच्छी तरह समझ लेने के उपरान्त ही हमें अपने नैतिक आदर्श की स्थापना करनी चाहिए।

नैतिकता और आध्यात्म

जिस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें मनुष्य के नैतिक जीवन पर नया प्रकाश डालती हैं और नैतिकता की अभिवृद्धि को संदेहास्पद दृष्टि से देखने के लिए विवश करती हैं; उसी प्रकार गंभीर आध्यात्मिक विचार भी मनुष्य की बढ़ी-चढ़ी नैतिकता को संशयात्मक दृष्टि से देखने के लिए हमें बाध्य करते हैं। मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में देखा गया है कि मानसिक रोगी उच्च नैतिक मूल्यों का पुजारी होता है और वह अपने आपको बहुत बड़ा नैतिक व्यक्ति मानता है। जब तक उसके इस नैतिक अभिमान में कमी नहीं

होती, तब तक उसमें आत्म-स्वीकृति, अर्थात् अपनी कमजोरियों को पहिचानने की क्षमता ही नहीं आती। आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का प्रत्येक प्रकार का अभिमान, चाहे वह धन, बल, बुद्धि चरित्र या नैतिकता का हो, मानसिक रोग है। इस मानसिक रोग के रहते हुए दूसरे मानसिक रोगों की अभिवृद्धि होती है, और मनुष्य जब तक इस मूल मानसिक रोग से मुक्त नहीं होता, तब तक दूसरे मानसिक रोग भी उसे नहीं छोड़ते। इतना ही नहीं, मनुष्य के तथाकथित मानसिक रोग वास्तव में मानसिक रोग नहीं हैं। वे उसके वास्तविक मानसिक रोग अर्थात् अभिमान के देव-दत्त अथवा नैसर्गिक उपचार हैं।

मनुष्य की अन्तरात्मा न्याय-प्रिय और सत्य-परायण है। वह किसी प्रकार के अन्याय अथवा ढोंग को ठहरने नहीं देती। मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्ट, रोग और दुर्घटनाओं से इसीलिए त्रस्त होना पड़ता है, ताकि उसके अन्याय और आत्म-विस्मरण की मनोवृत्ति की समाप्ति हो। अत्युच्च नैतिकतावादी अथवा नैतिकता के विषय में विशेष अभिमान रखनेवाले व्यक्ति का भीतरी मन नैतिकता से शून्य रहता है। मनुष्य को अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों को दबाने के लिए, अपनी स्वार्थ-परायणता के ऊपर पर्दा डालने के लिए, उच्च नैतिकता का अभिमान और अभिनय करना पड़ता है। जब तक मनुष्य इस प्रकार की कृत्रिम नैतिकता के अभिमान से अपने आपको मुक्त नहीं करता, तब तक उसे आध्यात्मिक शान्ति नहीं प्राप्त होती। नैतिकता का यह अभिमान ही मनुष्य के आत्म-दर्शन में सबसे बड़ा बाधक होता है। ऐसे तो प्रत्येक प्रकार के अभिमान मनुष्य के मन में आन्तरिक खिंचाव उत्पन्न करते और उसे आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने में बाधा डालते हैं; परन्तु चरित्र अथवा नैतिकता का अभिमान मनुष्य के आन्तरिक जीवन में जितना खिंचाव उत्पन्न करता और जीवात्मा के परमात्मा से मिलने में जितनी बाधा डालता है, उतनी बाधा और किसी प्रकार का अभिमान नहीं डालता। परमात्मा की प्राप्ति अथवा शाश्वत शान्ति मनुष्य को तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक वह सर्वथा अभिमान-मुक्त नहीं होता।

"चाखन चाहे प्रेम रस, राखन चाहे मान।
एक म्यान में दो खड़ग, देखा-सुना न कान॥"

संसार के सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य मनुष्य को सभी प्रकार के अभिमानों से मुक्त करना ही है। सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधनाएँ मनुष्य के अभिमान के निराकरण-हेतु होती है। भक्त को आन्तरिक शान्ति तभी प्राप्त होती है, जब वह परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है। क्राइस्ट ने कहा है कि जब तक मनुष्य एक छोटे बालक के समान अपने आपको नहीं बना लेता; तब तक वह भगवान को कभी प्राप्त न करेगा। अर्थात् भगवान को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय अपने आपको निरभिमान बनाना है।

सच्चा भगवद्भक्त अपने आपको अवगुणों का पिटारा मानता है। वह अन्तर्दर्शन से अपने अचेतन मन में उपस्थित अनेक प्रकार की वासनाओं का साक्षात् कर लेता है। फिर वह परमात्मा की शरण इसलिए खोजता है, जिससे कि वह अपने दुर्गुणों से मुक्त हो जाए। जो मनुष्य अपने आपको जितना ही अधिक सच्चे मन से दुर्गुणों का पुंज देखता है, वह भगवत् सहायता की आवश्यकता उतनी ही अधिक अनुभव करता है। ऐसे ही मनुष्य को इस प्रकार की सहायता की अन्तरानुभूति होती है।

आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ गम्भीर चिन्तकों का मत है कि संसार का सामान्य-से-सामान्य धर्म जितने मानसिक रोगों का उपचार करता है, उतने मानसिक रोगों का उपचार संसार के सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर नहीं करते। चार्ल्स युंग और ब्रील दोनों का ही मत है कि यदि मनुष्य को सच्चा धर्म पहिले से ही हो जाए, तो उसे किसी प्रकार का मानसिक रोग होगा ही नहीं। मनुष्य को मानसिक रोग इसीलिए होते हैं कि वह अभिमान-वश अपने आपको कुछ-का-कुछ समझने लगता है। रोग अनेक प्रकार के कष्ट देकर मनुष्य को वस्तु-स्थिति से परिचित कराता है। मानसिक चिकित्सा करते समय देखा गया है कि कभी-कभी रोगी चिकित्सक के समक्ष आत्म-स्वीकृति करते समय बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगते हैं। उनके इस प्रकार के अभिमान-त्याग से उनका मानसिक एकीकरण क्षण भर में ही हो जाता है। जब तक मनुष्य अपने अभिमान को रखे रहता है, तब तक वह अपनी

अन्तरात्मा से विलग रहता है। जब मनुष्य अपने अभिमान को खो देता है, तब अन्तरात्मा उसे अपनी गोद में उठा लेती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य की नैतिकता उसके दूसरे लबसा के समान उसके सिर का बोझ है। यह बोझ उसके जीवन की प्रगति का साधक भी होता है, परन्तु सभी प्रकार के बोझ को उतार कर फेंके बिना मनुष्य आध्यात्म की उच्च चोटी पर नहीं पहुँच पाता—

"सैंया के घर दूर हैं, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न ठहरे पिपीलिका, तेली लादे बैल।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने पाप और पुण्य दोनों को ही लोहे और सोने की बेड़ियाँ माना है।

जिसे पुण्य का अभिमान होगा, उसे पाप का भी अभिमान अवश्य ही रहेगा। चेतन मन के पुण्य के अभिमान का पूर्तीकरण अर्थात् नैतिक जीवन के अभिमान का पूर्तीकरण मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित पाप-कृति-जनित आत्म-ग्लनि की भावना करता है। अर्थात् जिस मनुष्य को पुण्य-संचय के लिए जितनी ही अधिक बेचैनी रहती है, उसके अचेतन मन में उतनी ही अधिक किसी पाप-कृति की आत्म-ग्लानि अथवा बेचैनी उपस्थित रहती है। संसार के अधिकतर सुधारकों के जीवन में देखा गया है कि वे अपनी पाप-कृति जन्य घटनाओं के विस्मरण करने के लिए ही अपने एवं जनता के नैतिक सुधार में लगे रहते हैं। जिस मनुष्य को आत्म-सुधार और आत्म-सेवा की सबसे अधिक आवश्यकता रहती है, वही पर-सेवा और परोपकार के काम में व्यस्त रहता है, ताकि अपने नैतिक कार्यों के अभिमान से वह अपने आपको भुलाए रक्खे। मनुष्य का इस तरह का आचरण और उच्च नैतिक मूल्यों की पुकार आत्म-भर्त्सना को भुलाने के साधन मात्र होते हैं।

आध्यात्मिक जगत का सिद्धान्त है कि मनुष्य दूसरे को धोखा देने में भले ही समर्थ हो जाए, पर वह अपने आप को बहुत दिनों तक धोखे में नहीं रख सकता। मनुष्य की अन्तरात्मा आत्म-शुद्धि के अनेक उपाय रच लेती है और मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्ट देकर उसके मन को साफ करती है। जब मनुष्य के मन में कुछ निर्मलता आ जाती है, तभी उसके मन में आत्म-

समर्पण का भाव आता है। जिस मनुष्य के मन में परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण का भाव आ गया, उसके जीवन के मूल्यों का आमूल परिवर्तन हो जाता है। परमात्मा के प्रति अपने आपको अर्पित किए हुए व्यक्ति के दुर्गुण उसी प्रकार सद्गुण बन जाते हैं, जिस प्रकार अभिमानी व्यक्ति के सद्गुण दुर्गुण हो जाते हैं।

उपर्युक्त कथन का इतना ही तात्पर्य है कि मनुष्य के नैतिक मूल्य जीवन के सर्वोच्च मूल्य नहीं हैं। बड़े-से-बड़े प्रसिद्ध नैतिक व्यक्ति का जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से अति निम्न हो सकता है और जो व्यक्ति जीवन भर दुराचारी रहा है, अन्तरात्मा की अनुभूति से वह भी एकाएक महात्मा बन सकता है। शबरी, गणिका और सदन कसाई के नैतिक जीवन निम्नकोटि के थे, परन्तु उनके आध्यात्मिक जीवन बड़े ही उच्च थे। अंगुलिमाल, वाल्मीकि तथा सेंट पाल एकाएक संत बन गए। यह अपने अभिमान से मुक्त होने का ही परिणाम है। वास्तव में नैतिक जीवन की पूर्ति आध्यात्मिक जीवन में होती है और मनुष्य को आध्यात्मिक शान्ति तभी प्राप्त होती है, जब वह नैतिकता के अभिमान से भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की निरभिमानता मनुष्य को सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों से मुक्त कर देती है।

नैतिक मूल्यों का पारमूल्यीकरण*

नीतिशास्त्र मनुष्य को नैतिक मूल्यों की पहचान कराता और उन्हें उनकी प्राप्ति का उपाय बताता है। प्रत्येक प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है और नैतिक मूल्य की प्राप्ति का अर्थ तो प्रयत्न में ही है। जहाँ-जहाँ मनुष्य के मन की अवस्था प्रयत्न की रहती है, वहाँ-वहाँ उसे अपने आप में कमी की अनुभूति होती रहती है। कमी और प्रयत्न एक दूसरे के सहगामी हैं। जो मनुष्य अधिक धन प्राप्ति के लिए जितना ही अधिक यत्न करता है, बहुत धन संचित कर लेने पर भी उसे धन की कमी की अनुभूति भी उतनी ही अधिक होती है। जो विद्या-प्राप्ति का यत्न करता है, उसे खूब विद्या प्राप्त कर लेने पर भी अपनी विद्या में कमी की अनुभूति होती है। इसी

* Trance—valuation of moral values.

प्रकार जो व्यक्ति अनेक प्रकार के नैतिक सद्गुणों का संचय करता है, उसे अपने नैतिक सद्गुणों की कमी का अनुभव भी उसी अनुपात में होता है। यदि यत्न करनेवाले किसी व्यक्ति को धन, विद्या या सद्गुणों की कमी का अनुभव होना बन्द हो जाए, तो इन मूल्यों का उसके पास संचित होना भी बन्द हो जाए। ऐसी मनोदशा में उसके इन मूल्यों का ह्रास होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य का किसी प्रकार का अभिमान तत्सम्बन्धी विनाश की पूर्वावस्था है। अभिमान पतन का मूल कारण है। ‡

उपर्युक्त मानसिक अवस्था मानसिक असंतोष की अवस्था ही है। मनुष्य चाहे यत्न की अवस्था में हो, चाहे अभिमान की अवस्था में, वह मानसिक खिंचाव अथवा असंतोष की अवस्था में ही रहता है। यत्न की अवस्था में यह असंतोष मनुष्य की चेतना के समक्ष उपस्थित रहता है और अभिमान की अवस्था में यह असंतोष चेतना के नीचे चला जाता है; अर्थात् व्यक्ति ऊपर से तो संतुष्ट रहता है, पर भीतर मन में वह क्षुब्ध रहता है और उसे इस क्षोभ का ज्ञान भी नहीं रहता। किन्तु सभी प्रकार के यत्नों का लक्ष्य कमी के अनुभव को बढ़ाना ही नहीं है, वरन् इस अनुभूति को मिटाना भी है। यदि मनुष्य का विवेक यह जान ले कि किसी प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के लिए वह कितना भी यत्न क्यों न करे, उसकी कमी की अनुभूति कभी भी समाप्त नहीं होगी, तो उसका यत्न करना ही अर्थ-हीन हो जाए। अतएव पूर्णता-प्राप्ति की संभावना यत्न करने की मनोस्थिति की प्रथम आवश्यकता है।

यह पूर्णता की अनुभूति किस प्रकार होती है, जिसकी मान्यता नैतिकता-सम्बन्धी यत्न को सार्थक बनाती है। इस पूर्णता की अनुभूति में मनुष्य के व्यक्तित्व का विलीनीकरण समष्टि-भाव में हो जाता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व को एक व्यापक तत्त्व का अंग मानने लगता है, तब वह अपने थोड़े-से यत्न से भी उतना ही सन्तुष्ट रहता है, जितना भारी यत्न से। किसी भी प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के विषय में वह निर्लिप्त-भाव से चेष्टा करता है। जब कवि मिल्टन को पैंतीस साल में ही अंधापन आ गया और जब उसे इस बात की ग्लानि हुई कि उसने इतनी प्रतिभा रखते हुए भी समाज की कोई मौलिक

‡ Pride goes before a fall.

सेवा नहीं की, तब उसे इस विचार ने शान्ति दी कि परमात्मा को न तो मनुष्य की किसी सेवा की आवश्यकता है और न उसके दिए हुए सद्गुणों के प्रदर्शन की। परमात्मा का काम अपने आप लाखों-करोड़ों जीवधारी कर रहे हैं। कुछ लोग उसके काम को करने के लिए सदा दौड़ते रहते हैं। वे लोग भी परमात्मा की मौलिक सेवा करते हैं, जो उसके दरवाजे पर खड़े होकर उसकी आज्ञा की अपेक्षा करते हैं। जब मनुष्य इस भाव से थोड़ा भी काम करता है, तब उसके नैतिक यत्न का विशेष अर्थ हो जाता है। यहाँ नैतिक मूल्यों का पारमूल्यीकरण हो जाता है। नैतिकता की सच्ची मूर्त्ति आध्यात्मिक भाव के जागरण में है। नैतिक यत्न करनेवाला संत जब तक अपने आपको परमात्मा के प्रति अर्पित नहीं करता, तब तक उसे मानसिक असंतोष बना ही रहता है और किसी असंतोष को हटाने के लिए वह जितना ही यत्न करता है, वह असंतोष उतना ही बढ़ता जाता है। जब मनुष्य इस प्रकार के यत्न से असंतोष के मिटने की संभावना नहीं देखता, तब वह एक ऐसे तत्त्व की कल्पना करता है, जो अपने आप में सभी प्रकार से पूर्ण है। इस प्रकार के तत्त्व की कल्पना ही उसके मन में पूर्णता का अनुभव कराती है। यहाँ मनुष्य की कल्पना और उसकी आत्मा दो नहीं रहते, वरन् एक ही हो जाते हैं।

इमरसन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, कवि और संत के लिए सभी वस्तुएँ भली और पवित्र हैं, सभी घटनाएँ लाभदायक हैं, सभी दिन दिव्य और सभी मनुष्य दैविक हैं।* यह मनोस्थिति पूर्णता की अनुभूति को चित्रित करती है। यह स्थिति आध्यात्मिक भाव से उत्पन्न होती है। इस स्थिति की प्राप्ति में नैतिक यत्न का निराकरण नहीं होता, किन्तु नैतिक यत्न सहज रूप से होने लगता है। सच्चा संत वह है, जिसको लोक-कल्याण के कार्य करने में किसी प्रकार के मानसिक खिंचाव की अनुभूति नहीं होती। जो लोक-कल्याण अथवा नैतिक कार्य इसी सहज भाव से करते हैं, जिस सहज भाव से सामान्य पुरुष अपने नैसर्गिक कार्य करते हैं और उन्हें इन कामों के वैसे ही

*To the philosopher, to the poet, and to the Sant, all things are friendly and sacred, all events profitable, all days holy, and all men divine.

सहज आनन्द की अनुभूति होती है, जिस प्रकार का सहज आनन्द प्राकृतिक प्रवृत्तियों की तृप्ति में सामान्य मनुष्य को होता है। इस तरह संत पुरुष न तो नैतिक यत्न से उदासीन ही रहता है और न वह नैतिक मूल्यों का निर्मूल्यीकरण ही करता है; वरन् वह नैतिक कार्य करते हुए भी उन कार्यों का अभिमान नहीं करता। जैसा कि कृष्ण भगवान ने कहा है कि संसार में अर्थात् तीनों लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझे प्राप्य न हो; फिर भी मैं सब समय हा काम में लगा रहता हूँ। महात्मा अथवा तत्त्वदर्शी को अपने काम से अपना कोई लाभ नहीं होता। उसके काम से दूसरों का लाभ होता है। तत्त्वदर्शी की क्रियाएँ दूसरे लोगों को काम करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं और इस तरह सामाजिक संगठन और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा बनी रहती है। इस प्रकार की मनोदशा की प्राप्ति नैतिकता की अवहेलना से नहीं उत्पन्न होती और न नैतिक यत्न से उदासीन रहने से ही; वरन् यह नैतिक अभ्यास को इतना बढ़ाने से होती है कि वह सहज रूप से बिना यत्न के होने लगे। जब नैतिकता मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाती है, तब मनुष्य नैतिकता के परे चला जाता है और वह दैविक व्यक्ति बन जाता है।

नैतिकता की अनिवार्यता

उपर्युक्त पंक्तियों में नैतिकता के विषय में हमने जो कुछ कहा है, उससे नैतिकता की व्यर्थता न सिद्ध होकर उसकी अनिवार्यता ही सिद्ध होती है। मनुष्य अपने जीवन को नैतिक बनाए बिना ऐसे किसी तात्विक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता, जो उसे स्थायी शान्ति प्रदान करे। इमेनुअल कान्ट ने तत्त्व-ज्ञान में बौद्धिक विचार की कमी को दिखाकर यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि तत्त्व अपरोक्ष अनुभूति की वस्तु है और इस अपरोक्ष अनुभूति का आधार मनुष्य का नैतिक जीवन ही है। जिस व्यक्ति को नैतिक आचरण के विषय में श्रद्धा नहीं रहती, नैतिकता में जिसका न तो निश्चित मत रहता है और न जिसका आचरण नैतिक नियमानुकूल है; उसे तत्व-दर्शन नहीं होते हैं। मनुष्य की नैतिकता की आवश्यकता ही यह दर्शाता है कि उसके नैतिक जीवन के

परे कोई आध्यात्मिक जीवन भी है। अतएव तात्विक दृष्टि से मानव-जीवन के लिए नैतिकता अनिवार्य है।

नैतिकता की अनिवार्यता आधुनिक मनोविज्ञान की गम्भीरतम खोजों से भी प्रमाणित होती है। चार्ल्स युंग ने यह बताने की चेष्टा की है कि नैतिकता मनुष्य में बाहर से नहीं आई। यह सामाजिक संस्कारों का परिणाम नहीं, वरन् मनुष्य नैतिकता को वंश-परंपरागत नियम से उसी प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार वह अपनी मूल प्रवृत्तियों तथा अन्य योग्यताओं को प्राप्त करता है, और जिस प्रकार मूल प्रवृत्तियों के अविचार-पूर्ण दमन से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार जन्म-जात नैतिक संस्कारों के प्रतिकूल आचरण करने से भी मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। नैतिकता की अवहेलना करके कोई भी मनुष्य आन्तरिक मन से सुखी नहीं रह पाता। विलियम स्टेकिल ने भी अपनी "प्रेक्टिस आफ साइकोथ्रेपी" नामक पुस्तक के "डिज़ीज़ेस आफ़ कांशेंस" नामक प्रकरण में अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि मनुष्य को बड़े-बड़े मानसिक और शारीरिक रोग अन्तरात्मा की आवाज के प्रतिकूल आचरण करने से उत्पन्न होते हैं। जो लोग अन्तरात्मा के प्रतिकूल व्यभिचार, चोरी अथवा हिंसा करते हैं, उन्हें अन्तरात्मा अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग देकर पीड़ित करती है।

जहाँ मानव-जीवन के विकास में सच्ची नैतिकता की इतनी अधिक आवश्यकता है, वहाँ यह भी सही है कि दिखाऊ नैतिकता मनुष्य के लिए बड़ी हानि-प्रद होती है। दिखाऊ नैतिकता एकांगी होती है और वह मनुष्य के अभिमान को बढ़ाती है। इससे मनुष्य को समाज का सम्मान तो प्राप्त होता है, परन्तु इससे अन्तरात्मा की शान्ति नहीं प्राप्त होती। अन्तरात्मा की शान्ति की दृष्टि से किया गया नैतिक आचरण ही निःश्रेय की प्राप्ति में मनुष्य का सहायक होता है। इसी के लिए हमें इसकी खोज करनी पड़ती है कि सच्ची नैतिकता क्या है और इसे व्यवहार में कैसे उतारा जाए।

Kalyan Regional Library
Acc. No. 1053

———